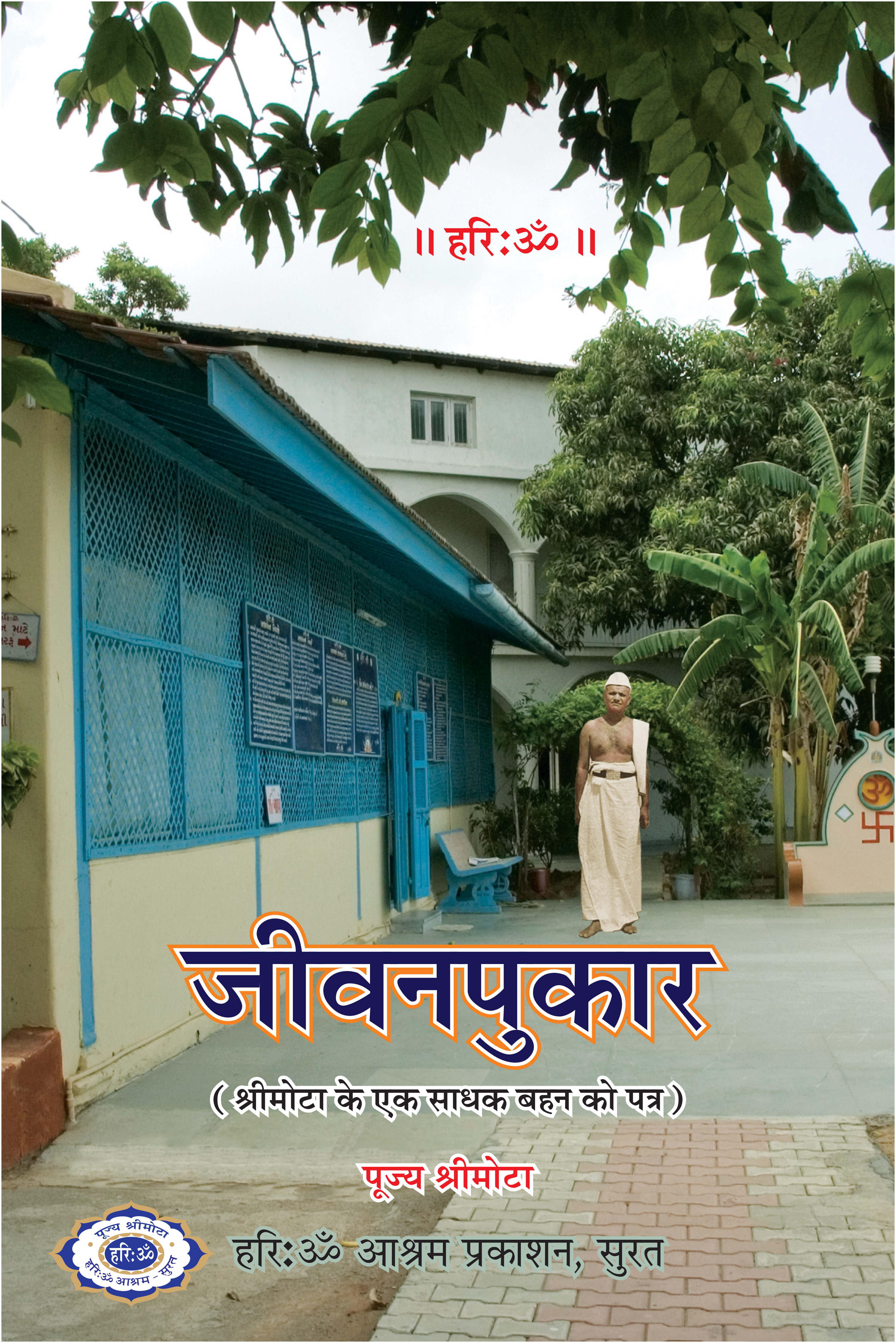

॥ हरिःॐ ॥

जीवनपुकार

(श्रीमोटा के एक साधक बहन को पत्र)

पूज्य श्रीमोटा

हरिःॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरि:ॐ ॥

जीवनपुकार

(गुजराती पुस्तक 'जीवनपोकार')

(श्रीमोटा के एक साधक बहन को पत्र)

: संपादक (गुजराती) :

हेमन्तकुमार नीलंकठ

नंदुभाई शाह

: संपादक (हिन्दी) :

रजनीभाई बर्मावाला

: अनुवादक :

डॉ. कविता शर्मा 'जदली'

हरि:ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

❑ **प्रकाशक :**
हरि:ॐ आश्रम, कुरुक्षेत्र श्मशानघाट, जहाँगीरपुरा,
सूरत–३९५००५, भ्रमणभाष : +९१ ९७२७७ ३३४००
Email : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सूरत – नडियाद

❑ प्रथम संस्करण : २०२३

❑ पृष्ठ संख्या : ५६०

❑ प्राप्तिस्थान : हरि:ॐ आश्रम, सूरत – ३९५००५.
हरि:ॐ आश्रम, नडियाद–कपडवंज रोड,
जूना बिलोदरा, पो. बो. नं. ७४, नडियाद–३८७००१
भ्रमणभाष : ७८७८० ४६२८८

❑ अक्षरांकन : अर्थ कॉम्प्यूटर,
२०३, मौर्य कोम्प्लेक्ष, सी. यु. शाह कॉलेज के सामने,
इन्कमटैक्स, अहमदाबाद–३८००१४.
भ्रमणभाष : ९३२७० ३६४१४

❑ मुद्रक :
साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड, अहमदाबाद–३८००२२
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरिः ॐ ॥

लेखक के दो बोल

(प्रथम संस्करण)

गुजराती

इस पुस्तक में जो पत्र छपे हुए हैं, उसकी प्रस्तावना पाने के लिए नारेश्वर के पूज्य श्रीरंग अवधूत महाराजश्री को लिखा था । उनकी ओर से लिखा हुआ आया कि 'प्रस्तुत लेखक के लिखे हुए को किसी भी प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं है । लेखक के जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के वे स्वयं संपूर्ण सच्ची तरह से जानकर हैं' । उस कारण से प्रस्तुत पुस्तक में किसी की भी प्रस्तावना को न लेने को उचित माना है । फिर इसके अलावा, इस लेख में आध्यात्मिक जीवन की अमुक ऐसी हकीकतें हैं कि जिसका कोई अनुभवी योग्य जानकर हो, वही उसकी प्रस्तावना लिखने का अधिकारी हो सके ।

इस पुस्तक के पत्रों एक ही व्यक्ति को संबोधित करके लिखे हुए हैं, तथापि वे मात्र अकेली उसी व्यक्ति को उद्देशित है; ऐसा कुछ नहीं है । लेखक के जीवन के साथ साधनाभाव से संलग्न **जीवों** को संबोधित करके पत्र लिखे हुए हैं । अमुक बार परोक्ष रूप से कहा हुआ हमें अधिक असरकारक भी सिद्ध होता है । जो जो ऐसे **जीव** जब वह लेख पढ़ेंगे और उसमें का अमुक अमुक मुद्देवाला लेख स्वयं को ही संबोधित है ऐसा जब उसे समझ आएगा, तब उसे वह पढ़कर गति प्रकट करने हेतु आनंद पैदा होगा ।

इन पत्रों में जो अमुक अद्‌भुत घटनाओं का उल्लेख है, वह हकीकत सत्य होने पर भी वैसा कभी भी पुनः पुनः वैसा बन सकना चाहिए ऐसा उसका कोई नियम नहीं होता है । यद्यपि ऐसा सब कुछ यद्वातद्वारूप से हेतु बिना नहीं होता है । उसकी भी कोई गूढ़ सूक्ष्मकार्य कारणपरम्परा तो होनी चाहिए । उसकी कार्य कारणपरम्परा जाननेवाले

भी विरले होते हैं । ऐसी अद्‌भुत पर सत्य घटनाएँ जब घटित होती हैं, तब जिस **जीव** को उस उस पल वे वे हकीकतों उसको सत्य स्वरूप में समझना होता है और वह योग्य ज्ञानभाव से हृदय में हृदय से समग्र यथार्थ स्वीकार करने का यदि हो पाता है, तो वैसे **जीव** का ऊँचा उठना सरल हो जाता है । जिस **जीव** से जीवन में प्राप्त होती ऐसी उत्तम कृपा के अवसरों को पहचानना, समझना उसके यथार्थ गूढ़ भावार्थ से स्वीकार करना नहीं हो पाता, उस **जीव** को अभी अंतर की आँख खुली नहीं है ऐसा निश्चित समझना । पुस्तक में बतलाये ऐसे चमत्कारिक प्रसंग अपने जीवन में प्रत्यक्षरूप से हुए अनुभव करना वह भी कोई मामूली बात नहीं है । कृपा होने पर भी कृपा को उसके वैसे योग्य भावार्थ में जब हृदय से स्वीकार नहीं की जाती, तब कृपा को व्यक्त होने के कारणों को वह अपने आप ही होकर वह स्वयं (वैसा **जीव**) अफल बना देता होता है, वह भी एक विलकुल सत्य हकीकत है, भले ही फिर वैसा उन उन **जीवों** से उसके वास्तविकपन में स्वीकार न हो जाता हो !

इस पुस्तक का नाम 'जीवन-पुकार' रखा है, यह बिलकुल यथार्थ है । कारण कि जीवनविकास को भावना के हेतु जो जो स्वजन मिले हुए हैं, उन उनको चिताने के लिए हृदय के सालते गहरे दर्द के साथ जो वाणी उच्चरित हुई है, उसे वे वे स्वजन संपूर्ण भाव से सोचें, समझें और उसे यथार्थ आचरण में लाने को प्रभुकृपा से करके ज्ञानभक्तिभाव से जाग्रत संपूर्ण तनतोड़ प्रयत्न करे ऐसा इन पत्रों के लिखने के पीछे का उद्देश्य है । सत्य सत्य होने पर भी उसका जब हृदय में हृदय से उसके योग्य भावार्थ में ज्ञानपूर्वक **जीव** से पूरा स्वीकार नहीं हो पाता, तब वह उसके जीवन में कोई भाग निभा नहीं पाता । इस हकीकत को प्रत्येक साधक-स्वजन हृदय में हृदय से समझे ऐसी प्रार्थना है ।

वसंतपंचमी — **मोटा**

हरिजन आश्रम,
अहमदाबाद-१३ ता. ८-२-१९५४

॥ हरि:ॐ ॥

लेखक के दो बोल

(द्वितीय संस्करण)
गुजराती

ता. ८-२-१९५४ के समय में यह 'जीवनपुकार' प्रकाशित हुई तब मुझे प्रत्यक्ष नहीं होना था ।

इस पुस्तक में किसी एक महात्मा की हकीकत लिखी हुई है, वह महात्मा दूसरा कोई नहीं, परन्तु **यह जीव** ही है । अब जीवन के अंतिम किनारे पर हूँ, तब मुझे श्रीप्रभुकृपा से प्रत्यक्ष होना, ऐसा हृदय में हृदय से लगने से इतना योग्य खुलासा किया है,

इस पुस्तक में उस महात्मा की जो जो घटित हुई हकीकतें लिखी हुई हैं, वे वे प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले अभी सभी जीवित हैं । यह हकीकत उसके संपूर्ण यथार्थपन से लिखी है । कहीं भी बिलकुल अतिशयोक्ति नहीं है ।

अन्य इस विषय के बारे में प्रथम प्रकाशन के लेखक के 'दो बोल' अन्तर्गत जो भी सब लिखा हुआ है ।

हरि:ॐ आश्रम, — **मोटा**
कुरुक्षेत्र, पो. रांदेर,
ता. २८-१०-१९७१

॥ हरिः ॐ ॥

निवेदन

(प्रथम संस्करण – हिन्दी)

पिछले कई वर्षों से हमारे हरिःॐ आश्रम सूरत और नडियाद के मौनमंदिरों में बिनगुजरातीभाषी साधकों अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आने लगे हैं । उन साधकों श्रीमोटा के अमूल्य आध्यात्मिक साहित्य द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर सके इसलिए श्रीमोटा का आध्यात्मिक साहित्य जो मूल गुजराती भाषा में प्रकट हुआ है, उसका हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावाला ने थोड़े वर्ष पहले रखा था । उस अनुसार वह कार्य लगभग सन् २००८-२००९ से शुरू किया हुआ है । ट्रस्ट के अन्य कार्यों की जवाबदारियाँ निभाते निभाते ट्रस्टी श्री रजनीभाई ने 'विद्यार्थी मोटा का पुरुषार्थ', 'मौनमंदिर का मर्म', 'मौनमंदिरम में प्रभु', 'देवासुर संग्राम', 'जीवित नर सेएँ' आदि पुस्तकों स्वयं अनुवाद किये हुए हैं । श्रीमोटा के आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने में श्री भास्करभाई भट्ट, इन्दौर (म. प्र.) (वर्तमान में स्वर्गस्थ) और डॉ. कविता शर्मा, 'जदली' पीएच. डी. अहमदाबाद का सहकार भी मिला है । अभी अभी पिछले दो वर्ष से इस कार्य को शीघ्रता से करने के लिए श्रीमोटा कृपा से श्रीमोटा के एक प्रेमी स्वजन श्री निरंजनभाई चंदुलाल पटेल ने उत्साहपूर्वक एक धक्का और माारा है कि श्रीमोटा का पूरापूरा गुजराती आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराकर ट्रस्ट की वेबसाईट www.hariommota.org पर

इ-बुक के रूप में सभी के लिए उपलब्ध कराना । श्री निरंजनभाई ने केवल शाब्दिक धक्का नहीं लगाया किन्तु इस कार्य के लिए रुपये चालीस लाख से कुछ अधिक की धनराशि भी श्रीमोटा के चरणकमल में अर्पित कर दी है और तो और क्या इससे अधिक खर्च यदि हो तो और अधिक धनराशि देने की तैयारी बताई है । उनका असीम आभार हमारी सीमित शब्दावलि से व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं । इसका बदल चुकाने का सामर्थ्य तो केवल श्रीमोटा में ही है और वै ही चुकायेंगे ऐसी आपश्री के चरणकमल में हमारी प्रार्थना है ।

श्रीमोटा एक अत्यंत गरीब रंगरेज कुटुम्ब से आते हैं । आपश्री ने स्वप्रयत्न से और अपने समर्थ श्रीसद्‌गुरु श्री केशवानंदजी धूनीवाले दादा, (सांईखेडा-खंडवा (म. प्र.)) के आध्यात्मिक मार्गदर्शन से संसार का त्याग किये बिना लगभग सत्रह वर्ष कठिन साधना की और सन् १९३४ में सगुण ब्रह्म और सन् १९३९ में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार किया ।

श्रीमोटा इसके बाद अपने आप स्वयं आ मिले ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु साधकों को केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष में या परोक्ष रूप में पत्रों द्वारा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देते थे । यह पुस्तक 'जीवनपुकार' एक साधक बहन को लिखे हुए पत्रों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, जो हम जिज्ञासु, मुमुक्षु साधकों के करकमल में रखते हैं । और आशा करते हैं कि वे सब अपने अपने सामर्थ्य अनुसार लाभ प्राप्त करें ।

दि. २६-१-२०२३ **ट्रस्टीमंडल**

(वसंतपंचमी - श्रीमोटा का दीक्षा-दिन) हरि:ॐ आश्रम, सूरत

‘मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ !’

‘जीवनदर्शन’, १०मी आ., पृ. ३८२

–मोटा

बिदाई व्यथा का सदुपयोग

उपयोग वही ज्ञान है । जिसतिस में उपयोग के हेतु का ज्ञान हृदयस्थ दृढ़ करके बरतें, तो ही उसमें से नया बल जीवन में प्रकट होता है । उत्तम में उत्तम हो, परन्तु यदि परंपरा अनुसार हुआ करे तो उसमें से कुछ चेतन नहीं पा सकते अथवा प्राप्त नहीं कर सकते । प्रियजन की विदाई किसकी ? विदाई की भावना से तो अंतर की भावना विशेष जागृत बने और उसे विशेष जाग्रतपन में प्रकटाने तथा अधिक तेजस्वित और शक्तिवंत करने के लिए तो वह धन्य प्रसंग है । विदाई के समय पर आँसू न आने दिये वह तो प्रभुकृपा से अत्यधिक उत्तम लगा । वृत्ति, भाव, विचार, भावना आदि का समता, तटस्थता, शांति आदि रखकर जीवनविकास के लिए उन उनका ज्ञानपूर्वक उपयोग करते रहें, तो ही श्रीप्रभुकृपा से जीवन में योग्यपन प्रकट होगा ।

प्रभुकृपा का अद्भुत प्रसंग

एक साधुपुरुष थे । एक आश्रम में रहते । मेहमान आनेवाले होने से एक बहन को भोजन बनाने के लिए उन्होंने कहा, उसकी शरीर की स्थिति वह कर्म करने के लिए तब योग्य न थी । वैष्णव आचारविचार के कारण उसे उस दशा में रसोई आदि करने का न रुचता था, वह सब कोई समझ सके ऐसा है, परन्तु प्रभुकृपा से तुरन्त उसके शरीर की स्थिति

पहले के जैसी यथावत् संपूर्ण शुद्ध हो गई । यह हकीकत होते उसे आश्चर्य हो वह भी स्वाभाविक है । अमुक समय भावना की उत्कटता के कारण ऐसा हो भी जाय । यदि हृदय में प्रेमभक्ति प्रकट हो गई हो, तो अद्भुत आश्चर्य हो ऐसे प्रसंग में श्रीभगवान का सूक्ष्म कृपाहाथ प्रत्यक्ष वह देख सकता है ।

ऐसे कोई एक–दो प्रसंग नहीं हैं । हिमालय की यात्रा में श्रीबदरीनाथ के दर्शन के लिए जाना था और ....बहन तो मासिक धर्म में थी । अब दर्शन कैसे करने जाये ? वैष्णव आचारविचारवाली बड़ी बा साथ में थी और इतने तक आये और दर्शन न कर सके वह भी ठीक नहीं लग रहा था । श्रीभगवान ने कृपा करके, बहन की ऐसी दशा टाल दी थी, वह बिलकुल स्वच्छ तथा शुद्ध हो गई और दर्शन कर सकी थी, वैसे ही दूसरे दो प्रसंग उस हिमालय की यात्रा में बने हुए थे । ऐसी हकीकत वह मात्र कोई कल्पना है, ऐसा तो कोई थोड़े ही कह सके ऐसा है ? इसलिए हमें तो जीवनविकास के लिए जीना है, इसलिए कृपा करके नामस्मरण में मस्त बने रहें ।

संत का ज्ञान

'जीवन के प्रसंगों को वह **जीव** जानता होता है, ऐसा भी अनुभव हमें होता रहता है', ऐसा तुम लिखती हो । वैसा उस उस **जीव** की प्रकृति से उसे समझ में आ जाता होता है । हमें ऐसे अपने प्रत्यक्ष होते रहते अनुभव से वह उसके शरीरपन में होने पर भी उससे पर भी बरत रहा करता है,

वह हमें संपूर्ण समझ में आ जाता है, तो अब वैसा **जीव** अन्य किस तरीके से हमें उसकी आत्मनिष्ठा का भरोसा करा सकता है ? इससे अब तो हृदय में गरज प्रकट करे, जीवन्त श्रद्धाभक्ति प्रकट करनी, उसके भाव में मस्त बने रहें, तो ही जीवन में धन्यता प्रकट होगी, आनंद में रहकर उसके नामस्मरण में मस्त बनकर **इस जीव** को शोभित करे तो तुम सही ।

• • •

सूरत हरिः ॐ ता. १८-३-१९५३

अगम्य आचरण

कल सुबह ठीक साढ़े सात बजे मेरा छोटा भाई, भीखुभाई और **यह जीव** इसप्रकार तीन जन रांदेर की तरफ जा रहे थे । वहाँ मार्ग में कोई तुम्हारे जैसी जा रही थी । हृदय की स्मृति जागते स्थानकाल तो किसे याद रहता है ? **इस जीव** ने जोर से तुम्हारा नाम लेकर पुकारा था । साथ में जो हो उनको आश्चर्य तो बहुत हुआ, पर मूर्ख को तो कुछ भी थोड़ा ही भान रहता होता है ?

कृपा करके मन को शांति और स्वस्थता में ही प्रेरित रखना । नामस्मरण में ही और उसके भाव में और उस भाव को ज्ञानपूर्वक के हेतु से उपयोग में लेने के लिए मन को टोक टोक करके, बटोर बटोर करके, सरका सरका करके, उसके योग्यपन में लगा के रखना है ।

• • •

सूरत हरि:ॐ ता. २-३-१९५३

सद्गुरु की आज्ञापालन के लाभ

जिसे स्वयं जीवन का निर्माता मानते हों, उसके द्वारा जो सूचनाएँ मिलें उसे जैसे जैसे हम जीवनविकास के हेतु का ख्याल रखकर वैसी समझ से वर्तन में रखते जायेंगे, वैसे वैसे भावना आकार लेती हम अनुभव कर सकते हैं ।

सूचनाओं को उत्साह, सावधानी, धीरज, शांति, प्रसन्नचित्तता आदि से आचरण में लेते ही हमारे मान लिए भाव, दुराग्रह, उलझन आदि गलने लगते हैं । जीवन में सच्ची नम्रता प्रकट हुआ करती है । वह जो भी हमें सूचन करता होता है, वह कुछ अकारण तो नहीं होता है । उसके पीछे कोई रहस्य और हेतु होता है । उसके सूचन के पीछे उसके हृदय का भाव भी होता है । इस प्रकार, उस सूचन का प्रेमपूर्वक, ज्ञानपूर्वक पालन होने से, उसके हृदय के भाव का भी स्पर्श आधार में (**जीव**कोष में) हुआ करता रहता है और सूचन का अमल हुआ करते रहने से उसकी ज्ञानभक्तिपूर्वक की स्मरणभावना भी दिल में प्रकट हुआ करती है ।

बड़ो की आज्ञा का पालन

फिर, बड़े स्वजनों की सूचनाओं का भी दिल से पालन करने की उत्कंठा हुआ करे, तो वह भी हितावह है, क्योंकि इससे करके उन उनके हृदय का सद्भाव हमारे प्रति बहा करे । इससे हमारे प्रति अच्छे भाव और सहानुभूति होती रहती है । उनकी सूचनाओं का ज्ञानपूर्वक हृदय की उत्कंठा से पालन

करने से उनकी हमारे प्रति शुभेच्छा प्रकट होती है और ऐसा हम अपने आगेपीछे हमें सरलता, प्रसन्नता, शांति आदि मिला करे ऐसा एक वातावरण प्रभुकृपा से प्रकट किया करते हैं ।

जो कुछ किया करें वह वह उस उस तरह से करने रूप के लिए नहीं, पर इससे **भाव**शक्ति प्रकट करने के लिए वह वह (करनापन) है, ऐसी ज्ञानपूर्वक की भावना वह वह कर्म करते समय हृदय में हृदय से हृदय की जागा करती हो, तो ही जीवन यथार्थ रूप से निर्माण करता होता है ।

दूसरों के साथ वाणी-वर्तन-व्यवहार

कहीं भी किसी का मूल्यांकन उस उसके स्थूलरूप या बाह्य दिखावा या बाहर के वर्तनव्यवहार से हमें नहीं करना है । व्यवहार में दूसरे जीवों के साथ मिलना होने पर जितना समझपूर्वक मौन पाल सकें उतना उत्तम । बात करनी ही पड़े तो इस तरह बात करें कि जिससे रागद्वेषादि वृत्ति हम में या किसी में भी बढ़े नहीं, बल्कि घटा करे । जिससे दिल में भी शांति-प्रसन्नता को चोट न पहुँचे, जिससे हमारे जीवनविकास के लिए की भावना अधिक जाग्रत और सतेज हुआ करे ऐसे प्रकार की हमारी समझपूर्वक की जीवनपद्धति सहजता से दैनिक व्यवहारवर्तन में प्रकट होने चाहिए ।

सद्‌गुरु का भंगीकार्य

परम कृपालु ने अपरम्पार कृपा करके हमें भंगी का काम सौंपा है । उसके जैसा दूसरा कोई उत्तम यज्ञ नहीं है

और दूसरा कोई उत्तम कर्म नहीं है वह यज्ञ अभी संपूर्ण तो हो नहीं सकता है। जितना हुआ और होता है, वह फिर था वैसे का वैसा हुआ करता है। प्रभु करे और प्राप्त हुए सभी जागते चेतते रहे और सर्व रीति से, सर्व भाव से उनके सर्व करणों में से मैला, विक्षेप, आवरण हटते जाय तो ही प्रभुकृपा से शांति मिले। बाकी तो हृदय में सतत उजागरा ही व्याप्त रहा करता है, ऐसी है हमारी हैरानी की कथनी। हमारे सुख, शांति, आराम आदि का विचार—और वह भी अपने आपके जीवनविकास के हेतु के लिए—कोई भी अभी तक किया करता अनुभव नहीं हुआ है। हमारे इस दु:ख को हम किसे कहने जाएँ ? इसलिए कृपा करके हमें तुम से परम शांति, सुख मिला करे वैसा संसारव्यवहार में जीवन को उपयोगीपन के उद्देश्य से फलित करने बरतना।

नि:संगतता और मौन का महत्त्व

आजकल **जीवों** की वृत्तियाँ, विचार, भावना, जीवनविकास के प्रेरित करे इस प्रकार के व्याप्त लगते नहीं हैं। चार बहनें मिलने पर कैसी-कैसी बातें करती हैं, यह यदि जानने को मिले तो समझदार और विवेकी को आनंद प्रकट हो ही नहीं सकता। पुरुष **जीव** उत्तम है ऐसा तो कुछ भी नहीं, वे लोग भी वैसे ही हैं। **जीवों** को जो फुरसत मिलती है, उसका योग्य उपयोग करने की कुशलता बहुत ही कम **जीवों** में प्रकट होती अनुभव होती है। इससे, संसारव्यवहारवर्तन

में जितना नि:संगता से वर्तन करने का हो, उतना उत्तम, जितना विशेष समझ से मौन का पालन कर सके तो वह तो अति आवश्यक है, परन्तु मन में मसोतते रहना, मन की द्विधा स्थिति के कारण, असंतोष के कारण, दूसरों के साथ न बोलने का बने तो वह मौन नहीं है, वह तो जीवन के मृत्यु की पल हैं । जीवन का साधक जो **जीव** है, वह तो अपना मन वैसा तंग होते अवश्य चेतकर उसमें से हट जाने का ही करेगा ।

सच्चा स्वजन

जो भी सर्व के प्रति समझ समझकर दिल में सद्भाव हमें तो प्रेरित करना है ।

आश्रम में जाएँ तब सभी को बुलाना । तुम्हारी याद और प्राप्त हुए स्वजन की याद प्रभुकृपा से हमें कैसी और कितनी रहती है, वह कहने और लिखने में सार भी क्या ! स्वजन की याद के बारे में एक कविता 'प्रणाम प्रलाप' में है । तुम्हें कृपा करनी है । सदा आनंदमंगल में जागृतिपूर्वक जीवन की प्रत्येक क्षण जीवनविकास के ध्येय हेतु के लिए उपयोगी हुआ करे तो वैसा स्वजन हमारा सच्चा स्वजन है ।

• • •

सूरत　　　　हरि:ॐ　　　　ता. २१-३-१९५३

*जीव*भाव से दया यानी अहंकार

जहाँ तक हम **जीव**कक्षा में हैं यानी कि द्वन्द्व की स्थिति में हैं, वहाँ तक हम कभी भी दया, करुणा, क्षमा, दान आदि

गुणों की बात मुँह से बोलें ही नहीं, यह हमें शोभा नहीं देता। जीवन में सात्त्विक गुण, प्रत्यक्षरूप से प्राणवान आचरण में प्रकट हुआ करता हो, उसी समय ही और वैसे **जीव** की सात्त्विक कक्षा में ही दया, करुणा, क्षमा आदि गुण जीवन में प्रकटरूप से उनकी शक्ति के स्वरूप में सहजरूप से विकसित और प्रकट हुआ करते हैं। **जीव**कक्षा में हों उस समय हम से ऐसा बोला जाय कि 'अमुक **जीव** के प्रति दया से प्रेरित होकर उसके साथ प्रेमभाव विकसित करूँगा या रखूँगा' तो वह हमारी निपट एक प्रकार की सूक्ष्म अहंता सूचित होती है। वैसी **जीव**प्रकार की कक्षा में दया से प्रेरित होकर अमुक प्रकार का आचरण हो ऐसा मानना यानी हम मानो कुछ ऊँचे और जिसके प्रति वैसा प्रेरित होकर बरतना है, वह कुछ निम्न है ऐसे मतलब की वैसे उच्चारणरूप में से कुछ समझ प्रकट होती है। इसलिए हम जो कुछ बोलें, सोचें, लिखें उस उस समय उसकी यथार्थता का ज्ञान प्रकटकर लिखें तो शोभित होंगे।

आनंद से त्याग करो

यदि हम जीवन का ध्येय निश्चित करें, अमुक दिशा में अमुक तरह से ही आचरण करना है, ऐसा दृढ़ता से निश्चित करें, तो उसके सम्बन्ध का जो कुछ नकारात्मक हमारे में हो या दूसरों से खड़ा हुआ हो, उसे त्याग करने

का होते यदि उसके संदर्भ में ही कठिनाई लगना, मुश्किल लगना वह योग्य प्रकार का नहीं है, वह समझने जैसी हकीकत है ।

हमें जिस मार्ग पर जाना नहीं है और जिस मार्ग के रागमोह से विमुक्त होना है, उस मार्ग के मोहादिकता के लक्षण से विमुक्त होने का प्रसंग मिलने पर तो **जीव** को दिल में बहुत आनंद प्रकट होना चाहिए । हमें जो करना है, वह तो दृढ़ता से, दिल के सच्चे दृढ़ निर्धारण से और नेक दानत से करना है । हमारी प्रमाणिकता और वफादारी पारदर्शक हो जानी चाहिए । हमें जिस आदर्श को चुनना है, वह तो माँग लेता है संपूर्ण हृदय के भाव की निरन्तर जीवन की उस प्रकार की आचरणधारा । यानी जो जो जीवन के आदर्श को जीवन के प्रसंगों में प्रकट करने जाते यदि अभी कठिनाई लगे, मन वापस जाता अनुभव हो, तो जानना कि अभी हमें कहीं घुटन, घबराहट है, अभी उसके संदर्भ का हमारा **जीव** प्रकार का राग उसमें से पूरा हटा नहीं है ।

हमें अभी सही दिशा का संपूर्ण छटपटात्मक उत्कट भान प्रकट हुआ नहीं है, भला **जीव** ! 'मुश्किल और कठिन' क्यों लगना चाहिए ? शरीर पर बिच्छु चढ़ता हो तो शीघ्रता से झटककर हम उससे अलग हो जाते हैं, क्षणमात्र भी उसे टिकने नहीं देते, इसी तरह से **जीव**पन के नकारात्मक भाव को हमें कभी टिकने नहीं देना चाहिए । यह सब समझ

समझकर हमें करना है । जहाँ जहाँ संघर्षण है, अशांति है, उलझन है, आलोडितता है, वहाँ वहाँ जान ही लेना कि परस्पर अंतर की सफादिली, एकनिष्ठा, शुद्धता, एकराग, प्रेमभाव, नेक दानत आदि आदि उसके सच्चे अर्थ में और योग्य प्रमाण में प्रकट हुए नहीं हैं ।

मिले हैं तो मिलना जानें

सभी स्वजनों में हमारा दिल रहता है, यह सत्य छत पर चढ़कर पुकारने में हमें संकोच नहीं होगा । इससे तो तुम्हारी और उन उन स्वजनों की जिम्मेदारी हजारगुना अधिक हो गई है। सभी प्रकार से उत्तम से उत्तम स्थिति में संसारव्यवहार में तुम बरता करो, तुम्हारी संस्कारछाप सभी जो भी सभी पर अनोखेपन की प्रकट हो, तुम सभी में सहृदयता से एकमात्र विकास के हेतु के ज्ञान से मिश्रित हुई और मिली हुई रहकर सभी में एकभाव से व्यक्त हो, उन उनके दिल को स्पर्श करके संसारव्यवहार के सभी प्रसंगों में उच्च तैरती आ सको, तो वैसी तुम मेरे जीवन में अत्यधिक उपयोगी है। इस जीवन में प्रभुकृपा से जब मिलने का हुआ है, तब हम मिल जानें । जीवन के हमारे दूसरे मित्रों और स्वजनों को हम प्रेरणात्मक बनें उस तरह से जीवन को उसकी यथार्थता में प्रकट करते रहें तो अन्य **जीवों** को श्रीप्रभुकृपा से प्रेरणात्मक बन सकने के हों तो बने सकें । वह भी एक बड़ी सेवा है ।

अमुक सूचनाएँ

भावना को टिकाये रखने के लिए, उसे अधिक तेजस्वित और शक्तिशाली बनाने के लिए, अधिक एकाग्र और केन्द्रित करने के लिए नामस्मरण वह जबरदस्त साधन है, इससे प्रभु के नाम में तुम मस्त रहना, भगवान का नाम जोर से लिया करना, उसमें अब कमोबेश से फर्क न पड़े, वह कृपा करके लक्ष में रखना। जिसके संग से करके हमारी **जीव**वृत्ति अधिक **जीव**पन में प्रकट हो, उसके संग का दृढ़ता से ज्ञानपूर्वक इनकार किया करने में जब बहुत आनंद प्रकट हो, तब हमारी स्थिति उस दशा में पकती होती जाती है, वह मानना और प्रमाणना। **बहुत ही कम से कम बोलना और श्रीभगवान का नाम जोर से लिया करना।** प्राप्त हुए कर्म को संपूर्ण रूप से, उत्तम से उत्तमरूप से, हमारे अपने विकास की भावना के लिए, जीवन को विकसित करने प्रभुप्रीत्यर्थ करना है, यह खास लक्ष में रखना। काम से डरना या भागना भी नहीं। मन में निराशा को प्रवेश करने न दें।

साधना को प्रकाशित करें

स्वजन के हृदय का भाव दिल को उसकी उत्तमता में प्रकट करना है और बहलाता है। तुम्हें जो पत्र लिखे हुए हैं और जो छपे हुए हैं, उसे जो जो **जीव** पढ़ते हैं, उन्हें प्रेरणादायी हुए हैं, ऐसा जो जो पढ़नेवाले **जीव** मिलते हैं, वे कहते हैं। इससे तुम्हारी जिम्मेदारी अधिक बढ़ती है, इसलिए

तुम्हें स्वयं अपना सतत जागृत चौकीदार बनना है । दूसरे किसी का अंतराय नहीं है, अंतराय मात्र यदि कहीं कोई हो, तो वह सच्चे प्रकार का दृढ़ अटल निश्चय प्रकट हुआ नहीं होता, वह है । इसलिए हमें तो मरजिया निर्धारण प्रकटाकर बरतना है, **हमें कहीं किसी का सामना नहीं करना है, सामना जो करना है, वह तो अंतर में आंतरिक वृत्तिओं का करना है ।**

संसारव्यवहार में जो जो सभी मिले हों, उन उनका सहानुभूतिवाला और शुभेच्छावाला दिल हमारे सम्बन्ध में व्याप्त हुआ करे, इस तरह से हमें उन उनके साथ ज्ञानपूर्वक का बरतना है, आंतरिक यत्न जब उसके सचमुच यथार्थ स्वरूप में प्रकट होता है, तब मनादिकरणों की स्वस्थता, शांति, समता, प्रसन्नता आदि जीवित रहनी संभव नहीं हैं । आंतरिक यत्नों का घर्षण हमारे चेहरे पर और हमारे कर्मो में न उतरे उसकी सँभाल अत्यधिक रखनी होगी । 'मन को' में इस विषय में उल्लेख भी है । **इस जीव** ने उसके जीवन में इस अनुसार ज्ञानपूर्वक बरतने का प्रभुकृपा से किया हुआ है, इस लिए तुम्हें वैसा लिखा हुआ है । तुम्हारे प्रत्यक्ष आचरण द्वारा तुम सभी के दिल जीत सको और सद्भाव में व्याप्त हो तो ही हमारी शोभा है । इससे तुम्हारे जीवन द्वारा चमकना हो, उसका तुम अत्यधिक भान रखना । अधिक तो क्या कहें और लिखें ?

• • •

ट्रिचि हरि:ॐ ता. २५-३-१९५३

उपयोग की दृष्टि से ही सदा बरतो

कथा में दु:ख के विषय में सुना और वह मानो इस **जीव** के ही उद्‌गार हैं, ऐसा तुम्हें जो लगा वह बिलकुल सत्य हकीकत है । वे शास्त्रीजी विद्वान हों और सुन्दर, आकर्षक प्रवचन करते हों और उनके पास जीवन की दृष्टि है ऐसा लगे, तथापि वे अनुभवी आत्मा नहीं हैं इतना भी साथ साथ लगता है । हमें तो जहाँ वहाँ सभी उपयोग के लिए है । जीवन में जो हमें उपयोगी हो, वह हमारे लिए यथार्थ है । इससे किसी भी **जीव** का वचन हमारे जीवनविकास की यथार्थता में और उसकी समझ में प्रेरित करें तो वह हमारे मन में सोने का है। उसे प्रभुकृपा समझकर हमें जीवन में भाव से स्वीकारना है । विचार, वृत्ति, भावना, वर्तन, व्यवहार, संपर्क, संबंध आदि आदि में हमें जीवनविकास के हेतु का प्राणवान दृढ़ ख्याल रहता हुआ होना चाहिए और यदि वैसा हो सके तो ही जीवन यथार्थता में प्रकट हो सकता है ।

गुरु को परखने के प्रमाण और शर्तें

पूज्य... के बारे में हकीकत पढ़ी । उन्होंने कही हुई हकीकत संपूर्ण सच लगती है । साधक के योग्य विकास के लिए जो जो यथार्थ कदम उठाने पड़े, वे वे लेनेपन में समाज के किसी भी प्रकार का भय या डर जिस गुरु को लगा करे, वह गुरु सच्चे अर्थ में गुरु होने के योग्य नहीं है । तथापि

गुरु भी साधन होने से, वह भी उपयोग के लिए ही है । उपयोग यानी मात्र कोई स्वार्थ ही नहीं । यद्यपि बहुत ही उच्च, उदार और विस्तृत अर्थ में उसे एक ढंग से स्वार्थ भी अवश्य कह सकते हैं । **स्व+अर्थ यानी कि जीवनविकास का हेतु जिस तरह से सिद्ध होता रहे वह ।** यदि गुरु से वैसा जीवन का हेतु सिद्ध न हो पाता हो तो हमें अवश्य जागना, चेतना और हम स्वयं अपनी स्पष्टता, समता, तटस्थता से संपूर्ण सोचना है । जीवनविकास की साधना के लिए जो कोई **जीव** उसमें पड़ा हुआ है, वह वह **जीव** को उसमें पड़ने के लिए के लक्षण अपने में प्रकट करने चाहिए या उसमें होने चाहिए अथवा तो उसे प्रकटाने के लिए ज्ञानभक्तिपूर्वक जो आपत्ति उठाया करनी होगी, उसमें उसके उत्साह, उल्लास, धीरज, तनदिही, साहस, हिंमत आदि गुण प्रकट हुए रहा करे हुए हैं कि नहीं वह हकीकत को उसे स्वयं जागकर जाँचना होगा । फिर, उसमें स्वयं की कमी या दोष है कि नहीं उसका प्रमाण कर लेना रहता है ।

इसके अलावा फिर हमें जीवनविकास के काम में गुरु उपयोग में आये, उसके लिए उसके हृदय के साथ अथवा तो उसके जीवन के मूल **भाव** के साथ का हमारें हृदय का सचमुच संबंध जाग गया है कि नहीं या तो यदि जाग न गया हो, तो वह जगाने का जागृतिपूर्वक का उसके संदर्भ का संपूर्ण अभ्यास विकसित हो या तो विकसित होता जा रहा है कि

नहीं, यह सब हमें स्वयं संपूर्ण समझ लेना रहता है । उपरोक्त इतनी बातों के बारे में हम अपने बारे में यदि विश्वास के साथ हृदय पर हाथ रखकर कह सकते हों तो तो उसके बाद गुरु के पक्ष को हमें जाँचना चाहिए । सद्गुरु की चेतनता, उसकी व्यक्तता और उसके जीवनपरिचय के परिणाम से हमें वे यथार्थता में लगे हों अथवा तो वे किसी भी कारणों से जीवनविकास को मुख्यतः दृष्टि रखकर गुरु का साधन हमें उपयोग में आये और वैसा ज्ञानपूर्वक का हेतु जीवन में फलित कर करके, जिसमें और उसमें यदि हम चेतनापूर्वक व्याप्त रहा करते हों, तो गुरु का यद्वातद्वापन हो तो वह भी गये बिना नहीं रह सकता है ।

तथापि आदरभाव ही हो

जीवन में जीवनविकास के लिए प्रकट हुआ उत्साह और उसके लिए संघर्ष करने की हमारी नेक दानत यदि उसकी संपूर्ण यथार्थता में पैदा हुई है, तो वे कोई सूख नहीं जाते । गुरु की ओर से साधक को मिलते उत्साह सहानुभूति, आनंद, शांति, हृदय का भाव, ये सब साधक को अवश्य प्रेरणात्मक होते हैं, परन्तु उसका भी उपयोग जीवनविकास की साधना में चेतना, प्राण फूँकने के लिए है । पूज्य ...बा का मानना शायद यथार्थतावाला भी हो, तथापि सद्गुरु के लिए हृदय का भक्तिभाव कहीं किसी से कम नहीं होना चाहिए । हमने किसी को गुरु बनाया और उसमें से जो कुछ लाभ मिला

और मानो कि हमारी इससे भी स्थिति ऊँची ऊँची हुई तो वैसी स्थिति में भी उस गुरु के संदर्भ में हमारा आदरभाव बिलकुल कम नहीं हो जाता, बल्कि दूसरे पक्ष से अधिक सतेज ज्ञानपूर्वक की दशा में वह आदरभाव जीवित बनता है ।

जीवनविकास की गरज जगाओ

गुरु के सम्बन्ध में हृदय के सद्भाव की झंकार साधक के जीवन में महत्त्वरूप से गाजती बनी हुई होनी चाहिए । **जीव**स्वभाव की कक्षा की वृत्ति जीवन में काम करते हम यदि अनुभव कर सकते हैं, तो सद्भाव से प्रकट हुई भावना जीवन में काम करती क्यों नहीं अनुभव कर सकते हैं ? परन्तु हमें इतना खास याद रखना है कि गुरु सर्वस्व नहीं है, जीवन ही सर्वस्व है । जीवन को हर पल हम ज्ञानभक्तिपूर्वक ख्याल में रखा करेंगे तो कहीं कुछ किसी से हमारा बिगड़नेवाला नहीं है । जिसे जिस दिशा में जाना है, उस दिशा में जाया जाता है कि नहीं, वह उसे देखते रहना होगा । जीवन में जिस बात की जिसे गरज जागती है, उस दिशा में वह गति और प्रयाण करता है और जिस बात में गरज है और जिससे वह पूरी होगी ऐसा भी लगता है, उससे वह चिपका रहता है, परंतु इन सभी क्रियाविधि में स्वयं की क्या गरज है और वह फलित होती है कि नहीं वह अपनेआप उससे दृष्टिगत होता जाता है और गरज फलने की आशा निश्चितरूप से न लगने पर वह उसमें से मुक्त भी हो सकता है । उस तरह जीवनविकास के लिए

हमारी भावना गुरु विषयक साधन में यदि ज्ञानभाव से व्याप्त हो तो हम सदासर्वदा निश्चिंत रह सकते हैं । मेरी तो तुम्हें विनती है कि जीवनविकास की पक्की गरज जगाकर जिस किसी का साथ उसके लिए करना हो तो करें, बाकी तो सदा ही आनंद में रहना ।

संसार का क्लेशादिक पवन हमारे जीवन को न स्पर्श करे उसकी तो पलोंपल प्राणवान जागृति रखें, इसमें थोड़ा भी बेध्यान रहे, तो सब कुछ कमाया हुआ धूल में मिल जायेगा, प्रभु तुम्हें सदा ही जाग्रत रखे वैसी प्रार्थना है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. २६-३-१९५३

सद्‌गुरु का सबल आधार

निराधारता में बिलकुल निर्बलता व्याप्त है । जीवन में जिसे सच्चा समर्थ आधार प्रकट होता है, वह तो जबरदस्त खुमारी अनुभव करता है । उसके जीवन में, प्रसंग में प्रकट होती दृढ़ता उसे प्रत्येक कर्म में उसे दिखाई देती है । स्वयं अकेला तो कभी है ही नहीं उसे ठोसरूप से लगा करता है । हृदय के वैसे भाव में कहीं भी शोक, खेद, दिलगीरी नहीं होते । वहाँ वैसे भाव में निराशा उग ही नहीं सकती । **भाव** तो भाव को खींचता है और **भाव** को प्रकट करता है । हृदय का भाव वह कोई जैसा तैसा बल नहीं है । वह तो **जीव जीव** को परस्पर हृदय में हृदय से जोड़ता है ।

सद्भाव का महत्त्व

हृदय का सद्भाव यदि किसी के सम्बन्ध में हो, तो वैसा **भाव** जीवन में हमें तैरता रख सकता है । हृदय का जीवनसम्बन्धी सद्भाव हमें **जीव**दशा से व्याप्त होने से रोक भी सकता है । ऐसा जीवन्त बल सद्भाव की ज्ञानभक्तिपूर्वक की शिक्षा से प्रकट होता है । इसलिए, सभी के संदर्भ में सद्भाव विकसित करते रहने में जीवन की शोभा है और उसमें से जीवन की शक्ति प्रकट होती है । ज्ञानपूर्वक के सद्भाव के जीवन का वैसा अभ्यास तो जीवन में उमदा खमीर प्रकट करता है । ऐसों के जीवन में लाचारी का तो स्थान रह ही नहीं सकता । किसी भी प्रसंग में वह नामर्द नहीं हो सकता । किसी भी घटना या किसी भी मुठभेड़, उलझन, कठिनाई, उपाधि आदि में उसके जीवन की दृढ़ता कभी पंगु नहीं हो सकती । उसकी दृढ़ता और अटलता कहीं भी शिथिल होते जाती अनुभव ही नहीं हो सकती है । ध्येय को प्राप्त करने के लिए उसके उत्साह, उल्लास, तनदिही, तप, हिंमत, साहस, बल आदि में फीकापन कभी प्रकट नहीं होता । जीवन में सद्भाव प्रकट होने से ऐसे **जीव** को किसी के सम्बन्ध में बुरा लगने जैसा रहता नहीं है ।

सच्चे दिल के प्रयत्न की बोलबाला

जिस **जीव** को जागृति न रहती हो, उसे वहाँ तक उसका सभी कच्चा समझना, क्योंकि वह कभी भी असावधान

हो ही जायेगा और किसी भी तरह बहकर दिशा भी बदल लेगा । वह अपने को रोक सके उतना आंतरिक बल तो पैदा नहीं कर सका हैं, इससे वैसे **जीव** को नामस्मरण कर करके, अपनी कमजोरियों से मुक्त होने उसके असर से जीवन में लज्जित न होने के लिए, उस समय श्रीभगवान की कृपामदद के लिए प्रार्थना कर करके, स्वयं उत्कटता से सजग होने का प्रमाणिक प्रयत्न करना होता है । जो **जीव** ऐसा हृदय से प्रमाणिक प्रयत्न नेक दानत से किया करता होता है, वैसे **जीव** को नाहिंमत होने जैसा कहीं भी नहीं रहता । वह तो गिरे, गिरे फिर उठे, ऐसा अनेक बार जीवन में हुआ करता है । ऐसी चढ़उतर से **जीव** को सच्चे जीवन की झाँकी मिलती है । ऐसा **जीव** अपने **जीवन**संग्राम के मरजिया प्रयत्नों से खड़ा और दृढ़ हुआ करने का प्रभुकृपा से सीखता है । इसलिए प्रयत्न करते रहने से ही जीवन की उषा प्रकट होनेवाली है, यह निश्चय करके जानना ।

गुरुस्मरण की चमत्कारिक शक्ति

जिसमें हृदय का भाव जागा हुआ है, उसका स्मरण जीवन में नयी ताजगी, नया जोश नयी प्रेरणा, नया साहस, हिंमत, धीरज आदि प्रेरित किया करता है । सद्गुरु की चेतनपूर्वक की स्मरणभावना इसके लिए है । मुझे तो उस तरह से प्रभुकृपा से वह उपयोगी होती थी, स्मरण की भावना की साधना कोई आजकल की नहीं है । यह तो युगयुग से चला

करती है। उसकी कायापलट समय समय पर हुआ करती है। जीवन का बदलाव जिसकी कृपामदद द्वारा हो सकता है, उसमें हमारा हृदय लगा रहा करे और वह जीवनविकास की भावना के विषय में उपयोग में आ सके, उसके लिए वैसा पुण्यस्मरण जीवन का तारणहार हो सकता है। **इस जीव** को अनेक बार ऐसे स्मरणों ने ऊँचे लाकर बेड़ा पार किया है। अमुक बार चेताकर जगाया है। अमुक समय पर उठाकर चलता हुआ किया है, अमुक समय पर ऐसों के स्मरण के पुण्यप्रकोप से जीवन को मठारने का यज्ञकर्म भी किया है। अमुक समय पर भटक जाने पर और पतन के समय का जाग्रत ज्ञानभान भी चले जाते रहता, उसका भावभरा पुण्यस्मरण तो प्रत्यक्ष संजीवनी रूप से सिद्ध हुआ है। ऐसे इस स्मरण के कई कई अनुभव स्मृतिपट में पड़े हुए हैं, ऐसा उसके स्मरण से ही जीवन का काम हुआ है और गिरते उठते, ऊँचे आने हो सका है, ऐसी यह पुण्यस्मरण की न्यारी न्यारी खूबी है।

जो स्मरण हमें मर्दानगी प्रेरित करे, हिंमत, साहस, बल, उल्लास, तनदिही, धीरज, सहनशीलता आदि प्रेरित किया करे, वैसा स्मरण उपयोगी है। हृदय के भाव से हुआ स्मरण वह तो ऐसा काम देता है कि जिसकी तुलना किसके साथ करनी यह समझ नहीं आता है। ऐसा पुण्यस्मरण यह तो भूले हुए को मार्ग दिखानेवाला सही साथ है। उसकी ऊष्मा,

आसरा, उसकी समर्थता की असर वह सब न्यारा न्यारा है। उसकी बलिहारी की क्या कथा करूँ ? वह स्मरण मात्र भाव में डुबाये नहीं रखता अथवा बावलापन उत्पन्न नहीं करता या नहीं जन्म देता धुन को। उसका तो काम है जीवन का योग्य उठाव करने का। जिसके जीवन में ऐसे स्मरण की ज्ञानभक्तिपूर्वक की शिक्षा होती रहती है, वह तो निर्भय और निर्भर रहा करता है। उसे कुछ होते, करते उससे उबरने की दवा उसके पास तैयार ही होती है। कुछ होने पर बालक जैसे माँ को पुकारता है या माँ के पास दौड़ जाय, वैसे उस प्रकार के स्मरणवाले **जीव** का हुआ करता है। ऐसे स्मरण का साधन जिस **जीव** को मिलता है, वह **जीव** तो कृतार्थ होगा ही, यह निश्चित रूप से जानना। इसलिए आनंद से मस्त बनना, रहना और वैसे भाव से जीना।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. २७-३-१९५३

अधीर धीरज

हृदय को शांति मिले ऐसे ब्योरे सहित पत्र लिखो तो मेरे जैसे अधीर **जीव** को कुछ अच्छा लगे। **इस जीव** की अधीरता को भी कोई उसके योग्य स्वरूप में समझ नहीं सकेगा। वैसे ही उसकी धीरज को भी कोई उसके योग्य स्वरूप में समझ नहीं सकेगा। यह हकीकत वैसे वैसे प्रसंग के अनुभव से कहता हूँ।

सद्भावयुक्त ही प्रतिवर्तन

...बहन के साथ हृदय का सद्भाव विकसित करने की तुम्हारी समझ बिलकुल यथार्थ प्रकार की है । जितना जितना दूसरे **जीव** का नकारात्मक हो और हमारी आँख से, मन से या ऐसे जो चढ़े, उसे वाणी से दूसरों के आगे व्यक्त करने का समझदारीपूर्वक न हो, यह बिलकुल यथार्थ है, और उस तरह हमें संसारव्यवहार में बरतना हो । दूसरे **जीवों** के संदर्भ में सचमुच हृदय की सद्भावना के माप से हमें सोचना हो और बरतना हो । दूसरे **जीवों** का हमारे साथ के वाणी, वर्तन, व्यवहार या आघात-प्रत्याघात वे सभी की दृष्टि से, यानी वैसी वैसी हकीकतों की और वैसे वैसे प्रसंगों की जो जो छाप मन में पड़ी हो और उससे जो आघात-प्रत्याघात हमारे दिल में हुआ करे उससे उठते भाव अनुसार हमें उन उनके साथ बरतना न हो, पर हमारे हृदय का उनके प्रति सद्भाव अधिक जीवंत बने उस ढंग से और वैसे भाव से हमें उन उनके साथ बरतना है, यह खास करके हमें जागृति रख रखकर, चेत चेतकर खूब खूब लक्ष में रखना है ।

उत्तम सेवा

इसलिए मुझ पर कृपा करना । तुम्हारे आचरण से ही इस **जीव** की जगत में कीमत होनी है । संसारव्यवहार में बनते प्रसंगों से तुम्हारा व्यवहार जैसा ज्ञानभक्तियुक्त योग्य बनता जायेगा, तो वैसे तुम्हारे योग्य आचरण से तुम **इस जीव** की उत्तम सेवा कर सकती हो, यह निश्चित मानना ।

सद्‌भाव की शिक्षा

संसारव्यवहार के आचरण में बहुत बहुत उत्तम गुणों की शिक्षा मिला करती है, मात्र हमारा मुख और दृष्टि-वृत्ति उसके सम्बन्ध में ज्ञानपूर्वक के मुड़ गये होने चाहिए । यदि ऊपर की हकीकत हमारे दिल में बैठ गई हो तो तो फिर हम से किसी भी **जीव** के विषय में दूसरे किसी भी **जीव** के आगे कुछ भी नकारात्मक उच्चारण ही कैसे हो सकता है ? यदि उच्चरित हुआ तो समझना कि अभी सभी के प्रति ज्ञानपूर्वक आचरण करने की सद्‌भाव की शिक्षा के बारे में हमारा ख्याल वह मात्र तरंग की दशा का है ऐसा समझना । यदि सद्‌भाव की शिक्षा की शुरूआत हो गई हो, तो तो उस उस ढंग से थोड़ा थोड़ा आचरण जैसे जैसे होता जाय, वैसे वैसे वह अभ्यास के प्रति महत्त्व का झुकाव उस **जीव** का अवश्य बढ़ता जाय, क्योंकि वैसा ज्ञानात्मक सद्‌भाव रखने से हमारे मन में शांति, समता, प्रसन्नता, सरलता आदि की भूमिका जीवन्त रहा करती है । मन को यहाँ से वहाँ टकराना नहीं होता । ऐसे अभ्यास से मन को कभी उचाट, चिंता, मुठभेड़ अकुलाना, घबराना, क्लेश, संताप आदि तो उत्पन्न ही नहीं होते, और ऐसा होते जैसे जैसे वह **जीव** अनुभव करता है, वैसे वैसे उसे वैसी स्थिति में व्याप्त होना योग्य ही लगा करता है ।

साधक का मंथन

वैसी दशा में से उसे कभी कभी पीछे हटने का होने से उसे ग्लानि होती है । कभी भी दुबारा वैसा न हो ऐसा

कृतनिश्चयी वह बनता होता है । वह जितनी बार भूल करता है, उतनी उतनी बार वह उसमें से दुबारा अधिक तेजस्वी और अधिक जाग्रत दशा का होने, बैठा होकर उद्यत होने के लिए चेतनवान बनता है । अपनी जीवकक्षा से करके स्वयं का उलटा बिगड़ जाने से वह समय पर चेत जाता है और अपनी भूल को वह अति शीघ्र भूल रूप से स्वीकार करके उसे सुधार लेने के लिए वह प्रयत्न करता है । जिस **जीव** के सम्बन्ध में उससे अनजाने में दोष हुआ हो, उसका दिल जीत लेने में वह कुछ भी बाकी नहीं रखता है ।

सद्भाव के लाभ

उसमें लाभ तो हमें होता रहता है । जो जो सब **जीवों** की शुभच्छा, सहानुभूति, प्रेमभाव हमारे संदर्भ में सरलता से बहते रहते हैं और ऐसे ज्ञानपूर्वक के जीवन्त अभ्यास से हम ऐसा एक सजीवन चेतनावान सर्जनात्मक वातावरण प्रकट करते रहते हैं कि जो वातावरण हमारे आधार का कवच बन जाता होता है और वह ढाल भी बनता है, वह हमारा सच्चा सहायक और रक्षक भी बन जाता होता है । इससे जो भी सब मिले हुओं के साथ हमारे जीवनविकास का सच्चा पूरा स्वार्थ तो वैसे ज्ञानपूर्वक का सद्भाव विकसित करने में रहा हुआ है ।

सावधान !

फिर, अन्य एक मुख्य हकीकत हमें ख्याल में तो यह रखनी है कि **जिस जिस तरह से जैसा जैसा हमने सुना,**

सोचा, वर्तन किया, बोला और जैसी जैसी वृत्ति उस उस समय पर हमारी रही, उस उस तरह का वैसा वैसा, वैसी वैसी वृत्ति का जीवन हम निर्माण कर चुके ऐसा निश्चय जानना, समझना और मानना । यह हकीकत सच है । इसमें कल्पना का बिलकुल अंश नहीं है । इससे हमें सुनते, सोचते, बोलते, बरतते, व्यवहार करते, संपर्क करते यह सब होते रहने की पल हो, उससे पहले और उस समय पर हमें अत्यधिक सावध और सावधान रहने की जरूरत है । **जीव**कक्षा का नकारात्मक जो हो, वैसा जीवन में निर्माण नहीं ही होने देना ऐसा दृढ़ निर्धारण जिस **जीव** ने किया है, वैसा **जीव** कुछ भी कोई नकारात्मकता का अंतर में या बाहर से अनुभव होते अंतर से तैयार बनकर संपूर्ण जाग्रत बनता है । ऐसे जागृत हुए जाने का अभ्यास जैसे जैसे प्राणवान होता जाता है, वैसे वैसे जीवनविकास के संदर्भ में दृष्टि, वृत्ति और भाव साधक के अंतर में अंतर से उसकी योग्यता में प्रकट होते जाते हैं । ऐसे समय से ही साधक का जीना जीवनविकास के योग्य ढंग से शुरू हो जाता है ।

अनोखी गुरुदक्षिणा और उसके सुफल

साधक के उस काल के जीवन की शुरूआत वह तो अभी साधना का प्रथम चरण गिना जाता है । इसलिए, हमें बात करते या बात सुनते सदा ही चेतते रहना है । **कोई किसी के बारे में इधरउधर की बात करते आये तो बहुत प्रेम से**

उसे अपना दृष्टिबिन्दु समझा देने का करना । कुछ भी हो, तब भी जीवन के नकारात्मक पक्ष को तो कान, मुँह, आँख में न रखें वह ना ही रखें । तुमसे प्रभुकृपाबल से इतना भी हो सका तो वह तुम्हारे जीवन की अभी की दशा का बड़ा कदम उठाया होगा । इसलिए इस बाबत में तुम्हें हमेशा अत्यधिक सावधान रहा करना है । तुम्हारे पास ऐसी ऐसी गुरुदक्षिणा माँगा करता हूँ । ऐसा ऐसा दिया करे तो प्रभुकृपा से **इस जीव** को बहुत आराम, शांति, आनंद आदि मिला करे । विशेष में तुम्हारे लिए हृदय में एक ऐसे प्रकार का भाव प्रकट हुआ करे कि जिसकी सहानुभूति का स्पर्श तुम्हें अनुभव में भी प्रकटना हो तो प्रकटे भी सही और वह वैसे व्याप्त भी रहे सही ।

यज्ञ के लिए जीवन

इस इस तरह ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवनविकास की दृष्टि, वृत्ति और भाव प्रकट कर करके बरतना, सोचना, बोलना, मानना, समझना, कल्पना करना आदि आदि करना यही जीवन की सच्ची कमाई है । इसलिए, जिसमें और उसमें जीवनविकास की दृष्टि, वृत्ति और भाव सभानता से समझपूर्वक प्रकट कर करके जीना है । यह यज्ञ कोई जैसा तैसा यज्ञ नहीं है । ऐसे जीवनविकास के लिए शुरू किये यज्ञ में हमें सतत आहुति दिया करनी है । जो भी सब होम करने जैसा हो उसे होम करते ही जाएँ । तुमसे मुझे सदा ही सच्चे सुख, शांति,

आराम, आनंद, संतोष मिला करे और अंतर की भूख मिटे ऐसा तुम्हें जीवन में यज्ञभाव से योग्यरूप से बरतने का अंतरज्ञान प्रकट हुआ करे, यही प्रभु को प्रार्थना है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २८-३-१९५३

सद्‌भाव का आकर्षण

दूसरे सब **जीव** जो तुम्हारे संसर्ग में हैं, उनका **इस जीव** पर भाव बढ़ने में तुम स्वयं निमित्तरूप होनेवाली हो । जैसे जैसे तुम्हारे जीवन का भाव निर्मल होते जायेगा सभी के प्रति का सद्‌भाव जीवंत होता जायेगा और जीवनविकास के आदर्श में तुम्हारी निष्ठा जैसे जैसे प्रकट होती जायेगी, वैसे वैसे सभी किसी का तुम्हारी तरफ का आकर्षण प्रकट होगा । **हम से जानेअनजाने हमारे वर्तन, शब्द, व्यवहार से किसी का भी विरोध मोल लेने का न हो, उसकी तो संपूर्ण जाग्रत सावधानी हमें रखनी है ।**

वाणी का संयम

किसी को सिखावन या बोध के वचन कहने ही नहीं । बिना चाहे कहीं भी किसी में दखल न करना । बिना माँगे वचन उच्चरित न करे । वचन में तो दरिद्रता ही शोभित होती है । वाणी के बोलने में ज्ञानपूर्वक कंजूस बनना है । **नामस्मरण में जितनी वाणी खर्च हो उतना उत्तम है ।** ज्ञानपूर्वक का जैसे जैसे मौन पालते जाते हैं वैसे वैसे वाणी या वचन की

शक्ति भी प्रकट होती है । मौन का ज्ञानभक्तिपूर्वक यथार्थता से पालन होते अंतर की शक्ति का व्यर्थ जाना नहीं होता । वह शक्ति नामस्मरण में खर्च होती है और ऐसे होते रहते नामस्मरण से हृदय में भावना-प्रेम विशेष प्रकट होते जाते अनुभव होते हैं । इसलिए जिस **जीव** को जीवनविकास सिद्ध करना है, वैसे **जीव** को तो योग्य प्रकार का मौन पालन किये बिना छुटकारा नहीं होता ।

कम से कम बोलने में बहुत लाभ है । हेतुपूर्वक की मधुर वाणी और वह भी ज्ञानपूर्वक की सद्‌भावयुक्त जब उच्चरित होती है, तब वैसी वाणी में जो प्राण प्रकट हुए होते हैं, वैसा चेतन व्यर्थ होती रहती वाणी में कभी नहीं होता । वाणी से व्यर्थ खर्च होती शक्ति को हमें अधिक जागृति रख रखके नामस्मरण में एकाग्र और केन्द्रित करनी है वह जानना । साधक के लिए वाणी का संयम यह अत्यधिक आवश्यक है । यह संयम स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे तीन प्रकार का होता है । ऐसे संयम के हार्द में ज्ञानभक्तिपूर्वक का हेतु प्रकट हुआ होता है, तो वैसा संयम योग की भाषा के 'संयम' की कला में हमें प्रकट करता है । संयम में कहीं शुष्कता नहीं है, कठोरता भी नहीं है । जिसे संयम शुष्क और कठोर लगता है, वे संयम के हेतु को और उसकी भावना को उसके यथार्थ रूप में समझे हुए नहीं हैं । वाणी का संयम अंतर की शक्ति को प्रकट करने में बहुत बड़ा भाग

निभाता है, वाणी तो जीवन में ऐसे या वैसे बहुत बड़ा भाग निभाती है। वाणी कुछ न कुछ को जन्म देती है, कुछ न कुछ को मृत्यु देती है, कुछ न कुछ का रक्षण करती है और करवाती हैं।

वाणी यह जितनी समर्थ शक्तिरूप से है, उस तरह उसका–वाणी का अव्यक्त स्वरूप अंतर्मुखता–मौन है। मौन का आंतरिक व्यापक सूक्ष्म स्वरूप प्रकट हुए बिना मन निःस्तब्ध–नीरव दशा को कभी भी पा नहीं सकता। मन निस्तरंग दशा को जहाँ तक न पा सके वहाँ तक मन की मूल शक्ति व्यक्त होती अनुभव नहीं हो सकती। ऐसी निस्तरंग दशा जब पूर्णरूप से गाढ़ता को पाती है, तब कोई भी वृत्ति, विचार, भाव–कुछ भी मन में देखने में आते थोड़े भी अनुभव नहीं हो सकते। वैसी गाढ़ नीरवता में कुछ थोड़ा हलकापन आने पर विचार कभी टूट टूट कर आये पर वे टिकेंगे नहीं, गुजर जायेंगे। उसमें (उस विचार में) आनुषंगिक विचार तो कभी जुड़ते ही नहीं। इसलिए जन्मे हुए विचार को अनुसरण करती दूसरी विचारपरंपरा जाग नहीं सकती। ऐसी निरंतर नीरवता मन की प्रकट होने के बाद और वैसा अनुभव लम्बे समय तक जीवित टिका करे, तब वैसी दशा में रागद्वेष से यानी कि द्वन्द्व से **जीव** अपने को मुक्त होता अनुभव करता है। समझकर **जीव** को यदि जीवनविकास की

साधना करनी ही हो तो उसे समझ समझकर मौन का पालन करने की अत्यधिक आवश्यकता रहती है, किन्तु वह जड़ता से तो नहीं ही । **जीव** को जो कुछ करना हो वह ज्ञानपूर्वक करना है, कि जिससे उसमें से हेतु का फलितार्थ होने का प्रकट हुआ करे ।

नम्रताभरी वाणी

कोई कुछ भी **इस जीव** के बारे में कहे, इससे किसी को कुछ भी उस बारे में मानने जैसा न हो । वह तो सभी किसी को अपनेअपने अनुभव से जो समझ आये वह सही, उतना ही (मात्र समझ) योग्य नहीं है, परन्तु जब वह (गुरुरूपी साधन) सचमुच हमारे जीवन में काम करता हो जाय और जीवन में निष्ठारूप से जीवन्त प्रकट हो जाय— कि जिसमें से पीछे कुछ भी किसी से पीछे हटनापन न बने तो ही वह हमें बिलकुल सच उपयोगी हो सके । फिर **इस जीव** से किसी का भी कुछ परिणाम आ सकता नहीं । जिसे जिसे जो कुछ ऐसा लगता है, वह उस **जीव** की **इस जीव** के संदर्भ की सद्भावना के आधार पर उसे वैसा लगता होता है । इसलिए सही यश तो माननेवाले का और जो उसके अनुसार हृदय से वर्तन करे उसका है, यह जानना और मानना ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिःॐ   ता. ३०-३-१९५३

भगवान के भाव का अवर्णनीय अनुभव

कल सुबह भाई मौन में बैठ गये । यहाँ प्रभुकृपा से हरि मिल गया, हरि का अंग मिल गया, 'हरिःॐ आश्रम' मिल गया, कितनी अधिक शांति और नीरवतायुक्त परम कल्याणकारी स्थान मिल गया ! उसमें भी प्रिय स्वजन का जाह्नवीसलिल जैसा पुण्यस्मरण जीवन में जो आह्लादजनक भाव प्रकट करके जीवन को बहलाता है, महकाता है और जीवन के जो कृतकृत्यता का अनुभव करवाता है, वह श्रीभगवान का भाव जो अनंत स्वरूप में झलक रहा है और तब भी वापस एक ही है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञानभाव से अनुभव होते हृदय जो अनुभव करता है, वह तो एकमात्र उस कक्षा का **अनुभवी** हो वही समझ सके। बाकी लोगों का तो कोई सामर्थ्य नहीं ।

*जीव*कक्षा का पुण्य भी बंधनकारक

जीव की इच्छाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ, लोलुपताएँ, द्वन्द्व की अनेक प्रकार की वृत्तिओं आदि उसके स्वभाव अनुसार उसे ऊँचे या नीचे ले जा सकते हैं । यहाँ 'ऊँचे' लिखा है, वह भी समझने जैसा है । **जीव जीव** के स्वभाव और प्रकृति में भी अंतर रहा करता है । किसी किसी **जीव** की इच्छाएँ, कामनाएँ, आशाएँ आदि बिलकुल क्षुल्लक और कनिष्ठ प्रकार की होती हैं, तो फिर कोई कोई **जीव** उससे

कुछ उच्च प्रकार की वृत्ति की कक्षावाला होता है, तो वह उस पहले **जीव** से थोड़ा उच्च प्रकार का गिनाय सही, पर वह प्रकृति के गुण में ही । **जहाँ तक हम सब *जीव*दशा में हैं, वहाँ तक *जीव*कक्षा में हुआ उत्तम कर्म भी *जीव* को बंधनकारक है, वह निश्चय से जानना, *जीव*दशा में हुआ या किया हुआ पुण्य भी बंधन है । इससे पुण्य, उत्तम कर्म न ही करना ऐसा लिखने या कहने का हेतु नहीं है पर चेतन के भाव की अपेक्षा से सही क्या है, वह समझाने के लिए लिखना पड़ा है, यह जानना ।**

सद्‌गुरु का भावस्मरण

तुम्हें जो जो लिखा हुआ है, उसका प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक पालन करते रहने में सार है । हृदय में भावना प्रकट करते रहें और वैसी भावना की भूमिका में नामस्मरण किया ही करें, नामस्मरण तो निरन्तर, लगातार 'तेलधारावत्' किया ही करें । भावना से कोरे हुए लगें, तो क्या सद्‌गुरु मूआ पड़ा है ? तो फिर हम ने सद्‌गुरु क्यों किया है ? उसका हृदय में हृदय से नामस्मरण प्रकट होते हृदय में यदि भाव न प्रकट हो सका तो हमारा दिल सद्‌गुरु में लगा नहीं है यह निश्चित प्रमानना । **यह जीव** अपने सद्‌गुरु का पुण्यस्मरण प्रकट कर करके, हृदय में भावना का प्रवाह पैदा करके, उसके द्वारा जीवन की साधना का काम उनकी कृपा से किया करता था । मनादिकरणों को थोड़े भी शुष्क तो होने देने ही नहीं । भावना से वे जब

सराबोर रहा करते हैं, तब अन्य किसी भी प्रकार के विचार प्रवेश नहीं कर सकते हैं और उठ भी नहीं सकते हैं । वैसी दशा में नामस्मरण आदि साधन, भाव की एकतानता से, एकाग्रता से अच्छी तरह से हुआ करते हैं, ऐसा **इस जीव** का अनुभव है। भाव की एकाग्रता जमते जमते उसमें से केन्द्रितता प्रकट होती है । भाव की केन्द्रितता होते और वह उसकी संपूर्णता की चोटी पर प्रकट होते और उस दशा में लम्बे समय तक टिकते-जीवित रहा करते-उसके बाद उसका विस्तार भी होने लगता है। सद्‌गुरु का चेतनवान पवित्र स्मरण हृदय में हृदय से प्रकट करके उसके हृदय के साथ हमारे हृदय का भावभक्ति से एकतान अनुसंधान किया करके वैसा ज्ञानयुक्त तादात्म्य साध साधकर हृदय हृदय की एकता जब उद्‌भव होती है, उस समय पर ही जीवंत चेतनायुक्त केन्द्रितता प्रकट होती है, वही स्थिति ज्ञानदशा के अनुभव की भूमिकारूप होती है ।

शीघ्र प्रगति

गुरु बिचारा पढ़ाता तो बहुत, पर अत्यधिक करने की प्रबल, उत्कट, हृदय की इच्छा किस **जीव** में जगी हुई है ? कोई ऐसा श्रीप्रभुकृपा से हो और **इस जीव** को उसके द्वारा करके कुछ हृदय में शांति मिले तो उत्तम । प्रयोग किये बिना किसी भी बात का ज्ञान नहीं मिल सकता । ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रयोग किया करने से अत्यधिक शांति, प्रसन्नता आदि मिला

करते हैं । तुम प्रभुकृपा से वैसा करती रहोगी, तभी तुम से संसारव्यवहारवर्तन में उलझना नहीं होगा । सकल कुछ किया करते हों, उसमें से जीवन को ऊँचे तारते रहें, तभी उच्च भावना के क्षेत्र में हम से हृदय द्वारा रमा करने का उनकी कृपा से हो सके । सद्‌गुरु के हृदय के भाव को जब साधक **जीव** प्रेमभक्ति द्वारा हृदय में हृदय से पकड़ता हो जाता है, उस समय से साधक के जीवन का विकास अति शीघ्र हो जाता है । समर्थ मार्गदर्शक मिल गया है, ऐसा ज्ञानात्मक और निर्णयात्मक अनुभव जब **जीव** को होता है, तभी सही निष्ठा उसके हृदय में प्राणवान प्रकट होकर, उसे कभी भी स्वयं अकेला है वैसा मानने नहीं देती । अपने जीवन के प्राणप्रिय मार्गदर्शक की उपस्थिति वह सदा अनुभव करता ही रहता है और उसके द्वारा वह अपना काम सिद्ध करता चला जाता होता है ।

हृदय की भावना

हृदय की भावना तो कोई ऐसे ही तो प्रकट नहीं होती, भावना प्रकट होने के लिए भूमिका की आवश्यकता रहती है । हृदय में प्रकट हुआ प्रेमभाव हो तो भावना प्रकटे पर उसका ज्ञानात्मकरूप से उपयोग होता रहे, तो वैसी भावना में अधिक से अधिक चेतनवान प्राण प्रकट हो सकते हैं । भावना उसके बाद मात्र भावना नहीं रह सकती । भावना की भी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ होती हैं । भावना ठोस वास्तविकता के प्रदेश में

परिवर्तित होती जाती है । उसमें ज्ञानप्रदेश की अनेक प्रकार की वास्तविकताओं के दर्शन साधक को होते रहते हैं । उस समय अधिकतर तो उस दशा में साधक मदमस्त आनंद का उपभोग किया करने में बस पड़ा रहता है ।

उपभोग नहीं, पर उपयोग

पर प्रत्येक ऊँची या नीची कक्षा में उपभोग यह तो मृत्यु है और उपयोग यह ज्ञान है, यह निश्चित समझना । उपभोग में तो **जीव**दशा के ही लक्षण व्याप्त हैं । उपयोग में यज्ञ कर लेने के पश्चात् बाकी रही हुई प्रसादी रूप का ही भाव है, यह भाव तो ज्ञानात्मक है । वैसा भाव कोई मेरे तेरे जेसे **जीव**दशावाले में नहीं हो सके । उपयोग में जैसा आत्यंतिक ज्ञान के अनुभव का प्रत्यक्ष प्राणवान भान—हृदय में हृदय से ज्ञान—व्याप्त रहा करता है, वैसे को तो कोई बाधा होती नहीं, किन्तु हम कहाँ और वैसा आत्मा कहाँ ! इसलिए हमें तो जो भी कुछ का भावना प्रकट करने के लिए उपयोग किया करने का हृदय में ज्ञान प्रकट किया करे तो कभी कोरे कोरे नहीं रह सकें । इसलिए, कृपा करके जागते रहना । अधिक तो क्या लिखूँ ?

सद्‌गुरु को उपयोग में लो

जीवन में बल-प्रेरणा प्राप्त पाये बिना जीवन अप्रिय लगता है । मुझे प्रभुकृपा से जीवन के सद्‌गुरु तो मिले हुए थे और उसकी भावना द्वारा जीवनविकास की साधना का

काम करना था, परन्तु शुरू शुरू में तो बार बार भूल जाता था । ऐसा होने पर उसके संदर्भ में हृदय का प्रेमभाव जगाने का प्रभुकृपा से करता था । ऐसा हृदय का भाव मुझे उसमें जाग्रत बनाता था और ऐसे उसके भावभरे स्मरण द्वारा भावना प्रकट कर करके उस भावना के आधार से–नामस्मरण, भजन, ध्यानादिक के साधन में एकाग्र और केन्द्रित होने को श्रीप्रभुकृपा से यत्न करता । इसलिए, सद्‌गुरु को जो **जीव** उपयोग में लिया करता है, वैसे **जीव** को ही सद्‌गुरु किये का कोई अर्थ है । बाकी तो कंजूस के धन के ढेर की तरह उसे एक तरफ उपयोग में लिये बिना, तिजोरी में बंद रखने का कोई अर्थ नहीं । इससे तो उलटा तो जो सही सद्‌गुरु है उसे अपरंपार कष्ट होता रहता है । वह जब देखता है कि उसका किसी भी ढंग का कोई उपयोग होता ही नहीं, उस समय वह उसके जीवन में रहता होने पर भी नहीं रह सकता ऐसा होता है । यह कुछ किसी को घबराने के लिए नहीं लिखा पर जो सच बात है वह लिखी है । इसलिए तुम उपयोग का भावनात्मक, ज्ञानात्मक, प्रयोग करती रहना । तभी उसकी कृपा से मिलने का अर्थ है ।

गुरु को साधक की उपयोगिता

जीवन कोई मिट्टी में मिला देने के लिए नहीं है । जीवन में त्रास, ऊब, कठिनाई, उपाधि आदि के लिए कहीं भी स्थान नहीं है । वैसा वैसा उपजने पर **जीव** को जीवन

के बारे में सोचना चाहिए । वह सब मिलता है उसके पीछे भी हेतु है । शांति, तटस्थता, समता, धीरज, सहनशीलता, विवेक आदि गुण विकसित करने के लिए वह सब मिलता है । इससे वह तो हमारे जीवन की पाठशाला है । उसमें से यदि सीखने का ही ख्याल न रखें और **जीव**दशा में बहा ही करें, तो ऐसों को तो कौन समझा सकता है ? ऐसों की गुत्थी कभी टूटती ही नहीं है । क्या हम नरक में ही पड़े रहेंगे ? यद्यपि वास्तविक स्वरूप में तो जिसमें हैं, उसमें उस उसके अंतर्गत मूल भाव में ही हम व्याप्त होते हैं । जहाँ तक **जीव**दशा में हैं, वहाँ तक तो बार बार मन को सरका करके, समेट करके, टोक टोक करके उसे संसारव्यवहारवर्तन के **जीव**प्रकृति के अमल में डूबते हुए, प्रवाहित होते हुए, बचा करके, ऊपर तारते हुए उसे श्रीभगवान के चरणकमल की प्रेमभक्ति में सतत पिरोये करने का ज्ञानात्मक आंतरिक प्रयोग हृदय में हृदय से किया ही करना है । इससे वह किया करोगी तभी तुम उपयोगी हो ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ३१-३-१९५३

प्राण के प्रकार

जीवनविकास के साधक के मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् के विकारों को स्पष्टरूप से उन उनसे अलग करके संपूर्ण समझ लेना चाहिए और उस अनुसार खींच जाने का

स्वयं ज्ञानपूर्वक इनकार किया करना रहता है । ऐसा अभ्यास प्राणवान हुए बिना साधना होनी संभव ही नहीं है, क्योंकि स्थूल प्राण अपनी असर मनादि पर करता है, बुद्धि को भ्रमित कर देता है, चित्त में भी दोष उत्पन्न करता है और मन को भ्रमित कर देता है । इससे विचार की संपूर्ण शुद्धता हम में रहना या होना भाग्य से ही संभव रह पाता है । इससे जीवनविकास साधनेवाले **जीव** को प्राणशक्ति का उसके असली स्वरूप में (प्रकृति के स्वरूप में) संपूर्ण समझ लेने का रहता है । हमारे आधार में रही हुई प्राणशक्ति का प्राकृतिक धर्म क्या है, उसके बारे में कौन सोचता है ? प्राण की चपेट में जो जो पदार्थ आता है, उस उसमें से रस का स्वाद ग्रहण करके प्राण के अंतर्गतरूप में जो मूल शक्ति रही हुई है, उसे स्थूल प्राण की भूमिका से परे की दशा में उसका भोग करवाये ।

साधना करते करते प्रभुकृपा से एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती रहती है कि जिसमें प्राकृतिक इच्छा, आशा, कामना आदि को उत्पन्न हुए बिना, स्वयं एकाग्र, और केन्द्रितता से प्रभुभाव में सतत निरन्तर रमा रहा हुआ होता है । वैसे को श्रीपरम कृपालु भगवान जो कुछ अनुभव करवाये उसका स्वीकार करके उसका रस भोगने की आंतरिक कला उसके हृदय में जागी हुई होती है, उसमें स्थूल प्राण कुछ भी भाग नहीं लेता । स्थूल प्राण, सूक्ष्म प्राण और कारण प्राण से भी साधना होते होते ये तीन प्रकार के से एक ऐसे प्रकार के प्राण

का जन्मना प्राप्त होता है, कि जिसे उस समय सभी जो भी किसी के भोग के सामर्थ्य की संपूर्ण शक्ति और सभी प्रकार के मूल का रस ग्रहण करके, स्वीकार करके उसका भोग करने की शक्ति उसमें प्रकट होती जाती वह अनुभव कर सकता है ।

प्राणशुद्धि के लिए मूल को खोजो

उपरोक्त सभी हकीकत हम जहाँ तक **जीव**दशा में हैं, वहाँ तक उस दशा में योग्य ढंग से समझ नहीं आ सकती, तो वह योग्य प्रकार से प्रकट होना कित कितना दुर्लभ हो ! उसके अर्थ का अनर्थ भी होगा । ऐसी हकीकतें न कहने में ही सार है, परन्तु यह तो लिखते लिखते जो लिखा वह लिखा । **जीव**दशा में हम प्राण की भूमिका को संपूर्णरूप से शुद्ध करने के लिए, नित्यमुक्त स्थिति अनुभव करने के लिए तैयारी करनी रहती है । आधार में ऐसी ज्ञानपूर्वक की जागृति की अत्यधिक आवश्यकता रहती है । वैसा **जीव** ही इस तरह से कर सकता है । जब जब संसारव्यवहारवर्तन में हमें किसी भी सुखद या दुःखद अनुभव हो, उस समय ज्ञानयुक्त जागृति रख करके, उसे उपयोग में उस समय अमल करे, उस सुखद या दुःखद अनुभव के रूप का सही मूल क्या है, उसे हम तटस्थता, समता, शांति के गुणों की दशा से संपूर्ण समझना चाहिए ।

हमें वह कहाँ से और किससे उद्‌भव हुआ ? उसका मूल किसमें है ? मूल कैसा है ? यदि सचेतन हो तो उसका धर्म क्या होगा ? हमें वह किसने दिया ? वैसी प्रकृति के हार्द में उसे वेगगति देकर उसे धकेलनेवाले कौन है ? यदि वह अहम् की शक्ति हो तो वह अहम् की मूल शक्ति क्या और कौन-सी ? वे सभी प्रकार की शक्ति के मूल में तो श्रीभगवान की चेतनशक्ति ही रही है। श्रीभगवान की चेतनशक्ति तो जैसे आधार में प्रकट होती है, उस अनुसार उसका स्वरूप प्रकट होता है, तो उसमें उसका क्या हेतु हो सकता है, यह हमें सोचना चाहिए ।

इससे हमें स्थूल प्रकार के प्राण में जो कुछ उठे, उगे, उस समय एकदम उस प्राण के कार्य या प्रगतिकार्य में, उसके आघात या प्रत्याघात में, उसके भँवर में फँसकर, उसमें एकराग होकर उसकी वैसी आशा, कामना, इच्छा, आसक्ति, राग, मोह आदि रागद्वेष के विषय में पड़ जाना नहीं है। सभी कहीं जिसमें और उसमें श्रीभगवान का सभी से परे, आनंददायक मूल रस बसा हुआ है, इससे हम उसके स्थूल स्वरूप को मनादिकरणों में से त्याग करके, निकाल करके, उसमें से मुक्ति पाकर, उसे धकेलनेवाले जो रस मूल का है, उसके प्रति ही हमारा अंतर रहा करना चाहिए, ऐसी साधक की जीवननिष्ठा, उसके प्रति जीवन्त जब हृदय में प्रकट होती है, उस समय स्थूल प्राण के आकार प्रकार से वह कभी नहीं रुकता ।

ऊँची साधक अवस्था में मन की दशा

फूल में जो मधुर मधुर सुगंध है, वैसे रसग्रहणशक्ति द्वारा श्रीभगवान के भाव का ही साधक को अनुभव किया करना होता है। ऐसे ऐसे समय में उस उस प्रकार की स्थूल इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए जाग्रत ख्याल साधक को कभी भी पैदा नहीं हो सकता। जैसे कि ऊपर वर्णित साधकदशा का **जीव** वैसी वैसी सुगंध द्वारा अपने नाक की इन्द्रिय को तृप्त करने का विचार भी नहीं करता होता। बल्कि उसे ऐसा विचार तक भी पैदा नहीं होता। ऐसी सब सूक्ष्म और कारण प्रकार की आंतरिक विधिक्रिया में मन का असल-मूल-धर्म भी योगदान दे रहा होता है। उस समय का यानी वैसी उच्च दशा में हमारे में **जीव**दशा में जैसा मन होता है, उस प्रकार का वह मन नहीं होता। वैसी दशा में यानी कि साधना का उच्चतम विकास होते होते एक ऐसी दशा प्रकट होती है कि जिस समय मन का मूल धर्म बिलकुल **जीव**प्रकार का नहीं रहता है। सर्व इन्द्रियों और करणों की कैसी भी असर, छाप या कैसे भी संस्कारों में वह स्थिर, अचल रहता है और इतना ही नहीं पर उसकी असर, छाप, संस्कारों को वह वह जिस तरह से पड़ते होते हैं; वैसे के वैसे स्वरूप में थोड़े भी विकार का स्पर्श होने दिये बिना वह वह सब अपनी छनी हुई होकर शुद्ध हुई बुद्धि को वैसा मन उस समय भेज देता है और जो भी सभी के स्पर्श सम्बन्धी स्वयं (मन) संपूर्ण खुलकर,

बिलकुल खुला होकर उस अनुसार बरत करके, निष्क्रियता से वह सभी ढंग से वह मन बरतने का अनुभव कर सकता है ।

तब भी प्राण की अशुद्धि के साथ मन का झगड़ा

ऐसी मन की दशा हुई होती है, उस समय भी प्राण की शुद्धि संपूर्ण हुई नहीं होती है, यह निश्चित जानना और समझना । मन की इतनी उच्च कक्षा व्याप्त होती है, उस समय भी प्राण उसमें मिश्रित होकर इच्छा, कामना, आशा आदि उत्पन्न करवा सकता है । ऐसा होता है उस समय हमारा मन जैसा **जीव**दशा में हो वैसे प्रकार का उस समय तो वह होता नहीं है । इससे इन्द्रियों के वैसे संस्कार के उस दशा का मन तटस्थतापूर्वक समता, शांति से अनुभव कर सकता होता है, उस समय पर ज्ञानयुक्त जागृति रख रख करके—वह **जीव** कुछ शक्ति बिना का नहीं हो गया होता—उस समय मन अपनी शुद्ध सात्त्विक बनी हुई पराबुद्धि की मदद मांग लेता है । उसकी प्रेरणा से वह स्वयं समता से प्रत्यक्षरूप से निरख लेता होता है कि उस उस मूल असर-छाप-संस्कारों में स्वयं (मन) प्राण की प्रकृति से चलायमान होकर कितना आगेपीछे होता जाता है ।

जागृत विवेकशक्ति का काम

ऐसा होते होते साधना की एक ऐसी उच्चतम कक्षा प्रकट होती है कि जिसमें साधक की विवेकशक्ति बहुत अधिक सूक्ष्म होकर जागृत हुई दशा में व्याप्त होती है । इससे

ऐसा बहुत सारा सूक्ष्म कार्य वह सरलता से कर सकता है । सामान्य **जीव**कक्षा के मनबुद्धि से, ऐसा कभी भी संभव नहीं है । प्रत्येक खींचनेवाला, आकर्षण पैदा करनेवाला, रस उत्पन्न करनेवाला, कामना पैदा करनेवाला या ऐसे ऐसे प्रकार के संस्कार जन्म लेते हो उसका तटस्थता से, समता से, जागृत मनबुद्धि से, पृथक्करण कर करके उसके आकर्षण का सच्चा मूल किसमें रहा है, वह स्वयं अनुभव कर लेता है, इससे उस समय में वह वह असर, छाप या संस्कारों के स्थूलपन में कभी भी प्रसन्न नहीं रह सकता ।

विवेकशक्ति द्वारा अनुभवदर्शन

मनुष्य की बुद्धि ने जो सभी उत्पन्न किया है एवं कुदरत ने जो जो सब सर्जन किया है, वह वह सभी श्रीभगवान की शक्ति का ही आविर्भाव है । ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता करता वह उसमें से सार ग्रहण करता रहता है और वैसी असर, छाप, संस्कारों में वह बँधता नहीं है, इतना ही नहीं, किन्तु उसमें का जीवंतपन वह जाग्रत स्वरूप से पहचानता है, उसका मर्म भी समझता है, उसका हेतु स्वयं अनुभव करता है और उसके ज्ञानयुक्त उपयोग के प्रमाण में उस समय में श्रीप्रभुकृपा से व्याप्त किया करता होता है ।

उस दशा की बुद्धि का कार्य

ऐसे समय में शुद्ध सात्त्विक हुई बुद्धि संपूर्णरूप से पक्षपात बिना की हो गई होती है । वह पूरी निराग्रही होकर

संपूर्ण निरासक्तरूप में प्रकट हुई होती है, उसमें बहुत सारा सूक्ष्म क्रियात्मक विवेक उत्पन्न होता है, जो संपूर्ण निष्पक्षपातपन का होता है और संपूर्ण समत्वयुक्त होता है । शांति की दशा उस समय जीवित हुई बुद्धि में व्याप्त रहा करती होती है । स्वयं से पर होने की दशा में जो प्रेरणात्मक समझ प्रकट हुआ करती है, उसे वह असल मूल धर्म के स्वरूप में स्वीकार कर सकती होती है, इसलिए इस प्रकार की बुद्धि मन द्वारा प्राण को संपूर्ण शुद्ध करवाने को शक्तिमान हो गई होती है ।

प्रेममय और आनंदमय चित्तदशा

ऐसी दशा जब मन-बुद्धि की प्रकट हुई होती है, उस समय जिसे हम योग की भाषा में चित्त कहते होते हैं, वह चित्त भी उच्चतम कक्षा का बन गया होता है । ऐसी दशा में चित्त का असल मूल धर्म तो शुद्ध सात्त्विक प्रेमभाव का और सहज निरन्तर जिस तिस में से जो जो प्राप्त हुआ करता है, उस उसमें से सहज नैसर्गिक आनंद अनुभव हुआ करने का प्राप्त होता रहता है । उस समय वैसे चित्त का भाव सर्वग्राही और सर्वलक्षी प्रकट हुआ होता है, जिसे जिसे वह स्पर्श करे, अलबत्ता, वह स्पर्श करने के लिए स्वयं तो कभी प्रेरित ही नहीं होता, ऐसे ऐसे निमित्त संयोग से वैसा वैसा बनते वह स्पर्श करता है, उसका प्रेमभाव भी सर्वग्राही और सर्वशक्तिमान बन गया होता है । फिर, जिसमें और उसमें, कण कण में, रोम रोम में, सचराचररूप में व्याप्त रहा हुआ जो सहज आनंद

है, यह दो भाव (प्रेम और आनंद) चित्त में प्रकटरूप से व्याप्त रहा करता होता है । चित्त में बार बार जो जो भाव जागते हैं, उस उस समय ऊपर के दो touchstone से कसौटी के पत्थर से उसे देखते हैं, जाँचते हैं और अनंत शांति, अनंत प्रेम, अनंत भाव और सहज आनंद की स्थिति में उससे लेशमात्र भी भंग नहीं पड़ सकता हो, उसी तरह से तब तब वह अपने को व्याप्त हुआ वह अनुभव कर सकता है ।

आगे की हकीकतें

इससे करके प्राण की **जीव**प्रकार की शक्ति शुद्ध होती जाती है, क्योंकि वह जिस जिस तरह से उठती है, उस उस तरह से तो उसका उपभोग नहीं होता है, इससे करके उसे वहाँ वहाँ शर्मिंदा बनना पड़ता है और वैसे उसके उठ खड़े होने में उस स्वरूप से वह वहाँ पर टिक नहीं पाता । उसे उस दशा के मन, बुद्धि, चित्त अपनीअपनी भूमिका अनुसार स्वीकार करके उसे भी ऊँचे प्रकट करने के लिए प्रेरित करते रहते हैं । ऐसी है उच्चतम साधना के विकास की बहुत बहुत आगे की दशा में प्रकटे हुए मन, बुद्धि, चित्त की हकीकतें ।

समझनेवाला समझेगा

इसे कौन समझ सकता है ? यह तो कोई अत्यधिक आगे बढ़ गया हो वह समझ सकता है । तो फिर तुम्हारे सामने यह सब खाली–खाली पिष्टपेषण किया किसलिए ? एक अनंत में है और एक में अनंत है, इसलिए किसी को लक्ष

में रखा है । उस कारण से तो जब यह लेख व्यक्त होगा और वैसे **जीव** के पढ़ने में आयेगा, तब वह समझना होगा उसके योग्य अर्थ में समझेगा तो वह प्रभुकृपा है । इतनी वह **जीव** की सेवा यानी कि प्रभुभक्ति हुई ऐसा समझकर प्रभुकृपा से कृतार्थ होऊँगा ।

• • •

कुंभकोणम्		हरि:ॐ		ता. ३१-३-१९५३

वैराग्य का सच्चा अर्थ

वैराग्य अर्थात् संसारव्यवहार के संदर्भ में उदासीनता अथवा बेपरवाही ऐसा कुछ उसका प्रचलित अर्थ है । उदासीनता का सच्चा अर्थ क्या हो सकता है वह भी अभी हमारे ख्याल में योग्यरूप से उग सका नहीं है । जो जो समय पर जो जो प्राप्त धर्म्य कर्तव्य हो, उसका योग्य रचनात्मक भाव से स्वीकार करके, उसका पालन करने में सच्चे वैराग्य का कभी भी विरोध नहीं होता है । जीवनविकास की भावना जहाँ तहाँ से उद्दीपन हुआ करे, उस उसमें रस प्रकट हुआ करता है और जो जो ऐसी अंतर की रसवृत्ति को हानि पहुँचा सके ऐसा हो, उसके सम्बन्ध में ज्ञानपूर्वक की जाग्रत उदासीनता सहजता से प्रकट हुआ करे, वह उदासीनता रचनात्मक प्रकार की गिनी जायेगी । आजकल तो वैराग्य के नाम पर बेजवाबदार स्वच्छंदता ही ज्यादा है । अधिकतर साधुसंन्यासी हो जानेवाले **जीव** इस प्रकार के होते हैं और खूबी तो फिर यह है कि

वैसे **जीव** अपने उस भाव को वैराग्य का पहलू गिनते होते हैं । **ध्येय में विशिष्ट, एकाग्र और केन्द्रित राग प्रकट होने में जो प्रेरणात्मक मार्गदर्शन किया करता है वह वैराग्य । सच्चा वैराग्य कभी कर्तव्यभ्रष्ट नहीं हो सकता है ।**

सच्चे वैराग्य के लक्षण - मुक्त के लक्षण

सच्चे वैराग्य की भावना के ज्ञानपूर्वक के अनुशीलन, परिशीलन में से तो उत्तम प्रकार का उच्च, सूक्ष्मतम, विवेक का तीसरा नयन प्रकट हो जाता है । किसी भी दशा को वह समता से शांति से निहार सकता है । वह कहीं किसी के लिए बावरा, उतावला या अधीर नहीं होता है । परिग्रह या अपरिग्रह दोनों में वह उलझता नहीं है । जिस तिस को उसकी यथार्थता में स्वीकार करने को वह सदा तत्पर रहता है । जहाँ परिग्रह की योग्य जरूरत होती है, वहाँ उसे उपयोगभाव से ज्ञानपूर्वक स्वीकार करते उसे तनिक भी आँच नहीं आती है । उपयोग के अर्थ में जरूरत न हो तो उसे खाली-खाली परिग्रह करने का शौक भी उसे नहीं होता ।

अपरिग्रह की बाबत में भी ऊपर अनुसार का वैराग्य का आंतरिक भाव होता है । जहाँ जहाँ आत्मसमर्पण की प्रकटरूप से आवश्यकता खड़ी हो, वहाँ वहाँ वैसा करने को वह उद्यत रहता है और आवश्यकता बिना खाली खाली त्याग करने को वह उतावला भी नहीं होता । वैराग्य की सच्ची भावना में जिस तिस में सहजता प्रकट हुई रहती है । उसमें

ज्ञानपूर्वक की संपूर्ण योग्यता प्रकट होने पर रस को भोगे भी सही, पर उसमें अर्थ तो उपयोग का ही होता है । उस समय उसकी मूल भूमिका तो ज्ञानपूर्वक के उपयोग की होती है । उपयोग के लिए ही ऐसे प्रकार की ज्ञानभानयुक्त भूमिका के साथ उसका संयोग हृदय से जुड़ा रहता है । उसे इससे सच्चे वैराग्य को कहीं किसी खाली खाली विधिनिषेध नहीं होते हैं ।

त्याग करने को वह अधीर नहीं होता, वैसे वियोग हो तो उसकी आतुरता में वह मर भी नहीं जाता । आवश्यकता पड़ने पर ज्ञानभाव से आतुरता के क्षेत्र में भी वह उतर सकता है, पर वैसी आतुरता उपयोग के भाव से ही टिकती होती है । आपत्ति-विपत्ति का वह योग्य सामना समता, तटस्थता, शांति से करता होता है । कहीं किसी से उसे चंचल होना नहीं होता, कहीं किसी से उसे डोलनापन नहीं होता और होता है तो मात्र रस से । वह कहीं किसी से कायरता से दौड़ भागने में तो मानता ही नहीं । उसकी धीरज अपार होती है एवं उसका निर्णय भी वैसा ही होता है । जो जो प्राप्त हुआ है, उसका उसके यथार्थरूप में स्वीकार भी करता रहता है और इनकार भी वैसा योग्य धर्म मिलने पर करता होता है ।

वैराग्ययुक्त के लिए संसार तो गुरु है

वैराग्य की प्रणालिका के संस्कार में संसार मिथ्या है, ऐसी भावना संसार में व्याप्त है, पर यह योग्य प्रकार की नहीं है । संसार मिथ्या कैसे हो सकता है ? संसार तो जिसे सीखना

है, उसे तो प्रत्यक्ष गुरु है ! इससे तो कितना सारा सीखा जा सकता है । संसार में संसारी हो जाने पर वैराग्य हमें योग्य मार्ग का मार्गदर्शन करता है । **संसार यह तो सीखने के लिए पाठशाला है ।** पाठशाला में जैसे पढ़कर ऐसी पढ़ाई की समझ का जीवन में हमें उपयोग करते रहना है, वैसे संसार से वैराग्य की भावना द्वारा प्राप्त समझ का हमें उपयोग किया करना होता है और जीवन में ऐसी कला प्रकट होती है, वैराग्य की भावना का प्रसंग पर उपयोग करने से ।

विवेक भी जागे

विपत्ति, कठिनाई, उलझन, उपाधि, त्रास, संताप, क्लेश आदि जीवन में आते हैं, उस समय वैराग्य की भावना से (यदि वह ज्ञानपूर्वक शिक्षित हो तो) धीरज, समता, तटस्थता, शांति, प्रसन्नता आदि जीवित रह सकते हैं और दृढ़ता, अडिगता का यथायोग्यरूप से पालन हो सकता है । वैराग्य की ज्ञानपूर्वक की भावना का यथार्थ संचालन के बारे का सूक्ष्म विवेक उपयोग करने की कला भी उसके अनुशीलन, परिशीलन से प्रकट होती रहती है ।

जाग्रत रहो

एक स्थान पर यदि जागृति रख सकते हैं तो दूसरे स्थान पर वह उपयोग में अवश्य पैदा हो सके । सँभाल और उपयोग की धारणा हमें सच्चे हृदय से उपजती रहनी चाहिए । इसलिए जिसमें और उसमें जागृति प्रकट करते रह सके तो

सब कुछ सरलता से बहा करता है । नामस्मरण की अखंड धारा बहाया करनी है, इससे पलोपल स्नान किया करना है ।

प्रभुकृपा का अनुभव

तुम्हारे पत्र में जो जहाँ तहाँ न बोल पड़ने के बारे की हकीकत है, वैसी हकीकत का तुम्हारा पत्र तो आज मिला, पर उससे पहले तुम्हें मौन के बारे में लिखने का प्रभुकृपा से हुआ है और तुम्हारे पत्र में तुमने जो हकीकतें बतलायी है, उसके संदर्भ में कैसा बरतना चाहिए, उस बारे में वैराग्य की भावना कैसी प्रकट हुई हो तो वैसा बरत सके, वह सीखने के लिए वैसा भी तुम्हें पहले से लिखने का प्रभुकृपा से हो सका है ।

निराग्रही होकर उपयोग करो

सभी परिस्थितियों में संपूर्णतः ज्ञानात्मक दशा में प्रकट होने के लिए, उपयोग के ज्ञानभान के साथ निराग्रहीता प्रकटाते रहें तो सदा ही आराम, निश्चिंतता, प्रसन्नचित्तता, समता, शांति आदि चमचमाते प्रकट होते रहे और वैसा हुआ करेगा तो ही जीवन का विकास सहजता से होता जायेगा । किसी बाबत में भी कहीं कोई आग्रह न रहे वह साधना के लिए उत्तम है । अंत में तो अच्छे या उत्तम के आग्रह से भी पर जाना है और होने का है । समझ की भी गुत्थियाँ होती हैं और उसमें से भी मुक्त होना होता है, और वह भी निराग्रहता के योग्य व्यवहार को यथाकाल में समझ समझ करके, जिसमें और

उससे भी मुक्त होना होता है और वह भी निराग्रहता के योग्य व्यवहार को यथाकाल समझ समझ करके, जिसमें और उसमें प्रकट करते रहेंगे तो जैसा होनेवाला है या प्रकट होने जैसा है, वैसा होता जायेगा अथवा वैसा प्रकट हुआ करना है यह निश्चित मानना, इससे समझ समझकर निराग्रही ही रहना, परन्तु उस उस समय वैसे उसके ज्ञानपूर्वक के उपयोग का ज्ञान दिल में जीताजागता व्याप्त रखा करना भी अति आवश्यक है । इसके बिना इसका योग्य उठाव जीवन में प्रकट हो सकनेवाला नहीं है उसका ख्याल रखना ।

स्वजनों के जीवनविकास में ही आनंद

तुम्हारे जीवनविकास के लिए ज्ञानपूर्वक की उपयोग की दशा व्याप्त करने के लिए जो जो योग्य प्रकार के कैसे वर्तनव्यवहार होने या बनने चाहिए और उसके सम्बन्ध में थोड़ा बहुत भी तुम बरतती हो, यह जानकर किसे आनंद न होगा ? अपने बालक को एक कदम उठाता देखकर माँ का आनंद हृदय में समा भी नहीं सकता, उस तरह जो गुरु है उसे भी होता रहता है, इसलिए, तुम जीवन्त ज्ञानभान रखकर, मौन रख रखकर (किन्तु फिर इससे किसी को बुरा न लगे वैसा व्यवहार करके) सभी मिले हुए **जीवों** के साथ सुमेलभाव से आचरण करे और शांति अनुभव करे तब आनंद हो और **इस जीव** को शान्ति उपजे । तुम अपने योग्य व्यवहार से **इस जीव** को शोभित करना और तुम्हारे सूक्ष्म ज्ञानात्मक

विवेकवैराग्य की जीवन में प्रकट हुई भावना से **इस जीव** की कीर्ति ध्वजा लहराते रहना। **मेरा यश तुम्हारी जीवनगाथा से प्रकट होना हो तो प्रकट हो सकेगा ।**

स्नेहीजनों का प्रेम प्राप्त करो

मौनयज्ञ ले सकने का मूल आधार तुम किस तरह से अपने आपको शोभित करवा सकती हो, उस पर अवलंबित रहा है। श्रीभगवान की, यानी संसार में जो जो प्राप्त हुए हैं, वे वे सब उस प्रिय के स्वरूप हैं। इससे उनकी सेवाभक्ति से उस प्यारे का ज्ञानभाव से हमें रंजन करना है और यदि ऐसा हम सच्चे दिल से–और वह भी हम अपने जीवनविकास की ज्ञानपूर्वक भावना प्रकट करने के यज्ञकर्म रूप में वह करने का रखेंगे, तो इससे जयकार ही होना है।

हमें सही उपयोग का

यज्ञ करनेवालों को ही उसका फल मिलता है। यज्ञ करानेवालों को यज्ञ का फल नहीं मिलता होता है। तुम लिखती हो कि 'करनेवाले से करानेवाले को यश है, क्योंकि करवानेवाला न हो, वहाँ तक सब बेकार है' वह तुम्हारे लिए यथार्थरूप है, किन्तु मुझे तो जो सही उपयोगी हो वही काम का है, बाकियों का कुछ काम नहीं है। हमें तो प्रभुकृपा से तुम्हारा जो भी सभी उपयोगी, पर वह तुम में उस उस स्वरूप का यथार्थरूप प्रकट करने के उपयोग के लिए जो भी सभी हमें उपयोग का होता है, वह जानना।

जो भी कुछ हमें करना होता है, वह वह सब यदि प्रभु प्रीत्यर्थ ही किया करना हो, तो तो फिर कौन पराया और कौन अपना ? उसमें फिर ऐसा भेद रहेगा ही कहाँ ?

छोटी से छोटी जीवन के सम्बन्ध की हकीकत में जो **जीव** सजग रहकर, अपना योग्य व्यवहार क्या है वह जानकर, विवेक का उपयोग करके, कर्तव्य और धर्म समझकर प्रभुप्रीत्यर्थ उसे समूचा पार उतारता है, ऐसा **जीव** कहीं कभी अटक नहीं सकता ।

देने में ही खुश रहो

जिसे देने से अच्छा लेना ही पसंद है, वैसा *जीव* पतन ही पायेगा । इससे हमें तो देने के यज्ञ में ही प्रसन्न रहना है । किसी के पास से मन में किसी कोने में कहीं कुछ भी लेने की वृत्ति न जागे, उसका सजग चौकीदार हमें पूरी तरह से बनना है । देने में जो आनंद है, वह लेने में नहीं है । इससे जिसके द्वारा जीवन का गढ़न होता रहता है, उनके चरणकमल में, समर्पणयज्ञभाव से सभी प्रकार का जो भी सभी दिया करने का यज्ञ पलभर भी रुकना नहीं चाहिए । अपना अच्छा और खराब-वह सभी दिया करना है, उसे फिर अपना अपने पास रहेगा भी क्या ?

फनागीरी का महत्त्व

मन के किसी एकाध **जीव**स्वभाव के आवेग को संतोष करने के लिए मनुष्य अपना जीवन दाँव में लगाते देखा है ।

जिस **जीव** को कहीं कुछ लत लग जाती है, वैसा **जीव** उस लत की मनोकामना परिपूर्ण करने के लिए फना भी हो जाता होता तो क्या जिस **जीव** को सद्गुरु के लिए भावना प्रकट हुई हो तो वैसी भावना वैसी की वैसी वहाँ पड़ी रह सकती है सही ? सद्गुरु के संदर्भ में हृदय की जागी हुई भावना वैसे **जीव** के पास से क्या क्या नहीं करवा सकती ? यदि वैसा साधक **जीव** कहीं कुछ भी न कर सकते हुए अनुभव हुआ, तो जान लेना कि उसकी भावना यद्वातद्वा है । जगत की किसी एक प्रकार की लत को पोषने के लिए मनुष्य कैसे भी कष्ट और बड़े बड़े जोखिम भी खुशीखुशी सहन करता है, यह तो प्रसिद्ध बात है । इसलिए हमें तो जिस तिस के लक्षणों से परखते रहना है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः३ॐ ता. १-४-१९५३

श्रद्धा बढ़ाओ

तुम वहाँ पत्र लिखो और वह मुझे यहाँ मिले उससे पहले तुम्हें जो पत्र यहाँ के मिलते हैं, उनमें जो जो लिखा हो, उसका मननपूर्वक चिंतन करना । उसका प्रत्युत्तर उसमें फिर मिल गया हो, तो उसका अभ्यास करना और ऐसा ठोस, योग्य सही उदाहरणों से अपनी श्रद्धा को जीवन्त किया करना । फिर, साधक ने अपनी श्रद्धा को जीवन्त किया करने के लिए क्या क्या किया, क्या क्या सोचा और किस तरह

उसका प्राणसिंचन किया, वैसी सब हकीकत भी पत्र में निखालिस दिल से बतलाते रहना । जिस जिस कारण से दिल की श्रद्धा बढ़ती रहती हो, उसे हृदय में प्रेमभाव से बार बार सोचना और चिंतन करते रहना ।

नामस्मरण से मनःशुद्धि

मन के अंदर जागे हुए अच्छे या बुरे की प्रेरणा से ही हम सभी सारे काम करते रहते हैं । ऐसे हुए कर्म तो द्वन्द्व ही जन्माया करेंगे । इसलिए हमें तो मन के अंदर श्रीहरि की भक्ति और उसका प्रेममाधुर्ययुक्त स्मरण इतना ही मात्र प्राणवान गर्जा करे और ऐसी मन की दशा में जो भी कुछ कर्म मिला करे तो वैसे कर्म द्वन्द्व पैदा नहीं कर सकते हैं । इससे रागादि कुछ मंद पड़ जाने का पर्याप्त सँभव रहता है । **इसलिए जिसमें और उसमें, जहाँ और तहाँ, उसके मधुर मधुर नाम को हृदयस्थ रखा ही करना, हमारे *जीव*रोग को मिटानेवाला यही सच्चा तावीज है ।**

धीरज रखकर अपना काम किया करें

दही में मक्खन तो होता ही है, पर वह कहीं एकदम से मिल नहीं जाता । पहले तो दूध में थोड़ा दही को जामन करना पड़ता है वैसे किये बिना तो दही जम ही नहीं सकता– और उसके बाद दूध को एकांत में उसे हिलेडुले नहीं वैसा रखना पड़ता है, और कुछ समय बीतने के बाद उसका दही हो जाता हैं, और उसके बाद बहुत बहुत बिलोना पड़ता है ।

वह बिलोने की क्रिया में भी धीरज की बहुत आवश्यकता रहती है । बार बार खोलकर देखा करें तो पूरा बिलोना बिगड़े । इसलिए यह तो जैसे जो योग्य ढंग से करना हो, उसे वैसे करने में ही लगे हुए रहकर प्रयत्नशील रहा करें तभी जो पकना होगा वह पकेगा ।

दुगुना आनंद

जो **जीव** हृदय की सचमुच संपूर्ण भावना से साधना करता रहता है, उसे परम आनंद और उससे होते जाते प्रभुप्रीत्यर्थ कर्मों से होते रहते आंतरविकास के कारण से जो आत्मसंतोष और आत्मविश्वास प्रकट हुआ करता है, उसके द्वारा भी उसे जो आनंद, उत्साह दिल में जन्मा करता है, ऐसे दुगुने प्रकार में वह उसमें बस मस्त रहा करता है ।

उत्तम साधक की दृष्टि और वर्तन

ऐसा करते करते जैसे जैसे साधक **जीव** साधना में हृदय के प्रेमभक्ति के उत्कट बल और जोश से साहस करता है, जैसे जैसे वह आगे प्रगति करता जाता है, वैसे-वैसे उसे अंतर में अंतर से जाग्रतरूप से ज्ञानभाव से पता चलता जाता है कि वह स्वयं अपने से होते कर्मों का कर्ता नहीं है । यह हकीकत कोई कल्पना नहीं है । उसे सचमुच वैसा अनुभव होता है और ऐसा अनुभव होने पर उसका अहम् उसके बाद कहीं किसी में खड़ा हो नहीं रह सकता है अथवा ऐसे समय में उसमें अहम् टिक नहीं सकता है । वह स्वयं ऐसे समय

में अंतर में अंतर से अनुभव करता है कि वह स्वयं वे वे होते रहते कर्मों का कर्ता नहीं है, पर मात्र कारण है और सच्चा कर्ता तो अंतर्यामी प्रभु स्वयं ही है ।

भगवान का यंत्र होनेवाले की शक्ति

ऐसा अनुभव होते-होते उसके हृदय की प्राणनिष्ठा चेतनामुक्त होती है, श्रीभगवान में ही वह सतत निरन्तर रमा करता है । श्रीभगवान के बिना अन्य कुछ ही उसे सूझता नहीं । ऐसी परम भक्ति के कारण से श्रीभगवान के साथ का उसका आंतरिक संबंध इतना प्राणवान स्निग्ध हो जाता है कि जब और तब वह महाप्रभु की प्रेरणानुसार व्यवहार करता होता है । कुछ समझ न पड़ने पर वह उसके साथ प्रार्थनाभाव से अपने हृदय का तार जोड़ देता है और उस उस समय का जो भी सब प्रेमभक्तिभाव से उसके चरणकमलों में भाव से समर्पण किया करता है और उसे चाहिए उतनी मदद, सलाह, मार्गदर्शन मिला करते रहते हैं । ऐसे अनुभव होते होते उसे अपने जीवन का मार्गदर्शक अत्यन्त पास ही है ऐसी दृढ़ प्रतीति होने पर उसे आराम, निश्चिंतता, शांति, आनंद आदि की कोई अवधि हो सकती है सही ? उसके सिर पर कैसा समर्थ आसरा है । ऐसा फिर कभी नामर्द हो सकता है भला ? या कहीं किसी में डूब जाय सही ? ऐसों को कहीं कुछ चिपका रह सके सही क्या ?

कर्म करने की रीति

जिस **जीव** ने जीवनविकास करने का आदर्श हृदय से निश्चित किया है। ऐसे **जीव** को आलस्यप्रमाद रखने पर जरा भी नहीं चलेगा। पलपल के ज्ञानभक्तिपूर्वक सदुपयोग उसे करना होता है। काल उसका नहीं, पर श्रीभगवान का है। जैसे परायी वस्तु हम उधार लेकर आयें हो तो उसकी कितनी सँभाल रखते होते है ! वैसे काल की भी हमें योग्य सँभाल रखनी है। उसकी अवगणना करने से नहीं चलेगा। **यदि कहीं कुछ धिक्कारना हो तो वह आलस्य, प्रमाद, बेदरकारी आदि *जीव*प्रकार की वृत्तिओं को धिक्कारना है।** बलपूर्वक, त्रासकर, ऊबकर, लाचार होकर कर्मों करने की बुरी आदत हमें छोड़ देनी होगी। इससे हमारे प्रिय प्रभु हम पर नाराज होते हैं। इस तरह कर्म करने से मन की अशांति, संताप, क्लेश, रागद्वेष आदि अत्यधिक बढ़ते हैं। बेमन द्वारा अथवा उतावली में यद्वातद्वा या कैसे भी इधर-उधर, अव्यवस्थित और भाव बिना कर्म किया करना से उलटा बोझ बढ़ता है।

इस तरह कर्म करने से वैसा **जीव** साधना की भावना को बिलकुल समझा नहीं है ऐसा समझना और मानना। **जो कर्म आ पड़ा हो, उस कर्म को व्यवस्थित रूप से, उत्तम से उत्तम तरीका कैसा होगा कि जिससे प्रिय प्रभु के चरणकमल में उसकी भेंट रखने पर वह हम पर बहुत प्रसन्न हो, ऐसा सोच सोचकर, हृदय में उमंग से प्रेमभाव**

रख रखकर, एकमात्र उसे रीझाने के लिए कर्म को उत्तम से उत्तम भाव और उत्तम ढंग से करना है । आ पड़े कर्म में 'होता है, होती है, चलती है, होता है, करते हैं, उसमें क्या चला जाता है ?' ऐसी सभी वृत्ति को पोषण देने का जो **जीव** करता है वैसे **जीव** को साधना का नाम ही छोड़ देना । ऐसा **जीव** साधना को निमित्त बनाकर अपने आपको छलता रहता है । **साधना में दूसरा सब शायद चल सकता है पर दंभ तो नहीं ही चल सके ।**

कुछ ज्यादा हानिकारक दोष

फिर जो कर्म मिलता हैं, उसे आनंदपूर्वक स्वीकार करने की नेक दानत साधक के हृदय में पैदा हुई होनी चाहिए । कर्मों को जैसे तैसे करके आधेअधूरे विचारहीन ढंग से करना वह तो हमारे प्रिय के चरणकमल को अपवित्र करने के समान है । फिर, कार्यों को पूरा करने तक की धीरज कम हो जाने पर उसे वैसे का वैसा रख देने की दानत भी बहुत खराब गिना जाय । कर्म करने में अमुक **जीव** को अति शिथिलता व्याप्त रहा करती है और जो कर्म जीवनविकास के लिए जिस भाव से होना चाहिए उसका यथायोग्य समय से आरंभ और उसे पूरा कर देने की बड़ी लगन यह सब जिस **जीव** में जागा नहीं होता, वैसा **जीव** साधना क्या कर सकता है ?

जो **जीव** स्वयं को प्राप्त हुए समय को आलस्य, प्रमाद, बेदरकारी, अवगणना, अव्यवस्थितता 'होती है, चलती है,

होता है, क्या जल्दी है ?' आदि से दुरुपयोग करता है, फिर, अपनी वृत्ति के यद्वातद्वारूप से कर्म में न जुड़कर घूमना-फिरना किया करता हो, अपनी शक्ति का संचालन कर्म के केन्द्र में एकाग्रता न होने देकर उसे इधर-उधर भटकाना या भिड़ जाने में से जागृति रखकर उसे वैसा करने से रोकने का जिसे दिल ही नहीं होता-ऐसे ऐसे अवगुणों को अवगुण समझकर ऐसे उसके दुर्गुणपन और उसकी असर से बचने के लिए जिस **जीव** को उत्साह, तनदिही से मेहनत करना रुचता भी नहीं, उस **जीव** को हम क्या कहें ? कर्म में ऐसे ऐसे अवगुणों से हमें बचना है । इसलिए उनकी कृपा से जागृति रखनी है ।

कर्म के पीछे की यज्ञभावना

यंत्र में एक स्थान का स्क्रू दूसरी जगह रखने पर पूरा यंत्र अटक जाता है अथवा मशीन का कोई एक भाग दूसरे स्थान पर रखते भी ऐसा होता है, वैसे ऊपर के अवगुणों की असर से होते कर्म से साधक के हृदय की ताजी उदय होती भावना का भी जबरदस्ती से खून कर डालते होते हैं । इससे कर्मों को तो कितनी अधिक प्रेमभक्तियुक्त सावधानी, सजगता, जागृति से और योग्य समझ पैदा करने को वे कर्म उत्तम से उत्तम तरीके से प्रभुप्रीत्यर्थ करके श्रीभगवान के चरणकमल में प्रसादीरूप से रखकर, उसे रिझाने के लिए वे करने हैं । इसलिए कर्म यह तो हमारे प्रिय प्रभु को रिझाने की भावना

का यज्ञ है। उस भावना से आ मिले कर्म में आधार के करणों को हमें जोड़ना है, उसका कृपा करके अत्यधिक लक्ष रखना। कर्म में लक्ष्य का योग्य, एकाग्र और केन्द्रित विधान भी अचूक होना चाहिए।

जो जो पत्र आश्रम में पढ़वाने जैसे लगें, वे वहाँ पढ़वाने भी सही।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. १-४-१९५३

मुक्त हृदय से दो

हिचकते हिचकते थोड़ासा कुछ दिया या दे सकाया तो वैसे देनेपन से कुछ उसकी योग्यता में फलीमूत नहीं हो सकता। देने में यदि कहीं कोई गिनती, मान्यता या इधर-उधर की समझ प्रकट हुई रह सकी, तो वैसा दिया हुआ मिथ्या हो सकता है। जो कुछ देना होता है, वह तो एक यज्ञभावना के रूप में स्वयं अपने विकास की शुद्ध, निर्मल भावना प्रकटाने के लिए जो भी सब वैसा करना होता है। जब वैसे देनेपन में हृदय का प्रपात जैसा उत्साह, हुलास और प्रेमभाव प्रकट हुआ करता और वह छलक जाता उस उस समय अनुभव होता जाता हो, तभी वह देनेपन का यज्ञ उसकी यथार्थता में है ऐसा प्रमानना। यदि ऐसा यज्ञ इस तरह और ऐसी भावना से होता रहता हो, तो उसका परिणाम भी वैसी उसकी योग्यता में प्रकट होना ही चाहिए।

परिवर्तन की आवश्यकता

जो जैसा है, वह वैसा का वैसा रहता है, ऐसा तो कुछ भी नहीं । **जगत अर्थात् ही परिवर्तन ।** तो ऐसे परिवर्तन को हम जीवन में ज्ञानपूर्वक स्वीकार करके स्वेच्छा से अपने जीवन को समूल परिवर्तन उसकी कृपा से करते रहें तो कितना अधिक उत्तम ! जीवन की प्राकृतिक दशा में भी परिवर्तन है ही, वह तो कुदरत का अटल नियम है, उसमें से कोई भी छटक या बच सके ऐसा नहीं है । उस तरह जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र में भी परिवर्तन उतना ही महत्त्वपूर्ण रहा हुआ है । यदि परिवर्तन न हो तो नया कुछ भी सर्जन नहीं हो सकेगा । परिवर्तन वह तो कुदरत की सर्जनकला की प्रथम आवश्यक भूमिका है । कुछ भी होने के लिए परिवर्तन यह तो खास आवश्यक है ।

अफसोस !

हृदय का दान देने की उमंगभरी तैयारी
जीवनविकास के लिए, अरे ! न किसी की देखी

भरपूर आनंद

खीलें पुष्प, खीलें वृक्ष, खीलें कुदरत की सृष्टि
सर्वत्र आनंद की व्याप्ति अहा ! भरपूर लबालब क्या !

साधक द्वारा गुरु का सेवाकार्य

तुम शहर से साबरमती आश्रम में दो दो बस बदलकर आने का करती हो, उसमें तप की जीतीजागती भावना उस

उस समय में ज्ञानात्मक भाव से हृदय में जगाती रहती हो, तो वैसा श्रम भी एक प्रकार के तप समान जीवनविकास के यज्ञ में उपयोगी सिद्ध होगा । मुझे तो इतने से संतोष नहीं होता, परन्तु तुम्हारे संसारव्यवहार के वर्तन में जीवन की भावना प्रत्यक्ष उतरी हुई, जन्म पाई हुई, आकार लेती हुई अनुभव हो, तब मुझे तो आनंद आनंद हो । तुम्हारे द्वारा संपर्क में आये दूसरे **जीवों** की सेवाभक्ति करने का चाव प्रभुकृपा से इस **जीव** को मिलना हो तो मिले । यह सब सचमुच तुम पर अवलंबित रहा हुआ है, यह सदा ही ध्यान में रखना ।

स्वानुभव का ही कथन

पूज्य... ने 'देखादेखी साधे जोग, मरे नहीं पर बढ़े रोग' ऐसी जो पंक्ति कही थी, वह हमें भी लागू हो, तो वैसे समय में तुझे और मुझे मरने की ही बारी आयेगी न ? **जगत में बुरा व्यवहार करके जीना उसके जैसी नामूसी और बदगोई दूसरी कोई नहीं है । जीवन की मृत्यु वह बदगोई और नामूसी** है । इसलिए कृपा करके चौकन्ना रहना । सतत भावनापूर्वक का नामस्मरण करती रहना । हो सके उतना समझपूर्वक के हेतु के भावार्थवाला मौन पालन करती रहना । मौन के बारे में 'जीवनप्रवेश' में लिखा है । वह पढ़ा ? 'जीवनप्रवेश' पढ़ लिया ? **जीवन में जिस अनुसार श्रीप्रभुकृपा से पालन करके बतलाया है, उस अनुसार अनुभव से तुम्हें कहता हूँ । किसी को भी, जो किया नहीं**

या पालन नहीं किया ऐसा कुछ भी कहा नहीं करता । कितकितने सारे वर्ष संघ में काम किया !

कितकितने सारे **जीवों** को तब रस से चर्चा करते सुनना, पर मुँह से एक शब्द भी न कहता था, इतना ही नहीं, पर उसके सम्बन्ध में रस ही उद्‌भव न हो, ऐसा रहनसहन श्रीप्रभुकृपा से यह **जीव** का रहा करता था । तथापि **इस जीव** के मस्तीभरे छलकता आनंद तो जिसने देखा हो, वही जानेगा । प्रत्येक वृत्ति गति करके आकार लेती होती है । तो जीवनविकास के लिए जो भावना प्रकट हुई हो, वह हमारे व्यवहारवर्तन में व्यक्त हुए बिना कैसे रह सकती है ? इसलिए हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में वैसी भावना प्रकट हुई अनुभव करें, तभी हमें संतोष प्रकट करना चाहिए । ऐसे प्रत्यक्ष लक्षण से हमें जीवन को समझना और मानना चाहिए । हमें स्वयं को मापने और समझने का गज़ जीवन में प्रकट करना ही होगा और वैसा गज भी अलग अलग कक्षा पलटने पर बदलता भी जायेगा । हमें ऐसी जीवन की कला अनुभव की परंपराओं से प्राप्त करते रहना है, यह जानना ।

लालसाएँ जीतने के उपाय

इन्द्रियों की लालसाओं को जीतने के उपाय यदि कोई हो तो उस उस समय गद्‌गदभाव से और उसकी वेदना के दंश एवं सालते हृदय के आर्त और आर्द्रभाव से श्रीहरि को प्रार्थना करनी चाहिए । सतत भावनापूर्वक के नामस्मरण का

निरन्तर रटन हुआ करना चाहिए । उसके जैसा दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है । **मनुष्य दूसरे सभी के लिए मर मिटता है, पर भगवान के खातिर मर मिटने का उसे प्यारा प्यारा नहीं लगता है, वहाँ तक उसका सब कच्चा ही है ऐसा समझना है ।**

अंत में तो जयजयकार ही

श्रीहरि की एकदिल से भक्ति और उनका भावमस्तीभरा स्मरण, यह करते करते संसार के सकल कर्म प्रभुप्रीत्यर्थ किया करेंगे, तो हमें कुछ भी चिपकनेवाला नहीं है । सदा ही शांति, प्रसन्नता आदि अनुभव करेंगे । सकल संसार ही हमारा होकर रहेगा, यह निश्चित तौर पर जानना । शायद प्रारंभ में संसार का विरोध जागता है सही, पर यदि हमारे मनहृदय सच्चे होते हैं और हमारा उसके सम्बन्ध में सद्‌भाव सचमुच नैसर्गिकरूप से जागा हुआ रहा करता है, तो उनका विरोध घुल जाता होता है ।

निष्काम भक्ति ही उत्तम

'हमारा श्रीहरि हजार आँखवाला है, हजार हाथपैरवाला है', ऐसा जो कहा गया है, वह उस उस प्रकार के अनुभव किसी किसी भक्तहृदय को हुए होंगे । यद्यपि श्रीहरि की इस प्रकार की वास्तविकता को स्वीकारने के लिए हमारा दिल तैयार होता है, क्योंकि उसके पीछे मनुष्य के दिल की कामनाओं को संतोष करने की लालसा भरी पड़ी हुई है ।

किन्तु हमें तो श्रीहरि को ही भजना है, वह श्रीहरि के प्रेम के ही खातिर । हृदय का प्रेम हो इसलिए उसके बिना दूसरा कुछ भी हमें काम का नहीं होता है और पसंद भी नहीं आता । जहाँ-तहाँ वही हमारी दृष्टि के समक्ष आकर खड़ा होता है, उसमें ही हमारे मनचित्त लगे रहते हैं । ऐसी दशा होती है उस समय का प्रभुस्मरण कोई और ही प्रकार का हुआ करता है । इसलिए उसके स्मरण में मस्त होकर जीए तभी सही ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. १-४-१९५३

गजल

स्वजन को याद कर करके झेलना किस तरह जीवन !
अहा ! क्या झटके लगे स्वजन को नहीं कुछ समझ ।
स्वजन को याद करते वह पूरा स्मृति पट में
न जागे, वह सही सूचित करे स्वजन का भाव न हम में ।
कभी यदि जागे दिल में, अरे ! कहाँ भाग में खटके,
और बिखरे हुए वेश में, न वह है ठाँवठिकाने ।

वाणी से उलटा साधक का वर्तन

श्रीभगवान, कृपा करके हम जहाँ चिपक गये हुए हैं, वहाँ वहाँ आकर हमारा हाथ पकड़कर हमें ऊपर उठाने के लिए यत्न करते होते हैं । अपनी चेतना का अनुभव करवाकर वे वैसा करते रहते हैं । पर हाँ ! हमारी कैसी कायरता और कैसी लाचारी उस समय पैदा हुई रहती है ! उसके कृपास्पर्श

से गढ़ाने के बदले वह बुद्धि का साठियानां अनेक प्रश्न को उठाता है, अनेक शंकाएँ उठाता है और स्वंय अपना उस तरह से विरोधी बनता है और सूक्ष्म ढंग से, अनजाने में, कैसे कैसे विरोध स्वयं उठाया करता है ! और उसकी कैसी कैसी अवगणना और अवहेलना किया करता रहता है ! तथापि वह हमारा हाथ छोड़ नहीं देता, ऐसी उसकी कैसी करुणालु कृपा है ! स्वयं उसके हाथों निर्माण पाना है, ऐसा विचार वह स्वयं जाहिर करता है, परन्तु निर्माण के लिए जैसी जैसी भूमिका अपने में प्रकट होनी चाहिए वैसा करने की वह पूरी प्रेमभक्तिज्ञानभाव से तैयारी तो करता ही नहीं है, तो, उसकी साधना का ज्ञानभान दिन के उसकी दैनिक कार्यवाही में जीवंतरूप से कितना रखता होगा वह तो वही जाने ।

साधक को इतना तो करना ही चाहिए

स्वयं जिसके हाथों आकार लेना है, उसकी वैसी भावना और वैसा ज्ञानभान स्वयं के दैनिक व्यवहारवर्तन में साधक **जीव** को रखना और पिरोना होगा । वैसे ज्ञानभान में उसके हृदय की जीती भावना और धारणा प्रकट हुई और प्रेरित हुई भी होनी चाहिए । हमारे मन, बुद्धि, प्राण और अहम् अनेक प्रकार के दुराग्रह रखते होते हैं । अनेक प्रकार की माँगे, आशाएँ, इच्छाएँ आदि रखते होते हैं । हमें इन सभी से ज्ञानपूर्वक समूल अलग होना है । अनेक प्रकार की निर्बलताएँ हमें टालनी पड़ेगी । कैसी कैसी क्षुद्रता हैं, उसका भान प्रेरित

करना होगा । कितकितनी, कैसी कैसी, अनेक प्रकार की और अनेक क्षेत्र भी संकुचितताएँ भरी पड़ी हैं, उसे निंदा कर करके हमें उसकी कृपा से समूल मुक्त होना ही होगा । फिर, हम में कितना अधिक घोर अज्ञान भरा पड़ा है और हमारी अहंता से 'हम कुछ समझ में हैं, हमारे में कुशलता है, हम ऐसे हैं और वैसे हैं' ऐसे अनेक प्रकार के तुक्के मन, बुद्धि, प्राण, अहम् उठाते होते हैं । उस उस पल उसका, प्रत्यक्ष ज्ञान हमें जाग जाना चाहिए ।

जाग जाना चाहिए इतना बस नहीं है, पर उसे नकार नकार के उससे मुक्ति पाने के लिए हमें उसकी कृपामदद प्राप्त करनी होगी और इसके लिए उसकी हृदय से प्रार्थना किया करनी होगी । हमने मान लिये सुखदःख की समझ में यदि पड़े ही रहा करना हो, तो इस मार्ग में जाने का नाम ही छोड़ देना । स्वयं को बदलने की उमंगभरी ज्ञानयुक्त तैयारी न हो तो जीवनविकास के मार्ग पर जाना कभी भी संभव नहीं । कितने ही स्वजनों के निकट के परिचय में आकर उपरोक्त बात तुम्हें लिखता हूँ ।

सद्‌गुरु की व्यथा और लाचारी

किसी किसी स्वजन को प्रभुकृपानिमित्त से जो जो समझाने जैसा था, वह वैसा कर चूका हूँ, पर एक ईंच भी स्वजन हिलने को उमंग से तैयार नहीं होता और हमें मन में घूँसे मारा करता है, वह उपर से अलग । अब यदि जिसे

चलना ही न हो, उसे कौन चला सकता है ? मनुष्य के आलस्य, प्रमाद, दूसरे अनेक अवगुणों और **जीव**स्वभाव के भावों को यदि वे रहने ही देना किया करे, तो उसे प्रभु भी किस तरह मदद कर सके ? **जीव** को जो जो टालने जैसा है, वह टालने के लिए पहले तो उसे वह वह सब बहुत बहुत सालना चाहिए, वह साले और दंश दे, तो वह उसमें से मुक्त होने को गतिमान हो सके । मानो कि किसी **जीव** से अपने से वैसा न हो पाता हो, तो उससे मुक्त होने के लिए वह हृदय में हृदय से श्रीभगवान की कृपामदद माँगने के लिए बार बार उनकी प्रार्थना किया करता होना चाहिए, ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक की निष्ठा से होते और उसमें उसके हेतु के ज्ञानभान के साथ, किसी में जागता हुआ **यह जीव** अनुभव नहीं कर सकता है । जिस हेतु के लिए हम मिले हैं, उस हेतु को फलीभूत करने को यदि जाग्रत न रह सकते हों अथवा जिसे जो अर्थ के लिए ग्रहण किया हो, उसमें उस कारण से दिल पिरोया न रखा जा सकता हो अथवा हमारे दिल की ज्ञानपूर्वक की भावना उसमें हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में जगाया करने का हम से न हो सकता हो, तो फिर वह बेचारा भी क्या कर सके ?

सहकार तो दो

बालक को चलाना सिखाने के लिए मातापिता नीचे झुककर उसे उँगली देकर चलवाते हैं, उस समय बालक की जैसी आंतरिक भूमिका व्याप्त रहती है, वैसी भूमिका हमारी

रहनी या होनी चाहिए । बालक भी यदि खेल या वैसी उसकी मौज की मस्ती में लगा होगा, तो मातापिता को भी सहकार देने से इनकार करेगा ही । जबकि हम तो जहाँ और वहाँ उसका इनकार किया ही करते हैं, ऐसा तो नित्य का अनुभव है । संसारव्यवहारवर्तन की दैनिक निर्जीव चक्रमाला में ही यदि पिरोये रहना हो, तो फिर हो रहा । वह संसार की ऐसी चक्रमाला भले रही, किन्तु हमें उसमें यांत्रिक चक्रमालारूप से नहीं हो जाना है । हमें तो जागते रहना है । जागकर चैतन्य रहा करना है । चैतन्य रहकर हृदय की समग्र भावना को श्रीभगवान की धारणा में पिरोया करनी है । ऐसी ज्ञानभक्तियुक्त हृदय की धारणा श्रीभगवान के चरणकमलों में हमें एकतार से लगाया करनी है और जो भी सब उसे ही स्मरण कर करके, प्रेम से बस दिया ही करना है । उसे क्षणमात्र भी अपने से अलग रख ही कैसे सकते हैं, ऐसी हृदय की दशा प्रकट होनी चाहिए । अरे ! इतना सब भले न हो, पर अपने दैनिक व्यवहारवर्तन में उसकी चेतना स्मृति हमारे मनादिकरण में रमा करे, वैसा होने के लिए हमारे मनादिकरणों की भावना उस तरह उसमें जीती प्रकट हुई होनी चाहिए, तभी वैसा वह हो सकेगा ।

उसका सूचित करने में यदि आन्तरिक सूझ न प्रकट हो सकी या वह वह कहा करने में न तो उसका चेतनयुक्त स्मरण प्रकट सका अथवा न तो वह उत्तम से उत्तम ढंग से

हो सका, तो वैसा करा-किया पूरा प्रभाव अनुकूल नहीं हो सकेगा वह निश्चित रूप से जानना । स्वयं जैसे हैं वैसे के वैसे ही रहा करना हो, कदम-कदम पर विरोध किया करना हो, अविश्वास और शंकाएँ उठाया करनी हो, उसके हेतुओं में अभी भी हमें प्रामाणिकता की सुवास न प्रकट हुआ करती हो, उसका मनाया हुआ अभी तो हमारे गले पूरा उतरा भी न हो, उसका कहा या सूचित किया कर बतलाने का हृदय का पूरा उत्साह, तनदिही, सँभाल आदि हम में न प्रकटे हों, हमें जैसा होना है, उसका ज्ञानभान हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में यदि हम में न प्रकट होता हो, तो फिर **इस** मार्ग को रामराम करना यह बेहतर है । इसलिए कृपा करके जागकर, चेतकर, बैठे होकर उसकी कृपा से लिए साधन के अभ्यास में निरन्तर लग रहने में सार है । इसलिए तुम तो वैसी होना । बाकिओं का तो जैसा होना हो वैसे भले हुआ करे, परन्तु तुमने तो मुझे वचन दिया है, वह याद है न ? या भूल गई ?

अंतर को गहराई के से जाँचो

हमें अपने आपको प्रथम तो समग्रता से जाँचना होगा । हम जिसके साथ जुड़े हैं, उसे संपूर्णरूप से प्रामाणिक हैं सही ? उसे पूरी तरह से वफादार हैं सही ? उससे जुड़ने की हृदय की नेक दानत हमारी है सही ? या फिर खाली खाली वैसा बोलना है ? वह हमारे में है सही ? हम उसे अपने में जीवित प्रकट करने के लिए, आधार के करणों में उसके लिए

भावना भक्ति है सही ? हमें जीवनविकास की सचमुच पड़ी है ? या फिर खाली खाली दौड़-धूप ही किया करनी है ? ऐसे अनेक ढंग से हमें अपने आपको पूछ पूछकर उसे कसकर देखना होता है । हृदय के भाव की प्रेमलगनी लगाये बिना या लगे बिना कहीं किसी से भी जुड़ नहीं सकते हैं, यह निश्चित जानना । जैसे हैं वैसे के वैसे पड़े रहने से कहीं कुछ नहीं हो सकता है ।

प्रार्थना द्वारा प्रभुपाकट्य

जो जीव अपने साथ रहे हुए जीव के साथ हृदय के भाव से सुमेल यदि साध न सकता हो, तो वैसा *जीव* साधना क्या कर सकता था ? साधना करनेवाले ***जीव*** के कुछ तो लक्षण होने चाहिए न ? या फिर ऐसे के ऐसे हम लिये जुटे हुए हैं ? सोंठ के डले से कोई पंसारी थोड़े ही हो सकता है ? **जगत या संसारी जीवन के किसी भी क्षेत्र में इधर-उधर चल सकता है, पर साधनाक्षेत्र में कोई अपने को छलकर आगे जा ही नहीं सकता** । यदि साधक अपने मार्ग पर प्रमाणिकरूप से, हृदय की नेक दानत से, वफादारी से यत्न करनेवाला होगा, तो उससे हुआ कुछ भी जो खराब या बुरा होगा, वह उसे तुरन्त दंश ही देगा और वह श्रीभगवान के चरणकमल में निवेदन करके फिर से वैसा न हो जाय, उसके लिए दृढ़ निर्धारण उनकी कृपा से दिल में वह दृढ़ करके और स्वयं फिर वह हलका हलका होता जायेगा । ऐसे

अनेक बार भूल दोष होते होते श्रीभगवान को प्रार्थनाभाव से उसकी कृपा याच याच करके क्षमायाचना किया ही करता रहेगा । ऐसे वह श्रीप्रभु के उसके दैनिक व्यवहारवर्तन में कितनी बार प्राणवान किया करता रहेगा ।

कणिका जैसे पैर में खटके, स्वजन-जीवन हृदय खटके,
अरे ! वह सुने कौन ? किसको वह हृदय खटके ?

स्वजन को दर्दभरी प्रार्थना

अरे, प्यारे स्वजनों । जिस लक्ष्य से जुड़ने का किया वह लक्ष्य यदि हृदय से सँभाल नहीं सके और न पालन कर सके और वैसा जीताजागता हृदय से प्रयास न हो सका, तो फिर भला **जीव** प्रेम कहाँ रहा ? हमारा मित्रभाव कहाँ रहा ? जुड़ना हो तो सही रूप से हृदय से जुड़ो, बाकी तो कौन किसे निमंत्रण देने गया था ? इसलिए कृपा करो, गहरा सोचो ।

स्वजन का जीवन देख दिन क्यों भयानक सहना !
फिर भी शिकायत करनी हमें कहीं भी वह है नहीं ।
स्वजन कल्याण-इच्छा की जीवन के प्रेम की भूख,
चीख क्या पड़वाती वह ? क्या सुनेगा नहीं कोई ?

उसके जैसा स्वजन कौन ?

उसके अंतर में सभी तुम सहीसलामत, निश्चिंतता, आराम से रह सकोगे, इससे अधिक क्या कहूँ ? उसके जैसा आराम का स्थान जगत-संसार-के जीवन में कहीं भी नहीं मिल सकता । वह तुम्हारा जैसा है, वैसा जगत में कोई हो सकनेवाला

नहीं है । ऐसे दो नहीं बहुत अनुभव स्वजनों को हो चुके हैं, तथापि अभी मनादिकरण पिघल नहीं जाते हैं, यह कैसे आश्चर्य की बात है ! उसमें संपूर्णरूप से सर्वव्याप्तता से परिपक्वरूप से, ज्ञानभक्तिभाव से मिश्रित होकर मिल जायेंगे, तब हम आनंदस्वरूप में प्रत्यक्ष जिसमें और उसमें जीवित प्रकट हो सकेंगे यह निश्चित हकीकत है । ऐसा अनुभव फिर सहजरूप से व्याप्त होनेवाला है ।

पर उसकी शर्त पर प्रेम करो

यह सब यदि हमें अपने में प्रकट करना हो, तो हमें उनकी शर्तों के अनुसार जीवन जीने की उमंगभरी ज्ञानभक्तिपूर्वक की हृदय की तैयारी प्रकट करके, उस अनुसार योग्य आचरण की इच्छा रखनी होगी । ऐसा जीवन जैसे जैसे जीया जायेगा, वैसे वैसे हमें एवं उसे खबर पड़ती ही जायेगी, वह भी निश्चित है ।

हमें दगा देने में स्वजन दिल क्या मजा प्रकट होगा ।
स्वजन किसके ! स्वजन किसके ! हृदय के रंग न प्रकट हो ?

ज्ञान की सर्वशक्ति

जब **जीवात्मा** को ज्ञान का अनुभव होता है, तब वह कोई अकेला नहीं होता है, ज्ञान के साथ उसकी शक्ति अपनेआप सहजता से संलग्न है ही । जहाँ ज्ञान है, वहाँ शक्ति है । जहाँ ज्ञानशक्ति है, वहाँ सर्वव्यापी सर्वग्राही भाव भी है । जहाँ भाव है, वहाँ प्रेम हो ही । सर्व को मुग्धकर दे ऐसे

आत्मा की नैसर्गिक सौंदर्यकला भी उसके जीवन में प्रकट हुई अनुभव होती है । सौंदर्य की कला में सुमेलभाव, सुसंवादिता आदि चेतन की भूमिका की कलाएँ उसमें सर्जन पाई हुई होती हैं ही । एक कला जन्म ले उससे उसके साथ परस्पर संलग्न ऐसी शक्ति के अनेक पहलुओं के भाव अपनेआप साथ ही साथ प्रकट हुआ करते हैं ।

तथापि सद्‌गुरु की लाचारी

जैसे करोड़ाधिपति होते हैं, तथापि जैसे जैसे जितनी आवश्यकता होती है वैसे वह धनशक्ति खर्च करता होता है, वैसे वैसे का (ऊपर के आत्मा के जीवन का) हुआ करता रहता है। सकल आकर्षण का मूल उसमें होता है। निमित्तसंजोग से जो भी किसी को भी वह अपने पास आकर्षित कर सकता है । अलग अलग प्रकृति के **जीव** को – वे परस्पर विरोधी भले ही हों, ऐसों को भी अपने साथ इकट्ठा रख सकता है तथा आगे जाने पर उन उनका आंतरिक सुमेल प्रकट करने का ज्ञानभान भी उनमें वह प्रकट करता होता है। वैसा करके उनमें हृदय का सुमेलभाव भी जीवित करा सकता है । अब भी वह वैसा हमारे में कर रहा हुआ है । हमारे में वैसा वैसा दिल में स्फुरित होता वह पहचान सकता है, पर उसकी परवाह कौन करता है ? इसलिए फिर वह भी क्या करे ? उसे खिसक जाने का न होने पर भी वह वहाँ काम कर नहीं सकता, ऐसी उसकी लाचारी प्रकट करनेवाले हम सभी ही हैं न ।

उसके ही संपूर्णरूप से हो जाओ और फिर देखो

सच्चे आत्मा की हमारे हृदय में प्रेमभक्तिज्ञानभाव से प्राणप्रतिष्ठा यदि हम कर सके हों, तो तो समग्र जीवन को किसी अवर्णनीय परम आनंद की अवधिरूप प्रकट हुआ हम अनुभव कर सकते हैं। जब हमारा और उसका हृदय एकभाव से मिश्रित होकर मिल गये होते हैं, उस समय उसके हृदय की प्रेमभावयुक्त किसी और प्रकार की मुग्धता से हम तदाकार हो गये होते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष जीवन्त अनुभव हमें होता रहता है। उसके एक धुँधले-धुँधले प्रेमभावमाधुर्ययुक्त नयनइशारे से हम उस पर वारी वारी जाते अनुभव करते हैं। ऐसे समय से ही हमारे जीवन के चेतनात्मक प्रकार का सही जीवन का निर्माण होने लगता है और वह सहजता से हुआ करता है।

सद्‌गुरु की दुःखद कथा

परन्तु यह सब होता रहे उससे पहले तो साधक को स्वयं यत्न कर करके उसकी कृपामदद प्राप्त कर करके, हृदय में हृदय से उसे प्रार्थना कर करके, साधक **जीव** को ऊँचे प्रकट होने का बना करना पड़ेगा। **हमारे आधार में शुरू शुरू में तो वह स्वयं नीचे से नीची सीमा तक उतर उतरकर, वह हमें उँगली दे देकर ऊँचे लेने को प्रेमभाव से यत्न करता है।** किन्तु उस समय हमारे हृदय का साथ उसे हृदय की उमंग के सत्कार के स्वीकाररूप में योग्य भाव से न मिलता होने से वह फिर लौटकर थम जाता होता है,

यह भी निश्चित हकीकत है । क्योंकि हमारे में जो जो सब हलका, स्वार्थयुक्त, मलिनता, अनेक प्रकार के अनेक क्षेत्रों की कुरूपता, अनेक प्रकार की नीचता, अनेक प्रकार की दरिद्रता, घातकता, दिल को चुभे ऐसी हमारी कर्कशता, अनेक प्रकार की हमारी प्रकृति की प्रचंड और घमासान और तूफान मचाये रखे ऐसी इच्छा-कामनाएँ जहाँ जहाँ व्याप्त होती हैं, वहाँ किस तरह से हम में अवतरण पा सके ? उसे हम में जीवित रहा करने की दशा-जगह हमें करके देनी रहती है । वह कौन करके देता है ?

सद्‌गुरु को तो अपना जीवन उड़ेलने की बहुत बहुत मरजी है, पर जहाँ अभी तक हम में निरा स्वार्थ, घृणा, निंदा, तुच्छता, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, कलह, अपकारवृत्ति, लोभ, काम क्रोध, मद, मोह, विश्वासघात करना, कृतघ्नता, प्रकृति के अनेक प्रकार के आवेश और आवेग ऐसा सब भरा पड़ा होता है, वह हमें सचमुच सालता भी नहीं है, उसे अलग करने की सचमुच प्रामाणिक हृदय की दानत भी प्रकट नहीं होती । वहाँ वह बेचारा तो हमारे में ऐसे तो उलझ मरता है कि न पूछो बात ! उसके सामने तब कौन देखता है ? उसे हम से होते त्रास-संताप की किसे पड़ी है ? इसीलिए मैं तो कहता हूँ कि अभी हम में सच्चे प्रेम का जरासा भी अंश प्रकट ही नहीं हुआ है । 'जीवन' 'जीवन' खाली खाली चीखते हैं इतना ही, परन्तु उसकी सचमुच कुछ भी किसी को पड़ी ही नहीं है ।

हृदयपूर्वक सर्व समर्पण करो

हम स्वयं अपना कुछ भी न रहे, ऐसी दशा होने तक ज्ञानभक्तिभाव से श्रीभगवान को हमें आत्मसमर्पण किया ही करना है । पहले तो जो स्थूल हो वह वह सब, उसके बाद जो जो सब सूक्ष्म हो वह वह सब, ऐसा कर करके ऊपर से नीचे तक आंतरिक सब भूमिकाओं का भी उसे जो भी सब आत्मसमर्पण किया ही करना रहता है । इसमें जब हृदय की सच्ची वास्तविकता प्रकट हुआ करती है, तब दिया करने के यज्ञ का अंत भी आता जाता हम अनुभव कर सकते हैं । और ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक के आखिरी छोर तक का संपूर्ण आत्मसमर्पण हुआ न हो, वहाँ तक हमारे अपने निजी पुरुषार्थ की बहुत बहुत आवश्यकता रहती है । इस हकीकत के सामने आँख बंद करने से कुछ भी नहीं हो सकेगा । वह मुझे प्रभुकृपा से स्वजनों को पुकार पुकारकर ढिंढ़ोरा पीटकर बतलाना रहता है, यह जान लेना जी । इसमें तो थोड़ा लिखा है, उसे बहुत बहुत मानना है ।

शुरू में कृपा, फिर पुरुषार्थ

यह *जीव* तुम सभी के पल्ले पड़ा हुआ है । उसे सही रूप में निभाना तुम सभी के हाथ में है । निकाल दोगे तो वह तो चला जायेगा । स्वागत करोगे और उसे सत्कारलायक भूमिका प्रकट कराते रहोगे, तो वह आकर रहेगा भी सही । जो भी सब आधार हमारे अपने पर रहता

है । शुरू शुरू में वह हमारे में कृपा करके प्रकट होता है सही, पर उसके बाद उसे उस दशा में अधिक से अधिक प्रत्यक्ष, जीवित करना वह हमारे हाथ की बात है । इस हकीकत को बिलकुल सच जानने की विनती और प्रार्थना है । उसके साथ शरारत करने या आँख मिचौली करने से चलनेवाला नहीं है । चेतना हो तो चेत जाना है । वहाँ पड़े रहने से उचित हो सके वैसा नहीं है । राह दिखलाया किये से हमें ही अनंतकाल तक अज्ञान में राह देखा करने की बारी आ सकती है, यह भी निश्चित है । इसलिए सर्व स्वजन कृपा करते रहना ! ऐसा कृपा माँगनेवाला भाग्य से ही कोई विरल वीर होता है । उसका सच्चा हृदयस्थ भान प्रकट करते रहना । बाकी तो क्या लिखूँ ?

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. २-४-१९५३

अवतार नहीं प्राकट्य

उसे हमारे में अवतरित करने के लिए हमारे हृदय में अत्यधिक उमंग, उत्साह, प्रेमभाव, तीव्र से तीव्र जागृतियुक्त तमन्ना आदि प्रकट किया करें और इस हकीकत का ज्ञान-भान हमारे दैनिक सर्व व्यवहारवर्तन में चेतनपूर्वक जगाते रहें, तो उस प्रिय को फिर अवतरित होना ही कहाँ रहा है ? वह तो प्रकट पुरुषोत्तम जहाँ और तहाँ है ही । उसे अप्रकट बनाते हों तो वह हम उसे वैसा बनाते होते हैं ।

हमारा ही दोष

वह हमारे साथ होने पर भी वह हमें वैसा लगता नहीं है, उसका कारण भी हम स्वयं ही हैं। हमें श्रीभगवान की सचमुच की पूरी गरज कहाँ प्रकट हुई ? हमारे शरीर में कहीं भी थोड़ी जितनी खुजली का भाव जगता है, तो हमें वह असर लगे बिना थोड़े ही रहता है क्या ? वैसे यदि श्रीभगवान के लिए हमें सही गरज की भावना जागे, तो उसका काम किये बिना कैसे रह सके ? इसलिए सभी जागो, उठो, बैठकर साधन करने में अच्छी तरह लगे रहो । तो तो प्राप्त हुए स्वजन सच्चे । यह तो करना करवाना कुछ नहीं, मानने जैसा भी नहीं और मनाने जैसा भी नहीं । पहचानना कराया होने पर भी उसे सही पहचानना चाहते ही नहीं । ऐसी ऐसी तो हमारी खूबी है !

एक महात्मा की शक्ति का अनुभव

हम सब हिमालय की यात्रा पर जा रहे थे... बहन हमेशा मेरे साथ भोर से पहले ही पैदल प्रवास में निकल पड़ती । भाई, सब सामान ठीकठाक करके बाद में देर से निकलते । हम दोनों तो जल्दी जल्दी निकल जाते । एक महात्मा मार्ग में साथ थे । कितनी ही बार सिर पर बारिस होती हो और वे महात्मा, जोर से हम सुन सकें इस तरह से और ऐसे स्वर से, हम स्थान पर पहुँचे वहाँ तक बारिस रुक जाने की प्रार्थना करते थे । कानोंकान प्रत्यक्ष सुनी यह बात

है । ऐसा कोई एक दो बार नहीं हुआ । एक दो बार हो तो हमारे लोग उसे 'कौवै का बैठना और डाल का गिरना' ऐसा प्रसंग भी गिन लेते । यह तो अनेक बार यह हुआ था । लगभग छ सात बार तो सही । उनकी वैसी प्रार्थना से बरसात गिरती रुकते हुए हमने स्वयं अनुभव किया है । यह हकीकत ...बहन द्वारा पूछकर भरोसा कर सके ऐसा है ।

उनके ऐसे दूसरे अनुभव

वही महात्मा हमारे साथ थे । मार्ग में चलते चलते... बहन को शरीर में मरोड़ उठ रही थी और ऐंठन भी कैसी ! वह तो थोड़े पीछे थी और **यह जीव** आगे चल रहा था । मुँह से उसने यह बात नहीं बतलायी थी । उसे शेक की बहुत आवश्यकता थी । हमारे साथ रसोइया था । उसने और **इस जीव** ने होकर सुलग सके इतनी लकड़ियाँ इक्ट्ठी कीं । उसके पास दीयासलाई थी, वह सभी उसने सुलगाकर देखी, परन्तु कर्म संयोग से सभी समाप्त हो गयी । अग्नि न सुलगी तो न ही सुलगी । अब दीयासलाई तो रही ही नहीं, अग्नि प्रज्वलित करना तो अति आवश्यक था ।

वहाँ घास और ऐसा ऐसा जो सब इकट्ठा किया था, उस पर छोटे छोटे शीघ्र सुलग सके ऐसी शलाका व्यवस्थित रखी थीं, उसके आगे वह महात्मा मुँह से धौंकनी की तरह लगे फूंकने । **बहुत देर तक वैसे फूंकते ही रहे और प्रभुकृपा से अग्नि प्रज्वलित हुई । इसे चमत्कार कहें या क्या कहें,** यह

तो नहीं जानता, पर यह अपनी खुद की आँख से देखी हकीकत है । इसमें कमोबेश फर्क नहीं... बहन को पूछ पूछकर कहाँ भी कोई उसकी जाँच उलट-पलट बदल बदलकर उस बारे में जुबानी लेकर भरोसा कर सकता है । इस बारे में कोई एक दो प्रसंग नहीं हैं । ऐसे प्रसंग की चक्रमाला भी है । ऐसा होने पर भी उससे चेतनापन कौन कर सकता है ? ऐसी तो **जीव** की असीम जड़ता होती है ! और फिर हम उसे हमें साथ न देने के लिए खाली खाली चीख लगाया करते हैं, वह कहाँ की बात भला ! कृपा करके पहले तो वह हमें जगाता है । ऐसा जगाने बाद हम यदि जागते नहीं रहते और सोने का ही किया करते हैं, तो फिर वह बेचारा क्या करे ! हम जागते रहा करें तभी वह अपना काम हमारे में कर सकता होता है, यह निश्चित जानना ।

मानव में अतिमानव शक्ति

अरे, तुम्हें क्या बात लिखूँ ! फिर वही साधुपुरुष हमारे साथ हिमालय में थे । हमें जिस स्थान पर पहुँचना था, वह स्थान अभी ढाई मील दूर होगा । थोड़ी थोड़ी बारिश हुआ ही करती थी । हमारे यहाँ की बरसा और वहाँ के हिमालय की पड़ती बरसात के प्रकार में फर्क होता है । गिरती बारीश में हम उतना चलते ही गये । सिर पर होती बारीश अनुभव कर रहे हैं और चलते चलते उस स्थान में पहुँचे वहाँ तक वैसी बारीश हुआ करती थी, तब भी हम उस स्थान पर पहुँचे

तब हमारे कपड़े सूखे हुए थे ! गिरती बारीश में इतना अधिक चलने पर भी कपड़े पानी से सराबोर न हुए थे, यह अति आश्चर्य नहीं तो दूसरा क्या है ? हम ने कोई सिर पर छत्री जैसा ओढ़ा नहीं था, यह निश्चित बात हैं । इस हकीकत में भी कमोबेश फर्क नहीं और... बहन और **यह जीव** दोनों इस बात के जीवित साक्षी हैं । यह हकीकत जब ये पत्र प्रकाशित होंगे, तब प्रकाशित होने दूँगा । जिससे दूसरे **जीवों** को भी समझ आये कि अभी चमत्कार का जमाना चला नहीं गया है । जिसे जिसे भरोसा कर लेना हो, वह उन्हें मिलकर वैसा कर ले सकता है, पर उसकी एक शर्त रखनेवाला हूँ । बेकार ही कोई आकर पूछा न करे उसके लिए ऐसी शर्त यह हकीकत पाने के लिए है कि जो कोई हमारे प्रकाशित किये हुए पुस्तकों के दो सेट क्रय करके ले, उसे ही उस बात की जानकारी मिल सकेगी ।

अन्य की आपदा स्वयं पर खींच ले

वे साधुपुरुष अभी हमारे साथ हिमालय में थे । एक बार पूज्य बड़ी मा की पालकी लुढ़क गई थी । वे स्वयं भी (यद्यपि वे तो पालकी के स्थान से बहुत दूर दूर आगे थे) लुढ़के और बोले कि ‘आज तो बा की पालकी गिरी और बा एवं सब बच गये ।’ उस महात्मा ने अपने पर वैसा न लिया होता, तो शायद अधिक बड़ा अकस्मात् हुआ होता । इस प्रसंग के भी हम साक्षी हैं ।

किसी का आकस्मिक प्राकट्य और विलोपन

एक बार हिमालय में रास्ता चढ़ते चढ़ते... बहन को बहुत थकान हुई। ऐसी तो भारी प्यास लगी ! और वह प्यास वह कैसी ! कंठ में जैसे काँटे चुभ रहे हों वैसा लगा करे ! अब तो एक कदम भी आगे चल सके ऐसी स्थिति न रही। प्यास तो कहे मेरा काम ! एक स्थान पर कगार की बिलकुल नीचे गहरे पानी का बड़ा झरना बहता था। उतरना अत्यधिक कठिन और जोखिमकारक था सही, पर अब करें क्या ? प्यास बुझाये बिना उससे तो चला जाये ऐसा था ही नहीं। **उस साधुपुरुष ने तो श्रीभगवान को उस समय अंतःकरण से प्रार्थना की। अंत में स्वयं पानी लेने के लिए नीचे उतरने की तैयारी की।** जैसे ही स्वयं कदम बढ़ाने लगे थे, वहाँ अचानक एक लड़का एकदम बहुत ही पास पानी लेकर खड़ा हुआ दिखाई दिया और... बहन को दिया। उस बहन ने पेट भरकर पानी पिया, स्वयं तृषा से तृप्त होकर फिर मुड़कर देखती है, तो वह लड़का दीखा ही नहीं !

रास्ता सीधा था। दूर तक जाते भी देख सके ऐसा रास्ता था। नीचे घाटी में उतरा करे तब भी दिख सके ऐसा था। कैसा भी हुआ, पर पानी प्रभुकृपा से मिला यह बात कोई जैसी तैसी बात नहीं है। शायद लड़का फर्राटे से कहीं चला गया हो और देखने में न आया हो ऐसा भी हो सकता

है । यह सब कैसे भी हो, पर उस साधुपुरुष ने स्वयं अंतःकरण से प्रार्थना की और स्वयं पानी लेने अति जोखिमकारक जगह में नीचे गहरी घाटी में पानी लेने के लिए उतरने को तैयार हुए यह तो हकीकत है । इसके परिणाम स्वरूप उस बहन को प्रत्यक्ष किसी ने आकर पानी दिया, यह भी हकीकत है ।

ऐसे प्रसंग लिखने का हेतु

यह सब लिखने का कारण तो यह है कि अब भी ऐसे लोग पड़े हैं। इस काल में ऐसी बातों का सच लोग मानते नहीं, तो उस बारे में श्रीप्रभुकृपा से यदि किसी **जीव** को लगने जैसा हो सके तो वैसा हो सकता है, ऐसे समझपूर्वक के हेतु से यह सब हकीकत लिखी हैं और प्रकाशित भी की हैं ।

यह सब प्रकाशित होने देने की गंभीरता और उसका महत्त्व भी ध्यान में रखकर वैसा होने दिया है, वह भी निश्चित जानना ।

हिमालय में उस महात्मा के बहुत सारे अनुभव हुए हैं । हमारे साथ जो कोई थे उसकी मना कर सके वैसा नहीं है। उनकी उष्मा और आश्रय हमने अनुभव किया है । उसके साहस, हिंमत, मर्दानगी, धीरज, सहनशक्ति आदि गुणों और उसके जीवन की वैसी हकीकत की बीना भाई... ने वहाँ से लिखे हुए पत्र में सब लिखी भी हैं ।

• • •

'.. बहन यदि इतने बाकी के मील रुद्रप्रयाग तक चलकर दूसरे दिन प्रातःकाल में वहाँ पहुँच जाय तो वह बहुत बड़ा चमत्कार हुआ गिना जायेगा ।'

हमारे अंतिम पड़ाव की रात रहने का स्थान बहुत ही रमणिय था और वहाँ बड़ी बेल आदि चढ़ी हुई थी, इससे वह याद रह जाय ऐसी थी । रात्रि को सामान आदि पेक करके दसेक बजे निबटे होंगे और मध्यरात्रि के दो ढाई बजे तो वहाँ से निकले होंगे और रुद्रप्रयाग आठ बजे तक पहुँच गये थे या शायद उससे पहले पहुँच गये थे । हमारे किसी के शरीर को कुछ भी थकान नहीं हुई और बहन को तो रसोई आदि करने का भी काम था । घी आदि नहीं था, इसलिए उस बहन को भिक्षा माँगकर ले आने को सूचित किया था । इतने सारे मील निरन्तर चलना और वह भी रात को मात्र थोड़े घण्टे सोने को मिला हो ऐसी स्थिति में चलने का करना और वह फिर शरीर को थकान न लगे और उतना चल कर आने पर भी वापिस काम में लग जाना—और वह फिर जिसे जीवन में चलने की थोड़ी भी आदत न हो उसके लिए—यह सारी घटना तेरे मेरे जैसे सामान्य मानवी से हो सके वैसी नहीं है । सामान्य स्थिति में मानवी अवश्य इतना चल नहीं सके, खास करके जिस किसी **जीव** को चलने की बिलकुल ही आदत न हो और आज भी वह **जीव** दो मील तो भाग्य से ही चल सके—यानी कि चल ही न सके, वैसा **जीव** इतने सारे मील

चले और शरीर में अवक्रिया के कोई भी लक्षण बिना वैसा भी हो सके यह बहुत अजीब घटना है ।

हम २८ घण्टे में लगभग ३२ मील चले होंगे । तीन टुकडों में इतना रास्ता काटा था । १३ घण्टे चलने में गये थे । भाई, अपनी हिमालय की नोट में लिखते हैं. कि '२८ घण्टे में (जिसमें चलने के घण्टे तो १३ थे) हम सब ३२ मील चले । यह एक अचंभा हो ऐसी घटना मुझे लगी । और जब चमोली में तो शरीरदुःख से थककर हार गया हुआ ज्ञानसिंग भी (जो बीमार था और जिसे चमोली से अलग ही कर देना था और कर भी दिया था, उसके बदले दूसरा व्यक्ति भी रख लिया था और उसे पालकी उठानेवाले व्यक्तिओं के साथ रात को सुलाया था, पर भोर से पहले वह निश्चित किया व्यक्ति कहीं भाग गया था । ज्ञानसिंग तो चलता बना था, पर उसे दूसरा व्यक्ति दौड़कर जाके दूर से वापिस बुला लाया तब बीमारी के कारण और वह अब पालकी नहीं उठा सकेगा ऐसा खास लगने से उसे न चाहते हुए भी अलग करना पड़ा था, ऐसा ज्ञानसिंग भी) २८ घण्टे में ३२ मील पालकी के साथ चला । इस ज्ञानसिंग के चलने की घटना, हमारे सभी की चलने की घटना, सिद्धुभैया की और... बहन की चलने की घटना – यह सभी आश्चर्यकारक गिनी जायेगी ।

हिमालय की यात्रा को निकले तब हमने सीधे जाकर ऋषिकेश श्री कालेकमलीवाले बाबा की धर्मशाला में पड़ाव

किया था । वहाँ से हम हरिद्वार आये थे । हरिद्वार में भाई सिद्धार्थ का शरीर अच्छा न होने से डॉक्टर को भी बतलाया और दवा ली थी । उसके शरीर को अधिक जुलाब हुआ करते थे । अहमदाबाद में था तब से दवा तो शुरू की थी और निकलते समय भी जुलाब थे । हरिद्वार में ऋषिकेश से आकर भी दवा तो शुरू की थी, पर कुछ मिटते नहीं थे । हम उसकी दवा लेकर शाम के वापिस ऋषिकेश जा रहे थे, तब अपनेआप ऐसा उच्चरित हुआ कि 'आनेवाले कल से तो हमारी हिमालय की पैदल यात्रा शुरू होनेवाली है और सिद्धार्थ को अभी जुलाब बंद नहीं हुए हैं ! उसका शरीर स्वस्थ होता तो अधिक आनंद आता ।' तब भाई ने कहा कि 'तब उसे स्वस्थ कर दो न ?' कौन जाने क्या घटना हुई वह तो केवल श्रीप्रभु जानें । उसी समय से उसके शरीर को अच्छा हुआ, परन्तु उसे जो पीड़ा थी और रोग था वह तो कोई और भोग रहा था ।

उपरोक्त बतलाये साधुपुरुष हमारे साथ थे । रास्ते में उन्हें अनेक बार जुलाब हुए । बार बार पैजामा खोलना न पड़े इसलिए उस पैजमे की सिलाई ऐसी करवायी थी कि पीछे से बटन खोल दें इससे वह भाग खुल जाय । ऐसे अनेक बार उन्हें दिशा जाने का होता और उन्हें उस काम से निपटने में बिलकुल देर न लगती । इससे .....बहन को शंका हुई कि शायद यह खाली तो नहीं है ! पर वे बोली नहीं थी, मन ही

मन में ऐसी वृत्ति उसे हुई थी । **इससे उन्होंने बहन को बुलाकर अपना मल बतलाया । इतना शरीर से भोगने पर भी उसके शरीर में अशक्ति नहीं थी और हिमालय में उनसे चढ़ना आराम से हो सका था ।**

प्रार्थना की श्रेष्ठ महत्ता

ऐसा सब लिखने के पीछे ऐसा एक हेतु है कि जिससे सही रूप से हृदय की भावना से यत्न करनेवाले **जीव** जीवन प्रकट करने में प्रार्थना के रहस्य की कितनी अधिक उपयोगीता है, वह स्वयं समझे और प्रार्थना का ज्ञानभक्तिपूर्वक अंतर में अंतर से आश्रय ले । **प्रार्थना जैसा चेतनवान और बलशाली दूसरा कोई साधन नहीं है । हृदय में हृदय के सच्चे भाव से, आर्तनाद और आर्द्रभाव से, जो *जीव* इसका आसरा लेता है, उसे वैसी प्रार्थना कभी निराश नहीं कर सकती । ऐसी है प्रार्थना की अंतरतम शक्ति ।** जीवनविकास की साधना में हृदय से की हुई प्रार्थना बहुत बहुत भाग निभाती है । किन्तु **जीव** की कैसी परम लाचारी है कि उसे प्रार्थना की शरण लेने का कभी सूझता ही नहीं ! कोई **जीव** करता है तो वह भी कैसी लंगड़ी लंगड़ी कुछ भी कुछ प्राण बिना की ।

जब कहीं सच्ची पूरी गरज जगती है, कुछ गहरा गहरा दर्द हो और बहुत अधिक सालने लगे, तब जो प्रार्थना होती है, उसमें भी दर्द से जो प्रार्थना होती है, यानी कि जिस प्रार्थना के भाव में अंतर का दर्द व्यक्त होता है, वैसी प्रार्थना का भाव

कुछ और होता है । इसलिए हमें तो जिसमें और उसमें उस प्रिय को हृदय में प्रार्थना से पुकारा ही करना है । प्रार्थना से जिसे जो बल प्रकट होता है, जो आत्मविश्वास प्रकट होता है और जीवन के सच्चे आधार का जो पता लगता है, वह प्रार्थना की सच्ची शरणागति सही रूप में समझ सकता है । **इस जीव** ने तो प्रार्थना कर करके जीवन में रचनात्मकता उसकी कृपा से प्रकट करने का किया है । इसलिए कभी भी लाचार नहीं बनना । **संसारी *जीव* के आगे कभी लाचारी प्रदर्शित मत करना । लाचारी बतलानी हो तो केवल हमारे प्रिय प्रभु के पास ही हो । कहीं कुछ होने पर प्रार्थना करे । प्रार्थना तो काम करते करते भी हो सकती है ।** मन को कभी भी ग्लानि में न डूबने देना । मन की शांति, प्रसन्नता, समता, धीरज आदि तो जैसे अखंड जीवित रहे वैसे प्रभुकृपा से यत्न करना है ।

प्रार्थना से सनाथता

प्रार्थना से कैसी कैसी गैबी मदद मिलती है, उसका अनुभव जब जीवन में प्रकट होता है, तब वह स्वयं कुछ किसी से कभी भी घबराता नहीं है । उलझन, कठिनाई, उपाधि, क्लेश, संताप आदि आने पर वह दुविधा में नहीं पड़ता है । वह उस समय प्रार्थना का शरण ग्रहण करता है और स्वयं वापिस सनाथ होता है । संसारव्यवहारवर्तन में हम से अनेक बार अनाथ हो जाने के प्रसंग आया ही करते हैं,

पर उस समय सनाथ हैं उसका ज्ञानभान वैसे वैसे प्रसंग में प्रकट हुआ करे, तो जो जो प्रसंग हमें अनाथ करने का यत्न करते हैं, उसे हमारे हृदय की सनाथता की ऊष्मा, आसरा और सहानुभूति से उसे, यानी कि वैसे वैसे प्रसंग के हेतु को, वे व्यर्थ बना देते हैं। फिर दुबारा हम उससे अधिक तेजस्वीतावाले प्रकट हुआ करते हैं । ऐसी है प्रार्थना की अद्‌भुत शक्ति ।

दुःखमय प्रसंगों को प्रभुकृपा जानो

हमारे अहम् पर तो बहुत प्रहार होते हैं, वह तो अत्यधिक आवश्यक है । **अहम् के लय बिना हृदय खुला नहीं हो सकता** और उसके बिना हृदय की शक्ति का अनुभव भी कहाँ से हो ? ज्ञानभाव से सीखने, अनुभव प्राप्त करने के लिए अहम् जितना अधिक से अधिक नम्र बने उतना अति आवश्यक है । फिर, शून्य हो वह तो कित कितना अधिक आवश्यक है ! इसलिए ऐसे प्रसंग संसारव्यवहार में जो प्राप्त हुआ करे उसे तो जीवनविकास के हेतु से और वैसे ज्ञानभाव से बहुत बहुत हर्ष से स्वीकार करें । उसके पीछे के हेतु का ज्ञान अंतर में उस समय प्रकट किया करने से वैसे दुःखद प्रसंगों से कभी शोक नहीं होता या खराब लगने जैसा नहीं होता, या बुरा लगने का नहीं होता या न किसी पर रोष प्रकट होता है । संसारव्यवहारवर्तन में वैसे वैसे प्रसंग तो प्रभु ने कृपा करके हमें गढ़ने के लिए खड़े किये हैं । इसलिए तो उसमें अति अति विपरीत अंतर का भाव प्रकट होना चाहिए । उस तरह

से प्रसंग को देखने, समझने, अनुभव करने का जो **जीव** कर सकता है, वैसा **जीव** ही प्रसंग से गढ़ाता जाता है । इसलिए प्रसंग को सच्चा गुरु समझें ।

आगे से ही उत्तर

प्रार्थना करने का सूझता है, यह तो बड़ी उत्तम बात है । तुम्हारा पत्र मिलने से पहले ही प्रार्थना के बारे में हकीकत लिख रहा था । जीवनविकास के मार्ग में प्रार्थना अत्यधिक बड़ा भाग निभाती है । प्रार्थना जैसा कोई सबल साधन नहीं है । अंतरतम की सच्ची प्रार्थना का पुकार खाली गया हुआ नहीं जाना है ।

इस जीव के अनुभव को तुम याद कर करके सीखने और जाग्रत रहने का करती हो, वह तुम्हारा **इस जीव** के सम्बन्ध में प्रेमभाव सूचित करता है ।

सच्ची नम्रता

यदि हमें भगवान के मार्ग पर सचमुच जाना हो तो हमें नम्र से नम्र बनना है । रास्ते में जानेवाला भी हमें दुत्कारे तब भी हम प्रेमभाव से नम्र रह सकें और शांत रह सकें, मन में कहीं कुछ उगे नहीं ऐसी स्थिति हो तो वह उत्तम है । जीवनविकास में आगे जाते जाते एक ऐसे प्रकार की नम्रता प्रकट होती है कि वैसी नम्रता में, नम्रता संपूर्ण होने पर भी वह नम्रता स्वयं ही शक्तिस्वरूप बनी हुई होती है ।

इस **जीव** ने नम्रता की शिक्षा ज्ञानबूझकर, समझपूर्वक विकसित की थी । सेवा के क्षेत्र में जहाँ जहाँ अधिकार था, वहाँ पर उसे छोड़ देकर उससे नीचे के पद की जगह का स्वीकार करने का ही किया करता । बराबर की स्थिति में होने पर भी कहीं किसी अधिकार का दावा नहीं किया । नडियाद की शाला में यह **जीव** मुख्य पद पर था और आश्रम में भी, परन्तु मुझ से नीचे के पद के शिक्षक को आचार्यपद पर रखकर उसके हाथ नीचे ही काम करने का रखता । इससे उस शिक्षक को भी उत्तम शिक्षा मिलती, सीखने को मिलता । फिर उस **जीव** को बहुत अच्छा लगता । बोदाल आश्रम में मुख्य व्यवस्थापक रूप में बदली हुई थी, पर उस जगह पर हेमन्तभाई को ही मुख्य व्यवस्थापक नियुक्त करने का, ऐसा मैंने अपनेआप ही हमारे संघ की व्यवस्थापक सभा को विनती की थी, हेमन्तभाई को अपना उपरी मैंने स्वयं बनाया था, वह भी अपनी ही माँग से । **इसलिए प्राप्त अधिकार को भी जाने देना हम प्रेम से सीखेंगे और दूसरों को आगे लाने का हम प्रेमभाव से करेंगे तो उसमें हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा ।** संसारव्यवहारवर्तन में कहीं किसी में अहम् न आये ऐसी तो संपूर्ण सौ प्रतिशत जागृति रखनी है । जिसमें से अहम् न जाये वह कभी चेतन के प्रकार में प्रकट नहीं सकता । अहम् यह तो चेतन का, प्रकृति द्वारा प्रकृति में काम करता प्रवाह है । **चेतन जिसमें प्रवेश करता है, उस उसके रूप में ही व्याप्त होता है ।**

स्थूल युद्ध से सूक्ष्म युद्ध चढ़े ।

किसी के संदर्भ में नकारात्मक भाव पैदा हो, यानी कि उसका बुरा हमारा मन सोचा करे कि तुरन्त ही उस **जीव** के उत्तम पहलुओं को याद करना । उसने हमारा अच्छा चाहा हो, उत्तम कहा हो, उत्तम किया हो, वह वह याद करना । कहीं कुछ नकारात्मक भाव आये कि अनचीता चेतना, जागना, चेत जाएँ या जाग जाएँ तो जानना कि अब हमारे मन को वैसे वैसे में पड़े रहने की लत से छूटने की इच्छा हुई है । ऐसा बार बार चेत जाते हों तो वैसा **जीव** अवश्य भगवान का होनेवाला है, यह निश्चित जानें । ***'चौकन्ना नर सदा सुखी'*** ऐसी एक कहावत है । उसकी भिन्न-भिन्न कक्षा के अलग-अलग अर्थ होते हैं । **जीव**प्रकार का भाव जागे उस समय हमें प्रभु को, उसमें से मुक्त करने के लिए प्रार्थना करनी । प्रार्थना के भाव से आंतरिक बल प्रकट होता है, कोई भी नकारात्मक वृत्ति उद्‌भव हो, उस समय चेतनयुक्त अंतर की जागृति रख रख के उसका पूरा सामना करना और वैसी वृत्ति को टालना यह कोई जैसा तैसा काम नहीं है । स्थूल प्रकार की मर्दानगी वैसा कर्म माँग लेती है । तुम से सदा उस तरह आचरण होता जाय वैसी हृदय की अभिलाषा तुम्हारे सम्बन्ध में **इस जीव** की प्रकट हुआ करती है । इसलिए सदा ही जाग्रत होकर श्रीप्रभु में मनादिकरणों को प्रेमभक्ति से पिरो पिरोकर तुम उसकी कृपा से मर्द बनती रहना ऐसी प्रार्थना है ।

अंतर को जाँचने के लाभ

तुम्हारा अंतर्यामी जाग्रत हो जाय और तुम चेतनपुरुष का पहलु ज्ञानभक्तिभाव से हृदय में हृदय से सेवन करती हो जाओ, तो नकारात्मक भाव उत्पन्न होने के कारण हमें मिलने में देर न लगे । **हमें समता, तटस्थता, शांति से हमें अपने आपको जाँचना होगा ।** मन में जो जो भाव उठें उसका पृथक्करण करना होगा और जो जो वृत्तियाँ, विचार, मनोभाव और भावना जागे उस उससे अपने आपको अलग करते रहना होगा । इस तरह विशेष गहरे में उतरते रह सके तो स्वयं अपने को योग्य रूप से समझ सकेगा । प्रसंग से मन को कभी भी अशांत न होने देना । संताप, त्रास, क्लेश आदि हो अथवा मन को प्रसंग से ऐसा होने दिया, तो वैसा मन प्रसंग को गलत ढंग से दिखलायेगा और गलत ही ढंग का मूल्यांकन हमारे द्वारा करवायेगा । वह हमें उस तरह से पछाड़ खिलवायेगा । इसलिए जीवनविकास के साधक से तो मन को अनुकूल, प्रसन्नचित्तता, शांति, समता में यदि प्रभुकृपा से रख सकने का हो पाया तभी प्रसंग को योग्य रूप से समझ सकने की शक्ति हम में उग सकती है, यह निश्चित रूप से जानना । और तभी हम जाग्रतरूप से रह सकते है यह निश्चित प्रमानना ।

अपना उदाहरण

इस **जीव** को संघ में कोई अन्याय नहीं हुए ऐसा तो नहीं है, परन्तु यह जगत और संसारव्यवहार में न्याय अन्याय

के पहलू रहे होने से न्याय भी हो और अन्याय भी हो, ऐसा तो हुआ ही करेगा । **अन्याय किसी तरफ से हुए हों, पर तब भी उनके सम्बन्ध में सद्भाव ही रखा करना, वह हमारे विकास के लिए उत्तम हकीकत है ।** फिर, हमें जो अन्याय होते दिखता है, वैसा सचमुच का अन्याय करने का हेतु शायद न भी हो । प्रभुकृपा से **इस जीव** ने तो जो भी के संदर्भ में सद्भाव ही रखा किया है । जानबूझकर माँगकर नीचे के पद का ही स्वीकार करता, वहाँ भी ऊपर के पद की अधिकारिता कहीं भी झाँके नहीं उसका तो प्रभुकृपा से पर्याप्त ज्ञानभान रहता ।

आज भी मेरे जीवन के उस काल के कर्मसाथी मित्र इस हकीकत के साक्षी हैं । साथ साथ काम करने पर भी और एक ही संस्था में काम में लगे होने से, किसी भी दिन बिना समझेबूझे बीच में अपनी बात तो की ही नहीं है । मुख्य पदवाले को सूचना, सलाह देने का भी भाग्य से ही होता । कभी भी आगे बढ़कर कुछ बटोर लेने का होता ही नहीं । हो सके उतना उस समय भी प्रभुकृपा से मौन रखता । काम करने में सभी के साथ समानरूप से पूरी तरह रह सकता था । ऐसी सब हकीकत लिखने का कारण तो यह है कि जिससे तुम तथा अन्य स्वजन इससे समझें और वैसा आचरण कर सकें । जो करता हो उसे ही कह सकते हैं । जीवन को व्यर्थ खर्च नहीं कर देना । उसे जरा भी कहीं किसी में व्यर्थ खर्च

कर देने का हो जाते हमारे दिल में दुःख होना-दरार पड़ना चाहिए। हमारे हृदय में तो उस समय उसकी गहरी, भयानक दहशत होनी चाहिए। यदि ऐसा हो तभी हम चेत हुए रह सकते हैं। जीवन के ऐसे समय में अंतर में डर अनुभव हो, तभी समझना और मानना कि हम से जीवनविकास के मार्ग पर अवश्य चला जा सकता है। किसी का भी हम पर से भाव कम न हो ऐसा बरतना हो।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. ३-४-१९५३

जिगर का जोश जहाँ प्रकट हो, अकल्पनीय कर सकेगा,
जीवननिष्ठा प्रकट होते तो सब में भाव निथरेगा।

यदि हृदय से जीवनआदर्श स्वीकार कर सके तो

हम कितने भी निर्बल भले हो, पर जीवनविकास का आदर्श सच्चे, संपूर्ण रूप से हम हृदय से स्वीकार कर सकें हो, तो जीवन में नये प्राण स्फुरित होते हम अनुभव कर सकेंगे। नयी दृष्टि, नयी समझ आती हुई हम अनुभव करते रहेंगे। हमारी पुरानी मनोदशा को पलटते हुए हम अपनी स्वयं की आँख से देख सकेंगे। फिर तो वही के वही प्रसंगों को, हकीकतों को, वही की वही **जीव** की मनोदशा वही की वही होने पर भी हम उसमें उसमें उस तरह कभी फँस नहीं जाते हैं। हम प्रभुकृपा से अलग निखर आते हुए हम अनुभव कर सकते हैं। जीवनआदर्श के मार्ग में धँसते जाते, जीवन में

प्रकट होते ऐसे लक्षण हम जब अनुभव करते हैं, तब हम सही मार्ग पर हैं ऐसा माने । जो भी सब लक्षण से स्वीकार करने का करे ।

जहाँ वहाँ से ऊँची समझ प्राप्त करो

जीवन के उलटेसुलटे पहलुओं में सही रूप से क्या क्या है, उसका ज्ञानपूर्वक का हृदय में हृदय से अनुभव प्राप्त करना और उस तरह जो ग्रहण करने का हो, उस तरह उसे जीवन में स्वीकार करते रहना है । जीवन को जो भी प्रसंगों से उच्च लाते रह कर जिस तिस में से हमें जीवनविकास के योग्य समझ लाया करनी है । वैसी समझ हमें यदि सरलता से मिला करे, तो जाने और माने कि हमारा काम पकने के अंत पर है । प्रसंग, घटनाएँ, हकीकतों से अपने आप न समझ आता हो तब भी बुद्धि को सजाग, सतेज कर करके, जो भी कुछ का हार्द हृदय से पकड़ा करना है । वस्तु, प्रसंग, हकीकत आदि कहीं स्वयं तो समझाने आयेंगे नहीं, हम स्वयं उन्हें यथायोग्यरूप से समझने का करेंगे तो वह जीवन में सहेतु, प्रभुकृपा से प्रकट हुए हैं, ऐसा अवश्य समझ सकेंगे । समझने का काम हमारे हाथ में है ।

जीवन-उषा के लक्षण

संसारव्यवहारवर्तन में कुछ कुछ ऐसा हुआ करेगा कि जिससे हमारा सिर ऊँचे हुए बिना रह ही न सके । ऐसे कठिन समय में यदि शांत, तटस्थ रह सकने का प्रभुकृपा से हो सका

तो जानें और समझें कि मन अवश्य शांत हो सकता है और हमारे में जीवनविकास के बारे की जागृति सहज आ सकती है। ऐसे सारे लक्षण जीवन की प्रकट होती उषा के हैं। यदि हृदय की चेतनयुक्त जागृति प्रकट होती रह सकी, तो तो सकल कुछ उसकी यथार्थता में कर सकने को हम समर्थ हो ही सकते हैं, ऐसा निश्चिय से जानें और मानें। इसलिए जैसे तैसे करके कृपा करके जागृति रखने में ही हृदय से ज्ञानभान लगाया करे ।

जागृति का आरंभ

किसी के बारे में कहीं भी मन में लग न जाय इसका पर्याप्त ध्यान रखना है। कहीं किसी के बारे में मन मत न बाँध ले, उसकी सावधानी, सँभाल रखकर जागृति रखा करनी है। **आंतरिकरूप से उठते विचार, वृत्तिओं को पूरी तरह से समता, तटस्थता से जाँचते रहना, उन्हें पसार होने दिया करें, उनके साथ आनुषांगिक साँकल से जुड़ने से रुका करे ।** ऐसा ऐसा योग्यरूप से हुआ करता अनुभव हो तो जागृति का आरंभ हो चुका है ऐसा प्रमानना ।

सभी प्रभुप्रसादी

सर्व कोई मिले हैं, वे हमें मठारने के लिए, ऐसी दृष्टि, वृत्ति और भाव प्रभुकृपा से जीवननिष्ठा प्रकट करने के लिए ज्ञानपूर्वक यदि हम रख सकें तो तो किसी के सम्बन्ध में अन्यथाभाव प्रकट होने का संभव बाद में तो नहीं रह सकता

है । सच भी वह है कि जो भी कोई जीवन में सयानापन प्रकट करने, हमें इशारा करने, चेताने के लिए जो जो कुछ उसकी कृपा से मिला हुआ है, वह वह कुछ उसकी प्रसादी है । हमें जिस तिस को उस भाव से जीवन में प्रेम से स्वीकार करना है । इसका नाम है जीवन की यथार्थ साधना ।

ज्ञानपूर्वक धँस जाओ

तुम **इस जीव** को जीवन में जीवन से दीप्त कर सको तो पूरी आलम में प्रभु की मैं तो बांग पुकारुं । तुम्हारी वैसी समर्पण की गाथा में हृदय के भाव से आभारवश हो होकर उसे सदा आभारभाव से स्मरण ही करूँ । साधना में स्थूल रूप से संपूर्ण गड़ने जैसा रहा है । यदि समझपूर्वक वैसा हुआ होगा, तो वैसा होने से आनंद, शांति, समता आदि प्रकट हुआ करेंगे । त्याग, बलिदान और समर्पण की भावना से यदि आनंद प्रकट न हो सका तो अवश्य समझें कि वैसे वैसे त्याग, बलिदान और समर्पण में हृदय का सच्चा भाव अभी प्रकट नहीं हुआ है । मुश्किल से हुए त्याग, बलिदान और समर्पण वह त्याग, बलिदान और समर्पण नहीं है, उसमें तो उलटा जीवन को कुचलने जैसा रहा है । मुश्किल से जो कुछ होता हो, उसमें से अशांति, संताप, त्रास आदि ही पैदा होते हैं । इससे तो जीवन अति बोज रूप ही लगेगा । जीवन को व्यर्थ ही कुचलने नहीं देना है । जीवन को नीचे आखिर तल में गड़ जाने का होने पर, जमीन में वहाँ उसे संपूर्ण मिलना

होने पर और समूचा मरना होने पर, वहाँ प्रभुकृपा से वर्षा होते उसमें से नये बीजांकुर फूट सकने के हैं, वह ख्याल में रखना। इससे संसारव्यवहारवर्तन में हमें जो ज्ञानभक्तिपूर्वक दट जाना है, वह तो ऐसे जीवन्त यज्ञ की भावना प्रकट करने के लिए है।

संसार में जीने का हेतु

तुम्हें काम होने पर भी लंबे लंबे पत्र लिख रहा हूँ, उसका **इस जीव** को ज्ञान है और यह पत्र केवल तुम्हें लक्ष्य करके नहीं लिखे हैं। इन पत्रों लिखने के पीछे तो प्रभुकृपा से जीवनविकास के हेतु के लिए जिन्होंने जिन्होंने अपने आप **इस जीव** को स्वीकार किया है, उन्हें उन्हें इस पत्र द्वारा और उसे लिखते समय में उसमें हृदय की भावना उड़ेल उड़ेल करके, उन्हें जगाने का हेतु रहा हुआ है। जब **भाव** प्रकट होता है, तब वह कुछ सोचने नहीं बैठता है। भावप्रेरित ज्ञान से जो विचार प्रकट होता है और हम सब **जीव**दशा में होते हैं, उस समय जो विचार प्रकट होते हैं, इन दोनों प्रकार के विचार में बहुत बहुत अंतर रहता है। भाव से यदि योग्य प्रकार का ज्ञान न प्रकट हो तो उस भाव की यथार्थता कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? इससे ऐसे लंबे लंबे पत्र लिखने में भी सहेतुकरूप प्रभुकृपा से व्याप्त है, वह तुम अंतर से समझने का यत्न करना।

उस तरह ऐसे पत्र के हार्द और उसके मर्म का स्वीकार करना । लंबे लंबे पत्रों को उतारने की धमाल और उसकी धाँधल में मत पड़ जाना । जो कर्म करना है, उसके हेतु का ज्ञान दिल में जीवित रखना । काम में यदि त्रास अनुभव हुआ तो मेरा उतना काम बिगड़ा ऐसा गिनना । कर्म कुछ भी हो, वह संपूर्ण स्वस्थता से हल करना है यह जानना । कहीं किसी में भी आकुलता, संताप, घबराहट, अशांति, कठिनाई, त्रास आदि न उपजे उसकी तो संपूर्ण सावधानी रखनी है । वैसा हुआ तो संसारव्यवहारवर्तन में बारंबार जीवन को सजीवन किया करना है, जीवन को प्रत्यक्ष किया करना है । उसके लिए ही हमें तो जीना हो तो जीना है । संसार के लिए हमें जीना नहीं है । हमें तो जो जीना है, वह उसकी कृपा से संसार से बेड़ा पार होने के लिए जीना है ।

संसार की चक्रमाला में चक्रमालारूप से जड़ यंत्रवत् नहीं होना है । संसार तो यंत्रवत् चला ही करनेवाला है । हमें जड़ यंत्रवत् जीना नहीं है । जो जो कुछ कही यंत्रवत् हुआ कि उसमें से प्राण गये समझो । इसलिए जिस तिस को रूढ़िरूप न बनने दो । व्यवस्था एक वस्तु है और रूढ़ि दूसरी बात है । दोनों में काफी अंतर है । व्यवस्था करके भी उसे मानवी वापस प्रथा बना देना होता है । जिसे तिसे व्यवस्था के आकार में रखकर वह वह फिर वापस रूढ़ि अनुसार ही वह किया करता है । हमें ऐसा नहीं करना है । जो कुछ हुआ

करे, उसमें हमारे जीवन की भावना थिरकती हुई नृत्य करती होनी चाहिए। जिसमें और उसमें ज्ञानपूर्वक की समझ प्रत्यक्ष प्रकट हुई रहा करे, यह अत्यधिक आवश्यक है। संसार का कामकाज तो सुबह के उठने से लेकर रात के सोने तक एक के बाद एक प्रतिदिन की तरह ही चला करता है। हमें उसमें दूसरे संसारी **जीवों** की तरह पिरोये नहीं रहना है। हमें तो उस कर्म से अपने प्रिय प्रभु को रिझाना है और वह कर्म उत्तम से उत्तम रूप से करके श्रीभगवान के चरणकमल में प्रसादी रूप भेंट रखा करना है। जो प्रसादी रूप भेंट रखना हो वह क्या यद्वातद्वारूप से हम करेंगे ?

बातचीत की कला

संसार कुचले जाने के लिए नहीं मिला है। संसार बंद करने-अड़ जाने के लिए नहीं मिला है। संसार लाचार और पराधीन होने के लिए नहीं मिला। संसार कोई गुलामी करने के लिए नहीं मिला है। संसार कोई सभी को फुसलाने के लिए नहीं मिला है। संसार कोई बदगोई-निंदा करने के लिए नहीं मिला है। संसार में उपरोक्त बतलाया हुआ हमें जाग जागकर त्याग करना है, उसमें बिलकुल घुलमिलना नहीं है। इससे शायद किसी को खराब लगे, तो उससे क्षमा मांगे, परन्तु हमें संसार की उन उन हकीकतों से ज्ञानपूर्वक अलग ही रहना है, यह निश्चित समझना। इतना तुम पालन करना कर सको, तो तुम्हें जीवनविकास की सच्ची भावना जागी है

ऐसा गिन सकते हैं । दो **जीव** इकट्ठे हों और बात करने में लग जाये, ऐसा प्रसंग आये, उस समय जागृति रख रखकर कैसी कैसी बात होती है, वह ध्यान में रखकर बातों के नकरात्मक प्रकार में कभी न पड़ना । तब भी वापिस सामनेवाले **जीव** को कभी तिरस्कृत कर देना तो नहीं ही होगा, एवं उसकी हमें अवगणना नहीं करनी है ।

हम वैसे उससे अच्छी समझवाले हैं ऐसी वृत्ति भी मन में उपजे, तो वह हमारे पतन का कारण बनती है । यों उस समय हमें अत्यधिक सावधानी रखनी होती है । उस समय हमें चातुर्य का उपयोग करके चलती बात को किसी तरह पलटकर किसी दूसरे किसी उच्च प्रसंग के भाव में उसे बदल देना है । सामनेवाले **जीव** को कुछ भाव प्रकट कराकर उसकी भावना को भी तेजस्वित बनाने का हो, इस तरह बात का प्रकार पैदा करने की कला हमारे में प्रकट हुई होनी चाहिए । उस बात में सामनेवाले को लगाकर उसकी भावना और समझ को उच्च प्रकार में लगाना है, उसका जाग्रत ध्यान रखें । वैसा जीवित ध्यान जिसे बातचीत में रह सकता है, वैसा **जीव** किसी में पिरो नहीं सकता । वैसे **जीव** को अपना ध्यान सभी किसी में रह सकता है ।

सुनो, पर न सुनो

संसारी बातचीत में संसारी रूप से कभी हिस्सा लेने का न हो जाये, उसकी तो पूरी तरह सँभाल रखनी है ।

सामनेवाले **जीव** की बातों से अलग होने का मानो कि एकदम न हो सके ऐसा हो, सामनेवाला **जीव** बुर्जुग हो और स्वयं ऐसी बात करता हो, उस समय क्या करे ऐसा प्रश्न उठे सही और ऐसे प्रसंग भी संसार में होते हैं । उस समय हम यदि संपूर्ण जागृत, चैतन्य, सावधान, सजगतावाले रह सकें हो तो वह बात सुनने पर भी सुनना न हो । वह इस तरह कि मन को स्मरणधारणा में डुबो देने का प्रभुकृपा से हुआ करता हो और स्वयं उनके साथ की बातों में किसी भी प्रकार का रस लेने का न करता हो, एवं उसमें इसकी या उसकी हाँ में हाँ भी न मिलाता हो, बुर्जुग की वैसी सांसारिक बातों में स्वयं सहानुभूति देता हो, ऐसा उसे वह लगने नहीं देता । ऐसी बातों को तो भूलचूक से भी उत्तेजन न दिया जाये, उसकी सौ प्रतिशत सावधानी प्रभुकृपा से रख सकता होता है ।

जीव बुर्जुग भले ही हो, पर उसे हमारे दैनिक वर्तनव्यवहार से खबर तो पड़ जानी चाहिए कि अब उसे संसार की इधरउधर की बातों में कोई रस नहीं है । हमारी इस प्रकार की छाप–असर हमारे चलते रहते सतत नामस्मरण के यज्ञ से उन उनमें पैदा करनी है, यह जानना । शायद कोई ऐसा बुर्जुग **जीव** दो चार ताने सुना दे तो उसे प्रेमभक्तिभाव से सुन लेना । **संसार की ऐसी बातों में हम यदि रस लेने का समझपूर्वक छोड़ देने का करेंगे और उसका संपूर्ण भरोसा हमारे आगे पीछे के *जीवों* को यदि हो गया, तो**

कोई भी हमारे आगे ऐसी बात करने को प्रेरित नहीं होगा । सभी किसी के मन में ऐसा ही हुआ करेगा कि 'जाने दो उसे ! वह तो अब भक्त हो गई है' ! ऐसा कहकर वह लोग हमारा नाम ही निकाल देंगे । **संसारव्यवहार में जीवनविकास की भावना के ढंग से योग्यरूप से यत्न करनेवाला और जीनेवाले *जीव* को संसार बिलोया तो अवश्य करेगा, परन्तु हमें तो उसमें से मक्खन को अनुभव करना है ।**

सांसारिकता टालने के तरीके

संसारी बातों के प्रपंच से उत्तम ढंग से अलग हो जाने का सच्चा उपाय तो श्रीभगवान का नामस्मरण है । उसे लगातार निरन्तर करते ही जाये । उसकी उसर अपनेआप जिस तिस पर प्रकट होनी होगी तो प्रकट होगी । हम कोई थोड़े ही दूसरों पर असर करने के लिए नाम लेते है ! जैसे धुनी मानवी के साथ कोई अधिक झमेला नहीं करते हैं । जो भी उसे देखकर कहता होता है कि 'जाने दो न भाई ! यह तो धुनी है,' ऐसे हम नामस्मरण में ज्ञानभक्तिपूर्वक के धुनी हो जाना है, बन जाना है । संसार के **जीव** भले हमें गिनती में न लें पर हमें तो ऐसा नहीं करना है । हमें तो प्रसंग आने पर जिस तिस का काम प्रभुसेवाभाव से करना है । काम से कोई घिस जानेवाले नहीं हैं । हमें तो सभी को हृदय से अत्यधिक चाहना है, पर वह श्रीभगवान की भावना के स्वरूप में ही । बार बार हमें तो जिसमें और उसमें ऐसा ही भाव

ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रकट करते रहना है । वही हमारा दैवत और जीवन । उसका ही नाम है सच्ची साधना ।

ऐसे लगातार निरन्तर ज्ञानभक्तिपूर्वक के अभ्यास की असर हमारे में और बाहर पड़े बिना नहीं रह सकती । हम तो सभी पर सद्भाव रखा करते होने से और इस तरह उस भाव से अन्य के साथ बरतते होने से, दूसरे **जीवों** को हम बेपरवाह नहीं लग सकते हैं । हम से कोई कनिष्ठ प्रकार का है ऐसा तो कभी समझना नहीं है । जैसा जो कोई हो वह उस उस स्थान पर भले हो । उसमें हमें क्या ? हमें तो अपने में ही रमा करना है । **संसार तो मिला हुआ है *जीव* को *जीव*रूप टालने के लिए ।** जैसे काँटे से काँटा निकल सकता है, जैसे जहर जहर की मात्रा से टल सकता है, वैसे **जीव** का संसारीरूप जीवनविकास की भावना को संसार में उसकी यथार्थता द्वारा करके जीने से टल सकता है, यह निश्चित जानना ।

हमारा तो जो भी सब श्रीहरि के साथ है, संसार भी उसके साथ है । उसे ही जिसमें और उसमें संग्रह करना है । जिसमें और उसमें वही सबसे आगे हो । आदि, मध्य और अन्त में वही हो । उनके पीछे भले ही दूसरे अनंत हो उसकी परवाह नहीं है ।

कोई मानता नहीं

संसारव्यवहार में तुम ऊपर कहे अनुसार आचरण कर सको, तो तो तुम सही । बाकी उसके बिना तो गप फैलाने–

वाली गिनी जाओगी । **इस जीव** को तुम अपना सद्‌गुरु समझती हो तो ऊपर अनुसार संसार में आचरण करने की आज्ञा है, वह तुम पालन करके बतलाना । **मेरा कहा हुआ कोई स्त्री *जीव* या पुरूष *जीव* ने अभी पूरा पालन करके बतलाया नहीं है, उसका दुःख हम कभी भूल नहीं सकते हैं ।** ऐसे **जीवों** ने हमें मानकर हमें त्रास, हैरानगति और दुःख दिये हैं । हमारे बेवफा भी हुए हैं, तो क्या तुम्हें भी वैसा होना है ? इससे बेहतर तो हैं कि हमारा साथ कोई छोड़ दे, तो वह उत्तम गिन सके । जिन जिन **जीवों** ने फिर वे स्त्री हो या पुरुष हो – जीवनविकास की भावना के लिए हमारा संग न किया हो, उन उन **जीवों** की बात फिर अलग है, **परन्तु जिन्होंने इस जीव को सद्‌गुरु के रूप में स्वीकार किया और गिना तब भी संसार में संसारी के संसारी ही यदि रहा किये हैं और उसमें से हटने का दिल नहीं होता और उसमें उसे रंज नहीं लगता, तो वैसे जीव को हजारों बार हमारा नमस्कार है !**

सद्‌गुरु को त्रास देने के त्रासदायक परिणाम

जिन्होंने सद्‌गुरु किये, पर उसे वे वफादार, प्रमाणिक, नेक दानतवाले वे वे **जीव** न रह सके हों उन सर्व का प्रभु कल्याण करो ! ऐसी हमारी तो उन उन **जीव** के कल्याण के लिए वैसी भावना हृदय में व्याप्त रहती है । किन्तु कर्म का बदला, कर्म का अटल न्याय जगत में रहा हुआ है, वह मिट

नहीं सकता है । **किसी *जीव* को हमने ठगा होगा, किसी *जीव* के साथ हमने यदि प्रमाणिकता नहीं रखी होगी, किसी *जीव* के साथ वफादारी नहीं निभाई होगी तो उसके कर्म का परिणाम जो उठाना पड़ेगा, उससे किसी चेतनपन में जागे जीवात्मा को बेवफा होने के कर्म का परिणाम ऐसा तो भोगना पड़ेगा कि उसे भोगते भोगते वह *जीव* को त्राहि त्राहि पुकारना पड़ेगा ।** यह हकीकत भय पैदा करने के लिए नहीं लिखी है, परन्तु मेरे मन यह बिलकुल सच है ।

इससे तो जीवनविकास के लिए सद्‌गुरु की भावना से मुक्त होना यह मेरे तुम्हारे जैसे **जीव** के लिए उत्तम है । सदगुरु करके उन्हें ठगना और उसके लायक भावना अनुसार आचरण न कर सके, उसने अनेक बार हमें चेतावनी दी, हमें योग्य समझ प्रकट किया करी तब भी जैसे थे वैसे के वैसे ही रहा करें, तो इससे ऐसे सद्‌गुरु को जो संताप, त्रास, दुःख हुआ करता है, वह क्या चला जायेगा ? ऐसों को तो वह कुछ भी नहीं लगता, तो फिर ऐसा सब कहीं जाकर शांत होगा ? ऐसी ऐसी वापिस हुई भावना या वृत्ति वातावरण में ही रहा करती है । और जिस **जीव** के निमित्त से वैसा हुआ होगा उसे ही वह प्रेमप्रसादीरूप से मिला करता है, यह हकीकत ध्यान में लेने जैसी है । इसलिए तुम्हें हमारी बाबत में चेत चेतकर चलना और जीना है । जैसी करणी वैसी पार लगनी ।

जैसी भावना वैसा उसका विस्तार । जैसी वृत्ति वैसा ही मुआवजा होनेवाला है । इन सभी हकीकतों को हमें समझ में उतारने की अति आवश्यकता है ।

गुरुभक्ति का दिखावा तो कभी न करना

लकड़ी के ठूँठा को छुएँगे तो जलेंगे नहीं, पर जलती लकड़ी को छुएँगे और उसके पास जाकर छुएँगे यानी कि जलता होगा वहाँ छुएँ तो जलेंगे ही । उसी तरह संसारी **जीव**कक्षा के **जीव** को चकमा दिया । उससे चेतन में जागे हुए **जीवात्मा** को छलना हुआ, तो वैसे कर्म का बदला कैसा मिलेगा वह हमें सोचना है । वह कुछ भी हाथ से जाने दें वैसा नहीं, क्योंकि कर्म के अटल नियम को वह दूर नहीं कर सकता, यह निश्चितरूप से प्रमानना । इससे प्रभुकृपा से हमारा संग करके हमें ठगना हुआ, हमें बेवफा होने का हुआ, हमारे साथ प्रामाणिकता से बरतने का न हुआ, हमारे साथ नेक दानत न रखी, हमारे साथ ज्ञानभाव न रखा, तो ऐसे कर्म का कोई परिणाम ही नहीं आयेगा ऐसा मानना नहीं है । प्रत्येक कर्म का जैसे परिणाम है वैसे इसका भी परिणाम है । यह **जीव** किसी भी **जीव** को कहने नहीं गया था, कि तुम इस **जीव** को गुरु मानो । उन उन **जीवों** ने अपने आप वैसा किया है । और वैसा किया हो तो फिर उनका उस अनुसार आचरण करना धर्म भी है ।

कोई **जीव** संसारी हो पर यदि कोई दूसरा **जीव** उसकी

माँ हो, तो वह **जीव** उस दूसरे **जीव** के साथ माँ जैसा ही बरताव करेगा न ? कोई तीसरा **जीव** उस संसारी **जीव** की पत्नीभाव से होगा तो उसके साथ वह कोई अपनी बेटी हो ऐसा बर्ताव क्या वह थोड़े ही करेगा ? उस अनुसार साधक संसारी **जीव** है वह कुछ उसका गुरु साथ के बर्ताव के लिए का बचाव नहीं है । **संसारी *जीव* ने सद्गुरु किए वह संसारी मिटने के लिए** । उसने यदि सद्गुरु किये तो उसे सद्गुरु की भावना अनुसार बरतने का, जीने का जाग्रत रहकर करना चाहिए ही । **जीव** को सद्गुरु से हृदय में हृदय से वफादार, प्रमाणिक और नेक दिलवाला रहना चाहिए, नहीं तो वह बेचारा किस दिन हमें कहने गया था कि 'भाई ! हमें गुरु करो !' **रोज उनके आगे धूप, दीप, अगरबत्ती करना और उसे किसी में गिनना तो नहीं उसका भला क्या अर्थ ?** क्या हम सब ऐसा मानते हैं कि ऐसा सब हमारा आचरण मिथ्या हो सकता है ? यदि हम **जीव** होकर दूसरे किसी सामनेवाले **जीव** से हमारी अवगणना होती हो, इससे हमारा हारना हो, उसके द्वारा हमारी अवहेलना होना बने, उसके द्वारा कुछ भी हमें न गिनना हो, वह क्या हम से सहन हो सकता है क्या ? हमें बेटा हो, बेटी हो, वे यदि हमें वफादार न हो, प्रामाणिक न रहते हों, हमारे साथ स्वच्छंदी होकर बर्ताव करते हों, तो क्या हम उस पर न्योछावर हो जाते हैं क्या ? यह सब समझना अति आवश्यक है ।

जीवन के साथ खेल या क्रीड़ा किये नहीं चलेगा। उसी तरह सद्‌गुरु के साथ खाली खाली खेल या दिखावा या खिलवाड़ करने का *जीव* को छोड़ना होगा। सद्‌गुरु करना हो तो उसके जीवन की भावना चरितार्थ करनी होगी। वह क्या क्या माँगता है उस अनुसार बरतने का ज्ञानभान जगा जगाकर उस अनुसार योग्यता से और भावना से बरतने का किया करना पड़ेगा। यदि वैसा न हो सकता हो, तो फिर उसे कृपाकर के छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर है। 'गुरु' 'गुरु' गिनना और गुरु को किसी में गिनते ही न हो ऐसी तो हमारी रहनीकरनी हो यह तो इसके जैसा हुआ कि मेहमान को निमंत्रण देकर भोजन के लिए बुलाया और उसे घर बुलाकर भोजन न करवाये और हम तो संपूर्ण भोजन करें, यदि ऐसा हो तो उस बेचारे निमंत्रित **जीव** को कैसा लगेगा ? वैसा ही हम सद्‌गुरु की बाबत में करते और बरतते होते हैं। हमारे इस प्रकार का बरताव वह बेवफाई है। उसे धोखा देने से हमें ही हानि है, उसका हमें सच्चा ज्ञान नहीं है, नहीं तो हम उस अनुसार आचरण न करते होते, गुरु न करना वह बेहतर है, पर यदि किये हो तो उसे जीवनविकास की भावना के हेतु के लिए यथायोग्यरूप से सँभालने की जरूरत है।

दर्दभरी अपील

हम पत्नी हों और हमारा पति समूचा हमें न देखता हो, दूसरी सभी जगह उसकी वृत्ति, प्राण, चित्त घूमा करता हो,

दूसरों में उसका मन रमा करता हो, तब हमारा हृदय कैसा कैसा बिंधता रहता होता है ! अपना पति यदि स्वयं को कहीं किसी में कुछ गिनता ही न हो, मानता न हो, तो स्वयं को कैसा लगता है ? तो क्या हम निरे पशु हैं ? पशु की भी भावना होती है । जो जो **जीवों** ने हमें गुरु माना है, वैसे वैसे **जीवों** के हमारे प्रति के व्यवहार से क्या हमें कुछ भी नहीं लगता होगा ? क्या हम में हृदय नहीं है ? हमारे भाव या भावना की कथनी सुनने की भी किसे पड़ी है ? हमें सही रूप में समझने की किसे पड़ी है ? तो कृपा करके तुम्हें जितना समझना हो, उतना समझकर योग्य रूप से व्यवहार करना । मेरा कलेजा किसी बात की बार बार चर्चा करके अत्यधिक दर्द की वेदना से, रक्त के अक्षर से यह लिखा है कि जिससे जिस **जीवों** को अभी समझना हो तो वे भी समझें । मेरी प्रार्थना है कि भगवान उन सभी का कल्याण करे । वे सभी कैसा भी व्यवहार करे पर प्रभुकृपा से वे हमारे दिल में हैं तो वह जो है वह है ।

प्रत्येक साधन से भावना प्रकट करो

हृदय की भावना को प्रकट करने के लिए किसी साधन के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता रहती है । साधना के ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवित अभ्यास के बिना वैसी भावना प्रकट किस तरह से होगी ? वैसी भावना ज्ञान की भूमिका के बिना अथवा उसके हेतु की चेतनाप्रेरक निष्ठा प्रकट किये बिना टिक

नहीं सकती । इससे बहुत से साधकों के जीवन में भावना प्रकट होती है तो सही, पर वह फिर से दूध के उबाल की तरह शांत हो जाती है । दूध के उबाल के नीचे यदि निरन्तर गरमी जीवित रहा करे, तो दूध में उबाल जीवित रहा करे । उस तरह भावना को टिकाने के लिए, सजीवन होने के लिए, शक्तिस्वरूप होने के लिए, ज्ञानपूर्वक की साधना के जीवन्त अभ्यास की प्राणप्रतिष्ठा होनी अत्यधिक आवश्यक है । इससे जो जो कर्म हुआ करे उसमें किसी न किसी प्रकार के साधन के अभ्यास की भावना जीवित प्रकट रहा करे, वह साधना के विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक है ।

कर्म का हेतु और उसे करने का तरीका

कर्म द्वारा ही भावना का सुमेल ज्ञान के साथ प्रकट हुआ करता है । यदि कर्म में जीवन के यज्ञ की समर्पणभावना (और संपूर्णरूप से वह अनुभव के उस पार जाने के चैतन्य के ज्ञान की प्रतिष्ठा) यदि जीवित न रहा करे, तो कर्म भी जड़ ही गिना जायेगा । वैसे कर्म से कुछ भी हासिल न होगा । कर्म मात्र है जीवन को प्रेरणात्मक ढंग से उठाने के लिए, चेताने के लिए । फिर वह कर्म छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा हो, कर्म का प्रकार देखने की आवश्यकता नहीं है । जो जो कर्म संसारव्यवहारवर्तन में मिला करते हैं, वे वे कर्म जीवनविकास की साधना की भावना बढ़ाने के लिए वे वे करने हैं । कर्म इस तरह से करने होंगे, जिससे जीवन की

द्वंद्वादिक वृत्ति मंद पड़ा करे । कर्म के प्रेरक बल प्राण, अहम् आदि की वृत्ति या भाव न हो पर जीवनविकास का प्रेमभाव प्रकट हुआ करता हो और उस कर्म द्वारा जीवनविकास का प्रेमभाव प्रकट हुआ करता हो तो वैसे कर्म यज्ञस्वरूप हैं और वे जीवन का निर्माण कर सकते हैं । ऐसे यज्ञभाव से किये हुए कर्म शक्तिस्वरूप में बनते हैं और वे हमारे आधार का कायापलट कर सकते हैं । कर्म में शक्ति नहीं है, पर कर्म करते समय में उस कर्म के हेतु का प्रकट होना उसमें प्रकट करके उसमें जो भावना डाली जाती है, उस भावना में शक्ति रही हुई है ।

प्रेमभाव की महाशक्ति

जीवन में हमें जिसे महत्त्व दिया करने का दिल में जागा हुआ होगा, उस अनुसार हमारे से आचरण करने का हुआ करेगा । मन को कभी धोखे में न रहने दें । उसे तो उसका जो भी स्पष्ट दर्शन करवाते रहें । और उसे वैसे वैसे दर्शन के स्वीकार करने का हो, उस प्रकार की भावना प्रकट हो और मन को वैसे वैसे दर्शन के स्वीकार का भाव हृदय में आये, तो मन उससे भिन्न आचरण कर सकता है । **जो जैसा है वैसा उसका योग्य स्वीकार होना यह साधना के मार्ग में अत्यधिक आवश्यक है ।** जीवन के संदर्भ में ऐसा प्रेम हुए बिना वैसा होना कभी भी संभव नहीं होता । प्रेम प्रकट होने पर शक्ति भी प्रकट होती है ।

जब दिल जागता है तब जो भी सभी भरा भरा सा लगता है। अनंत शांति का अनुभव होता है। तब कहीं कुछ भी किसी के बारे में दिल में अन्यथा रूप नहीं जाग सकता है। दिल में दिल जागने का जो बनता है, वह प्रेमभावना के आकर्षण द्वारा वैसा हो सकता है। हृदय का प्रेमभाव यह कोई जैसी तैसी शक्ति नहीं है। वह तो निर्माण करती है नवजीवन की प्राणचेतनात्मक भावना और उसमें से जागती शक्ति। हृदय में वह प्रकट होती है, उस समय वह दूसरे किसी को जानती भी नहीं है। परस्पर हृदय को एकतार करने की कला उस भाव में एकाग्र और केन्द्रित रूप में प्रकट हुई होती है। ऐसे हृदय के भाव को बारबार स्मरणभावना से जाग्रत कर करके, मुग्ध ही मुग्ध रहा करके, उस भावना को कर्म में उतार उतारकर, उसके ज्ञानात्मक पहलू के हेतु को लक्ष में रख रखकर, प्रभुकृपा से उसे फलित करते रहना है। जीवन के सद्‌गुरु भी साधनरूप में हैं, उस साधन का उपयोग हृदय के भाव द्वारा करके भावना प्रकट करने के लिए, ज्ञानप्रदीप जगाने के लिए, **जीव** को निरन्तर एकसा पुरुषार्थ किया करना रहता है, यह जानना।

ऐसी भेंट दो

अनेक प्रकार की अहंतामय और स्वार्थपरायण प्रवृत्ति में पड़े रहने का कृपा करके न हो जाय उसकी पर्याप्त जागृति रखनी है। इस समय तुम हमें अपने हृदय में जीवित किया

करो वह आवश्यक है । तुम्हारा आचरण ही हमारा स्थान प्रभुकृपा से हमें कर दे ऐसी तुम्हें हमें भेंट रखनी है, यह जानना ।

भावना स्वकर्म में और दूसरे व्यक्तिओं में प्रकट करो

जीवन में जैसे जैसे भावना बढ़ती जाती है, वैसे वैसे भावना का विस्तार समग्ररूप से कर्म में प्रतिष्ठा प्राप्त करे यह जैसे बहुत आवश्यक है, वैसे फिर वह कर्म के संपर्क के साथ घुलते और मिलते व्यक्ति के जीवन के साथ भी ज्ञानपूर्वक विस्तार पाकर, उस उसमें प्रसरकर ऐक्य प्रकट करने की भूमिका जीवित करने का यदि प्रभुकृपा से अनुभव होता रहे, तो जानना कि हमने जो साधन लिया है, वह फलित हो रहा है, ऐसा ऐसा उसका लक्षण और माप है, यह जानना ।

स्मरण-भजन ही अपना अमूल्य साधन

यह **जीव** ऐसे ऐसे माप-लक्षणों द्वारा प्रभुकृपा से जो भी माप करके अनुभव करता था । उस तरह और उस भाव से जीवन को अनुभव करके स्वीकार करने करता था । इससे कहीं भी प्रभुकृपा से भूल में पड़ने का संभव न रहता था । नडियाद में रास्ते में आते-जाते हुए थोड़े भी संकोच शरम बिना घूमते फिरते जोर से भजन प्रार्थनाभाव से गाते गाते ही फिरा करने में तल्लीन रहा करता था । वे भजन भी प्रातःकाल में उठकर, जीवनविकास के लिए जो जो अवरोधरूप लगा करता था, उसे हटाने में उससे मुक्त होने जो जो प्रभुकृपा से

प्रयत्न हुआ करते, जो जो निर्बलता उस समय दिल में पैदा होती, उसका हूबहू वर्णन प्रतिदिन की उन प्रार्थनाओ में टपकता था। उसकी कृपामदद से प्रार्थनाभाव से उसकी शक्ति का आवाहन किया करने का जो दिल उठता उस भाव की झनकार उन भजनों में झलकती। उसमें भजन का भाव उसके चेतनपूर्वक के स्मरण के साथ हृदय में जीवित रहा ही करता। स्मरण और भजन (प्रार्थनाभाव) यही उसका नित्य का सतत एकसा कार्यक्रम रहा करता। आज भी, वहाँ आते जाते गाया करता था। उसे सुननेवाले साक्षी वहाँ मिल आये सही। हृदय में लगनी लगे बिना या लगाये बिना हमारा मेल नहीं खायेगा। इसलिए तुम सब **इस जीव** पर कृपा करो। **इस जीव** को गुरु मानने का यदि तुम सबने किया है, तो वह अब सार्थक करके बतलाने का तुम सब के हाथ में है, यह जाननाजी।

अंदरूनी पुरुष के जागने के लक्षण

हम से और हमारी प्रकृति से होते रहते सकल कर्म, ये दोनों भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानपूर्वक का प्रत्यक्ष जीवन्त अनुभव हुए बिना प्रकृति से स्वतंत्ररूप से पुरुष की भिन्नता है, यह किस तरह से समझाना ? इसलिए हमें शुरू शुरू में मन की वृत्तियाँ, विचारों और प्राण के आवेश, आवेग, उसके हमले, कामना, आशा, इच्छा इत्यादि का तथा अहंता आदि का अलग अलग रूप में उठना, यह सब तटस्थता से, समता से मानो उसके हम साक्षी हों, वैसे उन सबको देखते

रहते हों, ऐसा उस उस पल में जीवित अभ्यास विकसित हुआ करना चाहिए । वैसा वैसा होते होते ऐसा ज्ञानभक्तिचेतनयुक्त अभ्यास जीवित होने पर हम प्रकृति से बिलकुल मुक्त अवस्था में उसे उसे निरख सकेंगे और ऐसे समता, शांति, साक्षित्व, तटस्थता, प्रसन्नता आदि आदि जीवित हुए अनुभव होंगे, तो जानना कि हमारे में रहा पुरुष अब जाग्रत हो गया है ।

सत्त्वगुण के प्राधान्य की दशा

ऐसे समय में हम में सत्त्वगुण महत्त्वरूप से प्राधान्य लेता हो गया होगा । ऐसे, प्रकट हुए सत्त्वगुण के भी लक्षण हैं । ऐसा सत्त्वगुण हमारे आधार में जीवित महत्त्वरूप से प्रकट हुआ करता होता है, **उस समय वह हमारे शरीर, मति, मन, प्राण इन चार में मुख्य भाग निभाया करता है । इससे करके हमारे करणों में समता, शांति, आनंद, प्रेम बस ऐसा होते होते तो छलका ही करते हैं ।** सत्त्वगुण का बल जमते जमते एक ऐसी दशा हमारी प्रकट हुआ करती है कि जिसमें से ज्ञान की दशा का अभ्युदय होते हम अनुभव कर सकते होते हैं । सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान महत्त्वपूर्ण होता है सही पर इसका अर्थ फिर ऐसा नहीं कि इसमें भावना भक्ति न ही हो या योग के सम्बन्ध में लक्षण भी न हो । सात्त्विक गुण प्रकट होते ही साधना के भाव का विकास सहजता से हुआ करता रहता है । अहंताशून्य दशा को पाते जाने का ज्ञानपूर्वक का अनुभव हमें होता रहता है ।

सत्त्व और रजोगुण

रजोगुण भी ऊपर गिने हुए शरीर, बुद्धि, मन, प्राण इन चारों करणों में आवेग, आवेश, अहंता, कामना, आशा, इच्छा ऐसे अनेक प्रकार के द्वन्द्वों का तुमुल घमासान जन्माया करता है । साधना में आगे जाने पर एक ऐसी स्थिति भी व्याप्त होती अनुभव होती है कि **किसी करण में सत्त्वगुण प्रत्यक्ष काम करता होता है और अमुक करणों में रजोगुण भी काम करता होता है ।** ऐसा बारीक सूक्ष्म पृथक्करण कर सकना, **जीव**दशावाले हम जहाँ तक हैं, वहाँ तक यह अत्यधिक कठिन बात है । प्रभुकृपा से इस **जीव** में सद्गुरु के कृपाआशीर्वाद से यहाँ और वहाँ लक्षणों से परखने की आदत पड़ी हुई है, इससे कहाँ कहाँ किस किस गुण की असर हुआ करती है, यह उनकी कृपा से नीरखने की आदत थी । ऐसा करते करते गहरा जाने का हुआ था । जैसे जैसे समझ आती गई वैसे वैसे तब लगने लगा कि किसी करण में सत्त्वगुण का ठहरना हुआ है और किसी करण में अभी रजस है । इससे असमंजस भी होता । और उस रजस का प्रकार भी भिन्न । कुछ में ऐसा हो और कुछ में वैसा हो ऐसा तो कैसे हो, ऐसा भी मन में तब हुआ था, क्योंकि मुझे आध्यात्मिक, वैज्ञानिकशास्त्र की कुछ भी समझ न थी और उस विषय में कुछ भी जानता नहीं था, परन्तु श्रीभगवान है न ? उसने अंतर में अंतर से प्रेरणा प्रेरित की थी, इससे शांतरूप से ऐसी बात की यथार्थता

समझ में आती गई थी । ऐसा करते करते उस बात में प्रखर साधन में पूर्ण मग्न होते वैसी स्थिति से उसकी कृपा से पर जाने का हुआ था । **रजोगुण में अहंता का जोर अत्यधिक प्रबल रहा करता है और इसमें इच्छा, कामना आदि भी प्रधानरूप से व्याप्त होती हैं ।**

तमोगुण और रजोगुण

फिर, तमोगुण के कारण आलस्य, जड़ता, प्रमाद, निर्बलता, अश्रद्धा, शिथिलता, अशक्ति आदि में पड़े रहा करना, किसी भी काम में उमंग न होना, मुश्किल से जो भी सभी हुआ करे, निकम्मा बैल जैसी दशा हो । इस प्रकार का तामस अवरोधरूप है ऐसा अनेक मानते हैं, पर इससे अधिक रजस बाधारूप होता है । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि तामस गुणवाला **जीव** रजसवाले से बढ़कर होता है । **कहने का तात्पर्य इतना ही है कि रजस में जो अहम् का प्रकार है, वह जबरदस्त वेगवान है, और इससे ऐसे साधक को अधिक से अधिक चेतनयुक्त जागृति रखकर नम्र हो सजाग रहा करना ।**

अमुक बार पुरुष जाग्रत हुआ होने पर भी प्राण की संपूर्ण शुद्धि हुई नहीं होती है, यद्यपि प्राण के क्षेत्र की वृत्ति उठते वह पुरुष उसमें भाग नहीं लेता होता, स्वयं उससे अलग रह सकता है, उसे संमति नहीं देता । तब भी वैसे प्राण की स्थिति साधना के लिए इष्ट नहीं गिनी जायेगी । वैसी दशा से भी अत्यधिक ऊँचे जाना होता है ।

साधक की चढ़उतर में प्रार्थना

ऐसी दशाएँ एक के बाद एक सीधी कुछ मात्र चढ़ाव की ही आती है, ऐसा कुछ नहीं होता । उसमें चढ़उतर हुआ करता है । मंदता की अवधियाँ भी आती हैं । उस समय साधक को अधिक जागृति रख रखके जीवित हुआ करना है तथा श्रीभगवान को अपने जीवन के उस समय में से जीवन को मुक्त किया करने की ही प्रार्थना किया करनी रहती है । श्रीप्रभु की कृपामदद के लिए यदाकदा हृदय से प्रार्थना किया ही करनी रहती है । **ऐसे समय सचमुच जिगर से जिस *जीव* ने यदि सद्गुरु किये हो और उसमें उसके हृदय की सचमुच श्रद्धाभक्ति यदि प्रकट हुई होती है, तो उसकी चेतनापूर्वक की स्मरणप्रार्थना से उसे मदद मिलती अनुभव हो सकता है ।** जैसे बालक, माँ के पास से रोते रोते माँगता है और यदि माँ खुश हो, तो बालक को उसका माँगा दे देती है, वैसा हमें भी बनना होता है ।

सच्चे दिल की प्रार्थना के लिए दशा

श्रीभगवान को माँ की तरह खुशी की मनोदशा में रहना या न रहने जैसा तो कुछ ही नहीं है, परन्तु हमारा उसे पुकारने में बहुत बहुत कचाई होती है । **हमारे करणों में इतना सारा मैल कचरा भरा हुआ होता है कि उस आधार के करणों में उसे प्रकट करने की ऐसी प्रामाणिक ताकत कहाँ से हो ?** फिर, हमें जब हमारी वैसी स्थिति अत्यधिक सालती हो, दंश

देती हो, वैसी दशा में पड़े रहने में कहीं भी बिलकुल भी चैन न मिला करता हो, ऐसा यदि सचमुच हमारे में हुआ करता हो, ऐसे समय में हम यदि उसे हृदयपूर्वक प्रार्थना करते रहेंगे, तो वह स्वयं प्रत्यक्ष है ।

स्वानुभव द्वारा पुकार

इस जीव को वैसी वैसी दशा अनेक बार प्रकट हुई हैं और उपरोक्त बतलाई वैसी दशा होने पर उसने हृदय में हृदय से उसकी प्रार्थनाएँ की हैं । उस समय उसकी कृपामदद प्राप्त हुई उसने अनुभव की है । इसी से आज प्रभुकृपा की मदद से तुम्हें, सभी प्राप्त हुए स्वजनों को तथा जगत को खुलकर प्रत्यक्ष चुनौती देकर बतला रहा हूँ कि केंचुए की तरह जीना छोड़कर मर्द की तरह जीना सीख लो, जीवनविकास की साधना के भाव में बेधड़क होकर प्रभुकृपा से बस कूद पड़ो । साधना के कर्म में ऐसे तो एकाग्र और केन्द्रित हो जाओ कि उसके बाद ऊपर बतलाई है वैसी दशा होने पर उसे पुकार कर देखो । वह तो स्वयं प्रत्यक्ष बैठा हुआ ही है । केवल हमें हाजिर होके तैयार होना है । अभी हमें किसी की भी पड़ी ही नहीं है । **साधना के भाव में प्रबलता आये बिना अंतर के करणों की शुद्धि किस तरह से हो सकती है ?** जीवन में जिस विषय में सचमुच अधिक महत्त्व आ जाता है, उस तरफ का मुँह हो जाते हमने जाना है ।

जीया हुआ प्रमाण करो

अंतर में जहाँ **राम** पैदा होते हैं, तब हमारे **राम** भी भिन्न होते हैं । ऐसे तो अब भी हम में राम होते हैं, पर राम राम की अलग अलग दशा में भी अंतर होता है । इसलिए कृपा करके जागने का करके, प्रिय प्रभु का प्रेमभक्तिपूर्वक स्मरण करते करते प्राप्त हुए कर्म को उत्तम से उत्तम ढंग से करके और रीझा करके, जो भी हमारी तुच्छ दक्षिणा उसके चरणकमल में प्रेमभक्तिभाव से समर्पण करने के यज्ञ की अंजलिओं से अपने जीवन को शोभित करने, हम जाग जागकर मरने का करेंगे और उस अनुसार फिर अनुभव से वैसा समझेंगे, तभी जीने का अर्थ है । नहीं तो बाकी जीना न जीना समान है, यह निश्चित जाननाजी ।

प्रार्थना से ज्ञानप्रकाश

इस जीव को साधना की कुछ भी सूझ-बूझ नहीं थी, पर यदि किसी कार्य में पडें तो उसमें पड़ते पड़ते और वह कर्म करते करते उसकी समझ अपने आप पैदा हो जाती है । काम काम को सीखाता है, यह सूत्र जैसे व्यवहार के क्षेत्र में जितना सही है उतना इसमें भी है । यह साधना का क्षेत्र होने से — वृत्ति, विचार और भावना का क्षेत्र होने से — उसमें बहुत उलझना होता है और उलझ भी जाते हैं, पर जहाँ जहाँ उलझना हो, वहाँ उसका पता भी हमें चलता रहता है, वह भी ठोस अनुभव की हकीकत है । उसका पता लगते लगते

श्रीभगवान को हृदय से उस समय प्रार्थना करने का सूझता है । इससे उलझन का हल होता अनुभव होता है । ऐसे अनुभव होते होते प्रार्थना पर का आत्मविश्वास हम में पैदा होता जाता है । ऐसा आत्मविश्वास आने के बाद का जो साधन होता है, उस साधन में सावधानी आ जाती है, उसमें सच्ची झनकार आ जाती है । प्रभुकृपा से मुझे भी इस तरह से समझ आती गई थी । करते करते समझ आ जाती है । इसलिए यह तो करते ही रहना है । हिंमत, साहस रखकर बस कूद पड़ना है । धीरज तो अपरंपार चाहिए । **श्रीप्रभु तो मदद करने के लिए तैयार हैं, पर हमें उसकी सहायता लेने की गहरी सचमुच, संपूर्ण गरजयुक्त आतुरता कहाँ प्रकट हुई है ?** इसलिए कृपा करो, माँबाप ! पड़े रहने का तो बहुत बहुत किया है, खर्राटें लिया करे हैं, अब तो जागकर कुछ करने लगे तो हमारी शोभा है ।

प्रकृति की शुद्धि और 'प्रकृति का रूपान्तर'

थोड़ा बहुत समझनेवाले **जीव** जब रूपान्तर की बात करते हैं, तब **इस जीव** को हँसी आती है । बात ऐसी है कि उन्हें ऐसी बातों की तो कुछ भी सूझ-बूझ पड़ी हुई नहीं होती । प्रकृति के करणों का रूपान्तर कब और कैसे हो सकता है इसका शास्त्र भी गणितशास्त्र की तरह ही निश्चित हुआ होता है । साधना करते करते जब **जीव** को अपने में विराजमान अंतर्यामीत्व का अनुभव हो जाता है, यानी कि

जिसे विज्ञान का अनुभव होता है, वैसी दशा प्राप्त होने के बाद ही प्रकृति का रूपान्तर होने की क्रिया का सही ढंग से आरंभ हो जाता है। उससे पहले प्रकृति का संपूर्ण रूपान्तर होने की संभावना नहीं है, ऐसा तो नहीं है। वैसे **जीव**स्वभाव की कक्षा के मैल-कचरे से **जीव** को मुक्त होना रहता है पर इतने से कोई रूपान्तर का अर्थ नहीं हासिल होता। **शुद्धि एक बात है और रूपान्तर यह दूसरी बात है।** प्रकृति का रूपान्तर यानी क्या इसकी समझ हम में से अनेकों को नहीं है। वह समझना जैसे कठिन बात है और अनुभव आये बिना समझ आ जाना भी दुर्लभ है, वैसा फिर अनुभव होने लगते, उस समझ के प्रदेश में सहज प्राकट्य पाता है।

सौ बात की एक बात

हमें तो अभी जहाँ तहाँ से प्रभु के नामस्मरण से साधना के भाव को प्रेमभक्तिभाव से मजबूत पकड़-पकड़कर उसके भाव में और उसके भाव से सकल कर्म किया करें और **जीव** की द्वंद्वादि प्रवृत्ति के घमासान से यहाँ से वहाँ फेंकने की क्रिया से बच जाने का ज्ञानभान उसकी कृपा से रखा करें इतना अभी की कक्षा में हमारे लिए काफी है। इसलिए कमर कसकर बस लगे ही रहना है। प्रभुकृपा से कहता हूँ कि 'बस, जागो, जागो और जागो ही। जगे बिना का कहीं भी कुछ करने जैसा सभी बेकार है। संपूर्ण अंतर से जाग गये पीछे रास आये तो सोना हो तो सो जाओ पर पहले तो सभी जागो इतनी प्रार्थना है।'

सद्‌गुरु के अमल करने के वचन की जिस *जीव* को कोई कीमत नहीं ऐसे *जीव* ने गुरु किया वह भी समान है और नहीं किये वह भी समान है । इसलिए अन्य की बात जाने दो । तुम्हें भी यदि उसके वचन की कीमत है तो तुम भी कृपा करके जाग जाओ, इतनी तुम्हें प्रार्थना है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. ४-४-१९५३

इस जीव का मनन चिंतन तुम में निरन्तर चला करे, इसके लिए मेरी चले तो तुम्हें काम में बस पिरोया ही करूँ । ऐसे लम्बे लम्बे पत्रलेखन के अनेक कारणों में से वह भी एक कारण है । कृपा करके तुम शांति से पढ़ना और धीरे-धीरे उतारते जाना । तुम्हारे काम में ऊब, अकुलाहट न व्याप्त हो जाय इसकी सावधानी रखना ।

मृत्यु आये तो भी वचनपालन करो

इस जीव को तुमने शांति देने का वचन नहीं दिया है क्या ? **इस जीव** को तुमने जो कौल दिया है, वह तुम्हें पालन करना है कि नहीं ? हृदय पर हाथ रख कर तुम कह सकती हो कि अभी तक के तुम्हारे वर्तनव्यवहार से (बाह्य तथा आंतरिक) **इस जीव** को तुमने शांति दी है ? तुम्हें तो अपने स्थूल कर्म करते समय भी ऐसा ही सोचना चाहिए कि 'यह सब किस तरह से करूँ कि जिससे सद्‌गुरु को मुझ से शांति

मिले ?' ऐसा विचार तो तुम्हें अपने मनादिकरणों में की अनेक प्रकार की वृत्ति, विचार, भावना, कामना, आशा, इच्छा, राग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, लोलुपता, तृष्णा आदि उठने पर एकदम शूल चुभें वैसे तुम्हें ऐसा विचार आना चाहिए कि इससे जीवन के सद्‌गुरु को शांति दी जा सकेगी सही ? **यदि वचन दिया है, तो वह या तो पालन करना चाहिए अथवा उसमें से अभी वापस फिर सकना हो तो वैसा राजीखुशी से कर सकती हो । मेरी उसमें संपूर्ण सहमति है, परन्तु दिया हुआ वचन तो मृत्यु आता हो, तब भी उसे प्रेम से स्वीकार करके पालन करने में योग्यता रही हुई है ।**

क्षमाप्रार्थना

इस जीव को दूसरे किसी भी **जीव** ने तुम्हारे जैसा ऐसा वचन नहीं दिया है । दिये हुए वचन अनुसार कोई **जीव** बरतता न हो तो उसे वैसा याद दिलाकर दुःखी क्यों करना ? ऐसा भी यह लिखते-लिखते दिल में होता है तो अवश्य । स्वजन को यदि स्वजन माना, तो उसे हम से चैन मिले वैसा बरतना चाहिए, यह भी ठोस हकीकत है, परन्तु ऐसी सीधी सादी समझ की बात भी हम **जीव** कहाँ पालन करते हैं ?

अमुक सद्‌भावी सज्जन

मुंबई में इस बार अमुक सद्‌भावी **जीवों** से मिलना हुआ था । घाटकोपर आकर बहुत समय तक वे सब बैठे ।

अनेक सत्संग की बातें सहजता से हुई थीं । **उन्होंने अपने यहाँ पालनपुर आने को बहुत ही सद्‌भाव से आमंत्रण दिया है । शर्त की है कि प्रकाशित हुई पुस्तकों के सेट खपाने का कर सको तो आऊँ । कहीं किसी की कीमत दिये बिना जगत में कुछ नहीं बन सकता । उन्होंने यह स्वीकार भी किया है ।** इसमें और उसमें सद्‌भाव की बात कोई और प्रकार की होती है । सद्‌भाव के कारण कैसा भी हो वह भी मीठा लगता है । जहाँ मूल में सद्‌भाव वहाँ सब कुछ है ।

सूरत में 'जीवनगीता' प्रकाशित करने का हो जायेगा । भाई भीखुभाई ने इस काम की रकम इकट्ठी करने का स्वयं पर लिया है ।

हम पर से अब 'हरि' का भाव कम हो गया है । हमारा तो ऐसे का ऐसा ही है । यह तो **जीव** का ऐसे ही चलेगा न ? तुम्हारा कैसा होनेवाला है ?

केवल उपयोग के अर्थ ही

तुम मुझे बहुत याद आया करती हो, पर ऐसी याद को ऐसे के ऐसे कैसे बह जा दे सके ? इससे तो तुम्हें ऐसे पत्र लिखने का हुआ करता है न ? प्रभुकृपा से हम जो भी सब उपयोग के अर्थ ही खर्च करते रहते हैं । इसका तुम्हें सचमुच का सही अनुभव हृदय से हो, तब शांति होगी ।

संयम का महत्त्व

यदि हमें सचमुच की साधना करनी हो, तो अनेक प्रकार के जीवित संयम जीवन में प्रकट करने रहते हैं । 'जीवनप्रवेश' में सन् १९३७ की साल में एक पत्र उस विषय में लिखा हुआ है, उसमें उसका संपूर्ण वृत्तांत और विस्तारपूर्वक नहीं दे सका था, क्योंकि जिसे जिसे संबोधन करके लिखना हो, वह **जीव** जितने जितने प्रकार की समझ की कक्षा का हो और उस विषय में जितना समझ सके वैसा हो इस तरह से वह लिखने का होता था । इसलिए उस पत्र में अभी बहुत सा अधूरापन है । तथापि उसमें जो लिखा हुआ है, वैसा जीवन **इस जीव** ने बिताया था । उसके साक्षी आज भी अभी जीवित हैं । संयम के भी अनेक प्रकार और कक्षाएँ हैं ।

साधक की निद्रा

संयम की आवश्यकता तो निद्रा में भी है । साधक **जीव** की निद्रा निपट जड़तावाली नहीं होनी चाहिए । घोर मुर्दा जैसी निद्रा उसके लिए योग्य नहीं होगी । उसमें स्थूलता घटती जानी चाहिए । निद्रा में भी जागृत दशा प्रकट हो सकती है । निद्रा में होने पर भी अंतर में वह जाग्रत भी होता है । निद्रा में होने पर भी यदि उसका ध्यान जाये तो वह बाहर होती बातचीत सुन भी सकता है । ऐसा अनुभव भी आगे जाते जाते साधक को होता रहता है । इतना भी उसके लिए पर्याप्त नहीं है । निद्रा पर का संपूर्ण जीवित नियंत्रण उसे आ जाना

चाहिए । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि वह चाहे तब निद्रा ले सकता है और चाहे तब उठ सकता है – यद्यपि वह भी निद्रा पर के नियंत्रण का एक प्रकार है – पर अमुक काल तो साधना के दौरान में ऐसे भी व्याप्त है कि जब निद्रा समूल भी चली जाती है, पर वह रोग के कारण नहीं ।

संसारी लोग साधक को नहीं समझेंगे

नहीं समझनेवाले लोग उसे अमुक प्रकार का रोग भी गिन लेते है । साधना में आगे जाने पर कुछ कुछ कक्षाएँ ऐसी प्रकट होती है कि वैसी कक्षा की समझ को हम कोई उसकी संपूर्ण अवस्था में समझ सकने की योग्यतावाले हो ही नहीं सकते हैं । प्रभुकृपा से हमें तो ऐसा सब कई कई जनों का सुन सुनकर, फिर वापस वैसा वैसा कबूल करने में शांति, आनंद, प्रकट करने रहते ।

साधक और स्वप्न

विवेक, समता, तटस्थता, शांति, प्रसन्नता आदि गुण अभी हमारे संसारव्यवहार के स्थूल कर्मो में कभी जीवित रह सकते हैं सही, पर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम क्षेत्रों में उन गुणों की कसौटी तो कठिन से कठिन होती रहती है, वह काम तो जिस तिस का नहीं है । वह तो संपूर्ण ज्ञानचेतनयुक्त प्रकट हुई अवस्था की पल पल की जागृति माँग लेता है । इसके बिना वहाँ जागते चेतते रहना अत्यधिक कठिन है । इस प्रकार की जागृति और सावधानी अंतर की जागी हुई सजगता –

हमारी कल्पना में भी प्रकट होनी कठिन है । इसमें एक शब्द भी अतिशयोक्ति का नहीं है । उदाहरण के रूप में स्वप्न की दशा में ऐसे, जीवित, उपयोग में आ सकें ऐसे, तटस्थता, विवेक, शांति, अक्षुब्धता आदि हम में प्रकट हुए हों, जीवित रहा करे और चाहिए उस पल में योग्य उपयोग में आकर योग्य काम दे सके, तभी ऐसे गुण शक्तिस्वरूप होकर हमारे आधार में जीवित हो गये हैं, ऐसा जानना । ऐसी सूक्ष्म सच्चाई कौन समझ सके ?

फिर, स्वप्न में जो जो वृत्तियाँ, वासना, कामना, आशा, इच्छा आदि आदि *जीव* जो भोगता है, (स्वप्न की दशा में स्थानकाल का लय हो जाने से) वह स्वप्नसंस्कार दिन की उसकी जागती दशा के कर्म के संस्कार से अतिशय अधिक बंधनकर्ता है । इस बारे में अधिक ब्योरे से 'जीवनसंदेश' में लिखा हुआ है, वह आराम के समय में पढ़ जाना, स्वप्न की दशा में तटस्थता, समता, शांति, विवेक, अक्षुब्धता आदि गुण जब काम करते प्रकट हुए अनुभव हो, तभी साधना होती रहती है ऐसा निश्चित जानना । स्वप्न की दशा में चेतनयुक्त जागृति होनी और स्वप्न की स्थिति में से अपने को अलग निकाल देना वह कोई मेरे तेरे जैसे **जीव** का काम नहीं है । अमुक **जीव** को स्वप्न की दशा में स्वयं को यह स्वप्न आया है, ऐसा ख्याल जागता है सही, किन्तु इससे करके वे स्पप्न की दशा

में मिश्रित हो गये हुए होते ऐसा नहीं होता है । स्वप्न में प्रकट होती वृत्ति, विचार, भावना आदि को वे भोगते हैं और उसमें संपूर्ण लय पा जाते हैं ।

स्वप्न और स्वप्न की दशा

फिर, स्वप्न और स्वप्न की दशा–भूमिका ये दोनों में तो अवश्य अंतर है । इस वास्तविकता का भेद बहुत कम समझ सकते हैं । प्रतिष्ठित विद्वानों, साधुसंन्यासिओं और उत्तम प्रकार की कथा करनेवाले **जीवों** को भी इसका यथायुक्तरूप से पूरा पता शायद न हो । स्वप्न में तो संपूर्ण जो भी सभी की और सभी प्रकार की अनियमितता और सर्व प्रकार की अव्यवस्थितता प्रकट हुई होती है, जब कि स्वप्न की दशा में तो मन निर्मल, स्पष्ट, सरल होने से उस समय हमारे अपने सभी करणों को धारण कर सकता है । मति, कल्पनाशक्ति ये सभी उसमें जाग्रतरूप में रहे हुए होते हैं । स्वप्न में अत्यधिक मिलावट हुई होती है । स्वप्न अमुक बार सांकेतिक भी होते हैं । प्रखररूप से जिस **जीव** ने उत्कटता से और निरन्तर प्रचंड वेग से साधना में साहस किया है, ऐसे **जीव** को साधना में आगे जाने पर उसके स्वप्न के प्रकार भी **जीव**दशावाले **जीव** से बिलकुल अलग प्रकार का हो जाते अनुभव होता है और जीवन की अलग अलग कक्षाओं में और साधना की भी अलग अलग कक्षाओं में स्वप्न का प्रकार भी अभिनव रूप से बदलता रहता है ।

स्वप्न में प्राप्त हुए साधना के तरीके

प्रभुकृपा से **इस जीव** को स्वप्न द्वारा साधना के अमुक सूक्ष्म तरीकों का पता चला था । अमुक समय पर स्वप्न द्वारा अमुक अनुभव करने का और जानना भी मिला था । स्वप्न द्वारा श्रीसद्‌गुरु ने **इस जीव** को कुछ कुछ बतलाया था । मेरे जीवन की वह ठोस वास्तविकता है । अन्य सामान्य **जीवों** से ऐसी सच्चाई का सच्चा तथ्य नहीं स्वीकार होगा, यह भी समझ में आये ऐसा है । **इस जीव** को अनेक प्रकार की प्रकृति में पड़े रहे हुए सूक्ष्म दोषों का तीव्रतम भान स्वप्न से जागा था । अनजाने में हुए कितने ही दोष स्वप्न द्वारा समझ में आये थे । व्यवहारवर्तन में विवेक से बरतने की कला और उसकी पद्धति और वह सीखने की कला आदि भी श्रीसद्‌गुरु ने स्वप्न द्वारा **इस जीव** में प्रकट की थी, स्वप्न में स्वप्न द्वारा श्रीसद्‌गुरु ने कितने ही प्रकार की सूक्ष्म विधियाँ **इस जीव** के आधार पर की थी । ऐसी वास्तविकता की तादृशता और उसकी सचोटता और उसकी ठोस वास्तविकता आदि का ज्ञान **इस जीव** को उनकी कृपा से हुआ था । इसीसे **इस जीव** के साथ मेरे सद्‌गुरु जीतेजागते मार्गदर्शन और प्रेरित करते यहाँ और वहाँ रहा करते हैं, ऐसा आत्मविश्वास प्रत्यक्ष रूप से जीवन में अनुभव हुआ था । यह सारी वास्तविकता खिसक गये दिमाग की नहीं है । बहुत सारे लोग इसे एक प्रकार का मानसिक तूत भी माने, तो उसमें उनका दोष थोड़ा-सा भी नहीं है ।

अनुभव से जिसे जो समझ आये वह सही, हमारी उपरोक्त हकीकतें सब कोई स्वीकार ही करे ऐसा कोई दावा नहीं है । **हमारे मन के लिए जो सच हो, वह दूसरों को भी वैसे ही लगने चाहिए ऐसा भी कुछ नहीं है ।** यद्यपि साधना की अमुक कक्षा में ऊपर अनुसार बताई हुई हकीकतों बनने की संभावना है, ऐसा उस प्रकार के अनुभविओं का कथन ऊपर की हकीकतों के समर्थन में शायद मिल सके तो मिल सके। यद्यपि हमें किसी के ऐसे समर्थन की आवश्यकता नहीं है । पंगुनिर्बल को समर्थन की आवश्यकता है । जीवन में जिन्होंने महत्त्वाकांक्षा रख रखके उच्च आदर्श को प्रकट करने का निर्धारण किया है, उनको भी आलंबन के समर्थन की जरूरत है । समर्थन के आकार-प्रकार में भी भेद हैं ।

धर्मो रक्षति रक्षितः

प्रार्थना की उपयोगिता के बारे में तुम्हें आगे से ही, तुम्हारा पत्र आने से पहले ही लिख चुका हूँ । ऐसी अनेक हकीकत तुम्हारा पत्र मिलने से पहले प्रभु की परम कृपा से लिखी जा चुकी होती हैं । तुम्हारे स्वप्न की हकीकत जानी । हमें वफादार, प्रमाणिक और नेक दानतवाला जिनके सम्बन्ध में रहना है, वह काम और उसका धर्म को हम प्रेमभक्ति से निभाते रहेंगे, तो वह धर्म और उस धर्म की भावना हमारा रक्षण करनेवाली है । जो स्वयं के प्राप्त धर्म का यथायोग्यरूप ज्ञानभक्तिपूर्वक पालन करता है, उसका पालन धर्म स्वयं

करता है, ऐसा अनुभव का श्रुतिवचन है । इसलिए अन्य सभी चिंता छोड़कर हमें प्राप्त जो योग्य धर्म हो, उसका समग्ररूप से उसके सभी पहलुओं से यथायोग्यरूप से जीवनविकास की भावना को उसमें संपूर्ण पिरोकर पालन करते रहेंगे, तो कुछ भी दूसरा अन्यथारूप से प्रकट होगा नहीं, यह निश्चित जानना ।

भावनायुक्त कर्म दूसरों को भी लाभकारक

श्रद्धा बिना के-तप बिना के-आनंद का फल भी क्या ? सद्भाव के ज्ञानपूर्वक की शिक्षा का जिस **जीव** को अभ्यास होने लगता है, वह कोई चुप नहीं रह सकता है । उसका अभ्यास परिपक्व होता जाय वैसे-वैसे वह स्वयं प्रत्यक्ष होता रहता है । इससे हमें अपने वृत्ति, विचार, भाव आदि का तटस्थता, समता, शांति से निर्दयतापूर्वक पृथक्करण करते ही रहना है । और ऐसा करते करते जीवनविकास में प्रेरणात्मक मदद प्राप्त हुआ करे, उस तरह योग्य समझ में आने के लिए निर्णय पर आया करना है । तुम्हारी और तुम्हारे जीवन की असर जो भी सब **जीव** वहाँ हैं, उन पर उत्तम प्रकार की पड़े, ऐसा ऐसा यह **जीव** चाह रहा है । मात्र ऐसी असर डालने की खातिर कोई हमें आचरण नहीं करना है । पर हमारे जीवनविकास की भावना के कर्म द्वारा, अनुशीलन, परिशीलन करते करते, वह वैसा होना हो तो वैसा हो, वह इष्ट और योग्य भी है ।

साधक *जीवों* के हाथ में

मेरी इज्जत जैसे सभी स्वजनों के जीवन के योग्य आचरण में रही हुई है, वैसे तुम पर भी है। हमें तुम्हारे जीवन द्वारा चढ़ाओगी तो चढ़ा भी पाओगी। हमें तुम्हारे द्वारा इतनी प्रभुसेवाभक्ति करने का सुयोग्य प्रसंग प्राप्त होने होंगे तो प्राप्त हुआ करेंगे। जैसी तुम्हारे हृदय की अभिलाषा और महेच्छा और जैसी प्रभुकृपा।

इसलिए नामस्मरण और प्रार्थना में प्राणचेतन प्रकट कर करके जीवित हुआ करना, वही तुम्हें-तुम्हारे अंतर्यामी, प्रभु को प्रार्थना है।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ५-४-१९५३

तुम्हें अधिक क्या लिखूँ ? क्या कहूँ ? तुम्हें जो कहने जैसा था वह सब कहा जा चुका है। अब तो व्यवहारिकता में बाकी रहा हुआ है, उस अनुसार समझ से आचरण करना हुआ तो सब सरल सरल बहा करेगा, यह निश्चित जानना।

साधक यानी सूक्ष्म संग्रामवीर

जिस **जीव** को स्वप्न में तटस्थता, समता, शांति, प्रसन्नता, विवेक, धीरज आदि गुण यदि जीवित हुए प्रत्यक्ष अनुभव हो, तो फिर वैसा भी **जीव** जीवन के दूसरे दिनों में होते, किसी भी प्रसंगों में कभी भी लज्जित नहीं हो सकता

है । आगे जाने पर तो कुछ कुछ सूक्ष्म संग्राम के आमनेसामने मानो मोर्चा न खोला हो इस तरह रचित होते हैं । इसकी किसे ऐसी समझ आती है ? अनेकबार तो हमारी बुद्धि के सामने प्राण और चित्त के मोर्चे लगे हुए साधक अनुभव करता है और ऐसे दो भिन्न-भिन्न भाग पड़े हुए वह स्वयं अनुभव करता है । इन सबके बीच — सभी के साथ — चेतनायुक्त सुमेल हो जाना या साधना यह तो अत्यधिक कठिन प्रश्न होता है, परन्तु साधक कुछ उस समय हाथ जोड़कर बैठा नहीं रहता है । वह जो देखता है, उसे वैसे का वैसा स्वीकार करके उसे ऊपर लाने को प्रभुकृपाबलमदद से, ज्ञानभाव से सतत यत्न करता ही रहता है । वह कभी भी सिर पर हाथ रखकर निराश होना तो जानता ही नहीं है । ऐसी कठिन कसौटी में ही उसके सच्चे बल की, उसकी विवेकशक्ति, समता, शांति, तटस्थता, प्रसन्नता, धीरज, सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा हो जाती होती हैं । वह सब कोई कुम्हार ने बनाया हुआ कच्चे मटके का बना हुआ नहीं होता कि पानी पड़े और वह सब टूट जाये ।

प्रार्थना-पुकार करो

हमारे अपने में चेतन की एक ऐसी समग्र शक्ति जाग्रत होकर, वैसी साधना की एक के बाद एक भावना के विकास के उन्नत क्षेत्र में प्रकट हुई ही होती है, उसे मात्र प्रार्थनाभाव से ज्ञानयुक्त जागृति से वैसे महान पहेली के हल में काम में लगा देने का काम हमारा है । वह तो कामधेनु है । उसके

पास जैसी इच्छा प्रकट करके जो काम लेंगे, वैसा वह हमें काम दिया ही करनेवाली है, वह जानना । परन्तु ऐसी सब हकीकत तो अत्यधिक आगे की हकीकत है । आरंभ में ही साधक यह पढ़कर वैसा करने जाय तो पैर तोड़ बैठेगा । यह हकीकत लिखने का कारण तो यह है कि आगे बढ़ा हुआ साधक वैसी किसी पहेली जन्म लेने पर बैठे नहीं रह सकता है, ऐसे प्रश्न के हल में अंतर की जाग्रत हुई चेतनशक्ति को, उसे प्रार्थनाभाव से पुकार कर, मदद लेने के लिए उसे अपने को ज्ञानपूर्वक आवाहन करना पड़ता है । कुछ भी अपनेआप नहीं होता है, वैसा जानकर, हमें उसकी कृपाबलमदद से जीवन को उसकी प्रकट होती जाती सर्व दशा में से ऊँचे लाने के लिए सतत उस प्रिय प्रभु की कृपाशक्ति को पुकारते रहा करना है । **'वह सब कुछ जानता है, वह अंतर्यामी है, उसे क्या कहने की जरूरत है ?' ऐसे ऐसे जो ख्याल हैं, वह अज्ञानमूलक भ्रमणात्मक हैं ।**

अपना रामबाण इलाज—प्रार्थना

इस **जीव** को तो कुछ कुछ दशा में फँस जाना होता, पर जैसे संसारव्यवहारवर्तन में कहीं भी फँसना होता है, उसका हमें जैसे पता चलता है, वैसे उसमें भी प्रभुकृपा से पता चलता जाता है । यदि हम खो गये हों या चपेट में टकरा गये हों, तो चित्त की शांति, प्रसन्नता, समता आदि बहुत छा गये हुए लगते हैं और मन में एक प्रकार की खिन्नता, ग्लानि

व्याप्त हुई हमें लगे बिना नहीं रह सकती । ऐसी दशा होने पर हमें समय पर चेत जाना चाहिए । विचारों की परंपरा होने पर एकदम चौंककर अनचीता जाग जायें । मतलब कि कहीं किसी में फँस गये तो उससे मुक्त हो जायें । हमें पलपल सजाग होना चाहिए । यदि हमें सचमुच में चेतना हो तो चेत जाना होता है ही । जब फँस जाने का होता, फँस जाना यानी कि साधना के विषय से अन्य प्रकार में टकरा जाना होता हो, उस उस पल में प्रभु की कृपामदद प्रार्थनाभाव से याचना करने का कभी भी चूका नहीं । **प्रार्थना वह तो *इस जीव* का रामबाण उपाय है । उसे निष्फल होते जाना नहीं है ।**

स्वजन के बारे में इस प्रार्थनाभाव का काम

अब जब स्वजन मित्रों के स्मरण होते ही उनके स्मरण को प्रार्थनाभक्तिभाव से श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पणयज्ञ की भावना से रखा करता हूँ, तो उनके लिए किया वैसा प्रार्थनाभाव जब फलित होना हो, तब भले फलित हो, उसमें उन स्वजन मित्रों की ओर से हृदय के उस प्रकार के प्रकट होते जीवित भाव के साथ की उतनी ही आवश्यकता रहती है । वैसा उनमें हृदय का भाव जागा और टिका न होने से उसे (प्रार्थनाभाव को) फलित होना नहीं होता है । बाकी, शुद्ध, प्रमाणिक, वफादार और नेक दानत के दिल के आर्द्र और आर्तभाव से पुकार गया प्रार्थनानाद मिथ्या कैसे हो सकता है ? जीवनविकास के शुद्ध परिणाम का उद्देश्य सत्य

हो, उसका साधन जहाँ प्रार्थनाभाव हो, इससे उसमें भाव पवित्र ही हो, और उसमें हृदय की आर्द्रता और आर्तता हो, और तीनों का जहाँ तादात्म्ययुक्त चेतनरूप से सुमेल प्रकट हुआ हो तो वह कैसे नहीं फलित हो सकता ? यदि न फलित हो सकता हो, तो अवश्य समझ लें कि हम में कहीं कमी है ।

अपनी प्रार्थना न फलित होने पर आत्मपरीक्षा

जब जब **इस जीव** को किसी स्वार्थ प्रकार की नहीं, पर जीवनविकास के मार्ग पर की उलझन पड़ी अनुभव होती, और वह जब अत्यधिक सालती, और उसे हल करे बिना चैन या जरा भी आराम न मिले ऐसी उत्कट दशा रहती, उस समय हृदय में हृदय से जो प्रार्थना होती, यद्यपि वह न फलित होती, तो **यह जीव** अपने आप–मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, अहम् को उनके अनेक पक्षों में पुनः पुनः जाँच लेता, कहीं कमी होनी ही चाहिए, या तो प्रार्थना के भाव में वे वे (मनादिकरण) संपूर्ण योग्य रूप से घुल न गये हों अथवा ऐसी एकाग्रता और केन्द्रितता न आयी हो, ऐसा अनेक प्रकार की तरह के सभी पक्षों का गहरे से गहरा पृथक्करण कर करके, प्रभु के भाव में एकाग्र और केन्द्रित होने को उनकी कृपा से यत्न करने का हुआ करता था । वैसा होते होते हृदय का गहरा वैसा प्रार्थनाभाव भी फलित होते अनुभव होता ।

बाद में फलेच्छा बिना की प्रार्थना

ऐसा जब और तब हृदय में हृदय से प्रार्थना किया

करता था । बाद में तो प्रार्थना से परिणाम लाने की आतुरता को भी टाल दिया था । वैसा होना भी योग्य नहीं था । **हमें अपने हिस्से में आया कर्तव्य योग्य रूप से पूरे भाव से उसके संपूर्ण यथायोग्यरूप में किया करने में यदि प्रभुकृपा से रत रहा करते होंगे, तो वह अपने हिस्से का अवश्य करनेवाला ही है, ऐसा आत्मविश्वास और ज्ञानमूलक श्रद्धा** ***इस जीव*** **में प्रकट हो गये थे ।**

प्रार्थना से करणों की शुद्धि

इससे हमें तो उसकी प्रार्थना ऊपर बतलाई है, उस भाव और उस तरह से किया करें । उसमें कहीं भी थोड़ी बहुत भी चुक न हो, उसका संपूर्ण ध्यान रखना होगा । प्रार्थनाभाव की एकाग्रता और केन्द्रितता आने या लाने में मन, बुद्धि कभी कभी तर्क भी उठाते हैं । प्रार्थना का ऐसा भाव आने पर मन, बुद्धि आदि करण तर्क उठाते तो उन्हें कहता कि

'जिगर सौंप दिया तो बेकार तर्क क्या काम के ?'

और हृदय की भावना मंद पड़ने पर उसे प्रेमभाव से संबोधन करता कि

'चरण में खाख होकर मरना, प्रणय की यह निशानी है ।'

ऐसी कई पद्धतियों से करणों को जाग्रत कर करके उसकी कृपा से उन्हें साधनाभाव में प्रेरित किया ही करता था । तुम्हें भी वैसी पद्धति, उपाय और प्रयोगों को आजमाते ही रहना है ।

‘उगा हुआ’ ज्ञान ही श्रेष्ठ

इस जीव की कथनी किसी को उसने कही नहीं है, लिखी नहीं है, तुम्हें लिख रहा हूँ, इसका भी कारण है । इसका महत्त्व हृदय से तुम खोजना और समझना । कितनी ही हकीकत न कहने में ही सार है । अपने आप जो अनुभव से प्राप्त किया है, जिसमें ज्ञानभक्तिपूर्वक का श्रम है, तप है, पुरुषार्थ है, उस तरह से जो प्राप्त हुआ होता है, वह हृदय में आर-पार उतर जाता होता है, वह अपना होकर प्रिय प्रिय लगता है ।

वही और उसका ही हमारा सब

जिसमें और उसमें हमारे प्रिय प्रभु के हृदय का सगापन हमें आगे तैर आना चाहिए । ऐसा हुआ करता अनुभव हो तभी जानना कि हमारे मनादिकरणों में उसका भाव महत्त्वरूप से है । हमारा सच्चा मालिक कहो, स्वामी कहो, पिता, माता, पुत्र, सखा, बहन, सद्गुरु, त्राता, रक्षक, पोषनेवाला, प्रेम करनेवाला, प्रणय करवानेवाला आदि आदि सब । ऐसे का आज्ञापालन तो कितने अधिक हर्ष से हुआ करे । उसका कुछ भी करते करते तो हमें रोमांचित हो जाना चाहिए । इसलिए जिसमें और उसमें उसे ही पहचानने में जीवन की शक्ति हमें खर्च करनी है । उसके कारण ही संसार प्राप्त हुआ है, उसके कारण ही प्राप्त हुए स्नेहीजन, मातापिता, पति, सास, ससुर

आदि स्वजन हैं। उसके लिए ही जो भी सब प्रवृत्ति और कर्म, व्यवहारवर्तन, संपर्क, संबंध आदि हैं।

सगे को भी प्रिय को रीझाने ही चिमटना

यदि उन सभी में उसका भानज्ञान चूके, तो तो वह वह सभी ही चिपके समझो। वह प्यारा तो रहा हुआ है, वे वे स्वजनों के अंतर में। इसलिए उनको चिमटना है, वह उन स्वजनों के स्थूल शारीरिक सगापन संबध से चिमटना नहीं है। ऐसा चिमटना तो पतन है। किन्तु हमें तो वहाँ जो चिमटना है, वह तो उनमें जो प्राणप्रिय हमारे अंतर का मित्र, सखा, हमारा जो कहो वह, उनमें जीवित बैठा हुआ है इसलिए। इससे उसे रीझाना और चिमटना है। उस भाव के बिना उन उनको चिमटने का दूसरा कोई अर्थ नहीं है।

प्रभु की लीला

संसार, व्यवहार, वर्तन, संबंध, संपर्क, हिलना, मिलना आदि प्रकार के कर्मों से हमारा **जीव**स्वभाव टलता जाय, हृदय का प्रेमभक्तिभरा प्रभुप्रीत्यर्थ का जीवित भाव उस उसमें प्रकट हुआ करे, ऐसा प्रकट हेतु हमें उसकी कृपा से सभानपन से रखा करना है। ऐसा जीवित अभ्यास प्रकट होते परिपक्व होते और जीवित होते यह संसार हमें किसी अजीब नये प्रकार का उस प्रिय भगवान की लीला का विस्तार है, ऐसा अनुभव होते रहता है। उसमें हिलते-मिलते, मिश्रित होते कोई अनोखा आनंद व्याप्त रहता है।

‘मिथ्या’ संसार का अर्थ

इस संसार को ‘मिथ्या’ जो कहनेवाले हैं, उनके अर्थ के हेतु को हमें समझना है। हमें मात्र संसारी **जीवों** की तरह संसार को संसार की तरह जानकर चिमटेंगे, तो हमें संसार ही मिलनेवाला है और संसार में भला है भी क्या ? जाने दो। यदि उसमें से प्रभु की परख—चेतनलीला का अनुभव—हृदय से परखने को हृदय का मुग्धताभरा आकर्षण न प्रकट हुआ करता हो तो ?

संसार के रंगढंग

संसार में तो जहाँ तक उपयोग में आये वहाँ तक उपयोगी हैं। बाकी तो पिंजरापोल के पंगु पशु की तरह ही लगेंगे। कोई मुँह पर ऐसा नहीं बोलता है। फिर, संसार में कोई बड़ा, बुजुर्ग या ऐसा हो या अच्छी आर्थिक स्थितिवाला हो, तो फिर सभी मिलने आते हैं, ऐसा अनुभव संसार में सब तरफ व्याप्त है। असहाय की मदद के लिए कोई खड़ा नहीं रहता है। संसार में क्या गरीब के कोई संबंधी नहीं होंगे क्या ? पर उनके संकट में मदद के लिए कितने प्रेरित होते हैं ? उनकी बीमारी में कौन, कितना सहायक होता है ? करना पड़े वह भी मानो कि मजबूरी में। उसमें प्रेम-हृदय की उमंग - साधारणतः तो किसी पर बारी गये हो अनुभव नहीं होता है। ऐसे हैं संसार के रंगढंग।

संसार से चिपकने का हमारा हेतु

पर हमें संसार के ऐसे रंगढंग के पहलू को चिपकने से क्या प्राप्त होगा ? हमें तो संसार को जो चिपकना है, वह उन उनके हृदय में हमारा प्रिय जो बिराजमान हुआ है, हमारे हृदय की प्रेमभक्ति की सेवा से उनको राजी करके हम तो उसे खुश खुश करना चाहते हैं । ऐसे जीतेजागते हेतु की भावना से श्रीप्रभु की प्रेमभक्ति से जो कुछ हो वह सभी किया करना है । उनको यानी किसी को भी संसारव्यवहारवर्तन में हमारे बारे में दिल में दुःख लगे, वह हमारे प्रिय को हमारे बारे में दिल में दुःख लगा है ऐसा मानकर, हमें तो वारी वारी जाकर के उनके हृदय को संतोष देना है ।

स्वयं सभी को प्रभुकृपा से रीझाये थे

कोई कहेगा कि 'ऐसा करने पर तो किसी को कभी संतोष होगा ही नहीं ।' तो वैसा मानने से **यह जीव** मना करता है । **इस जीव** ने उसकी गरीबी की दशा में परायों के घर पर रहकर सभी के मन को खुश किया था । यह सत्य है कि क्या वह जहाँ जहाँ **यह जीव** इस तरह से रहा है, वहाँ जाकर सब कोई पूछकर आ सकते हैं । उसमें **इस जीव** की कोई महत्ता थी वैसा तो कुछ नहीं है, पर उन उन **जीवों** की सच्ची महत्ता थी, हम हृदय के कैसे भाव से बरततें करते हैं, उस भाव के प्रकार से हमें अपने में संतोष हो जाना चाहिए । हम से कुछ कहीं अति उत्तम प्रकार का होते या करते, एक प्रकार

का संतोष का भाव हृदय में प्रकट होता है । दूसरों की बात साधक को छोड़ देनी चाहिए । हमें अपने को जो भी कुछ करते करते कितना अधिक संतोष होता है, उसे निरखा करो ।

आज तो पैसों की बोलबाला

आजकल जगत में धन की होनी चाहिए उससे बहुत अधिक महत्ता प्रकट हो गई है । जहाँ धन वहाँ प्रतिष्ठा, यश, आबरू और उसकी जहाँ तहाँ बोलवाला सुनाई देती है । उसकी ऐसी चमकटमक से हम कभी भी चौंधिया न जाएँ । उसके चकाचौंध के आगे हमारा सिर उसके लालच, संजोग से या कोई ऐसे सांसारिक हेतु से झुक न जाय, इसकी तो लाखगुनी सावधानी रखनी है ।

'गिरधर बिना सिर नहीं झुकेगा'

हमें सिर तो सदा ही झुकाया करना है हमारे बाँके बिहारीलाल के चरणकमल में । इसके बिना अन्य स्थान पर वैसा कभी भी नहीं करना है । **हमें उसके भावस्पर्श के बिना का सर्व कुछ वर्ज्य होना चाहिए । ऐसा हमारा तो पुष्टिमार्ग का धर्म है ।** हमारे मन में कोई भी कितना ही बड़ा हो, कितना भी महत्त्वपूर्ण हो, कैसा भी संसारी आँखों को चकाचौंध कर दे वैसा हो, कैसी भी प्रतिभा-प्रतिष्ठावाला हो, किन्तु हमारे प्रिय प्रभु की बढ़ाई, महत्ता, प्रतिष्ठा के आगे तो वह सभी तुच्छ है । हमें तो जिसमें और उसमें वही सच्चा और प्रिय है, ऐसा जीवित ज्ञानभान प्रेरित किया करना है ।

ऐसों को अन्याय सालता नहीं

ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक जीतेजागते किये करते रहेंगे, तो हमें कभी भी दिल में दुःख नहीं होगा । जिसे अपने स्वयं के जीवन के आदर्श की लगन लगी हुई है, ऐसे **जीव** का मन तो ऐसा इधरउधर जो उगता होता है, उसमें जाता भी होता नहीं है । उसे ऐसी पड़ी भी नहीं होती है । वह तो लगा ही रहता है उसके अपने ही विषय में । उसे इधरउधर देखने का शौक या रस कभी जागता ही नहीं । वह तो मात्र अपने ही अध्ययन में लीन रहता है । ऐसे को जगत-संसारव्यवहार से होते रहते गहरे अन्याय भी सालते होते नहीं । **इस जीव** ने ऐसी अन्यायपरंपरा सहन की है । वैसा होता रहता अन्याय समझता तो था, पर उसमें मन को पिरोने का प्रभुकृपा से नहीं हुआ था । जहाँ तक जगत संसारव्यवहार में हैं और अन्य **जीवों** के संबंध में हैं, वहाँ तक ऐसा होगा ही ।

अन्याय से लाभ

फिर, हम स्वयं अभी तो *जीव* हैं । इसलिए हम से भी जानेअनजाने किसी *जीव* के साथ किसी न किसी तरह से अन्याय हुआ करेगा । इससे किसी से होते अन्याय के संदर्भ में हमें खराब लगाने का अधिकार रहता नहीं है । ऐसा ज्ञानपूर्वक समझ समझकर ऐसे प्रसंग में हम भूलचूक से भी किसी **जीव** को दोष न दें, ऐसी जागृति रखनी है, यह जानना । फिर, संसारव्यवहार के होते रहते अन्याय से हमें

लाभ होता रहता है, ऐसा हमें भान होता नहीं है । इससे ऐसे होते अन्याय के अज्ञान की भूल से हम उलझ जाते हैं । इसलिए, ऐसे समय में चेतते रहना ।

अपनी बीती कथा तथा हुआ अन्याय

यह **जीव** गूजरात विद्यापीठ में से गूजरात हरिजन सेवक संघ में जुड़नेवाला सर्व प्रथम विद्यार्थी था । उसने श्री इन्दुलाल याज्ञिक के साथ उनके मंत्री के रूप में काम किया था । फिर, आश्रम तथा शाला और इसके अलावा संघ का हिसाबी काम और पत्रव्यवहार का काम (यह तीसरा काम तो कुछ समय के लिए ही मिला था) आदि आदि तो करने थे । किसी संयोग के कारण श्री इन्दुलाल याज्ञिक ने हरिजन सेवक संघ का काम छोड़ दिया । उस काम का केन्द्र नडियाद से गोधरा में बदला गया । एक समय ऐसा था कि जब उपरोक्त दो संस्था एक साथ एक **जीव** चला सके वह अनुचित मनाता था । नडियाद का हरिजन आश्रम वह श्री इन्दुलाल की संस्थाओं में से एक था और नडियाद की हरिजन शाला वह गूजरात विद्यापीठ संचालन के अधीन थी । **यह जीव** उस समय उन दोनों में मुख्यपद पर काम करता था । श्री इन्दुलाल ने आश्रम के व्यवस्थापक के रूप में पैंसठ रुपए का मासिक वेतन देने का निश्चित किया था, परन्तु उनको आर्थिक तंगी सदा ही रहती । हर महीने नगद रकम मिले ही ऐसा तो कुछ

न था, यद्यपि गाँव में काम करते शिक्षकों को अधिकतर तो हर महीने रकम मिल जाती थी ।

विद्यापीठ की शाला में काम के लिए मासिक पचास रुपए का वेतन मिलता, 'हरिजन सेवक को इतना अधिक वेतन !' ऐसी शिकायत पूज्य बापूजी (गांधीजी) के पास गयी थी । उन्होंने **इस जीव** को अपने पास बुलाया और मुझे पूछा था कि 'हमारे गरीब देश में गरीबों की सेवा का व्रत जिसने लिया है, उसे इतना अधिक वेतन खपेगा सही क्या ?' मैनें तब बतलाया कि 'मेरे पास कोई जीवननिर्वाह का कुछ भी दूसरा आधार नहीं है । मेरे बड़े भाई बहुत समय से हरिजन का और सार्वजनिक राजकीय प्रवृत्ति का कर्म करते करते क्षय रोग से पीड़ित आणंद की डॉ. कुक की मिशन होस्पिटल में पड़े हैं । इसके अलावा, **इस जीव** के साथ दूसरे छः जीवों का पालनपोषन करना है । मेरी माँ, भाभी आदि भी स्वयं बहुत मेहनत करते हैं ।' यह सारी बातें पूज्य बापूजी को बतलायीं तब उन्होंने पूछा था कि 'दो संस्थाओं का काम तुम अकेले इतनी छोटी उम्र में किस तरह से कर सकते हो ?' प्रभुकृपा से उस समय पर उनको स्पष्टरूप से उत्तर देने का हो सका कि 'William Pitt, the younger, was prime Minister of England at the age of 24.' विलियम पिट (छोटा) इंग्लैन्ड के प्रधानमंत्री के पद पर चौबीस वर्ष की उम्र पर थें । इस उत्तर से वे बहुत हँसे । उसके बाद उन्होंने

मुझे कुछ पूछा नहीं, परन्तु कुछ ही समय में गूजरात विद्यापीठ की ओर से मुझे आदेश मिला कि 'तुम्हें दो संस्थाओं में से कोई भी एक में काम करने को निश्चित कर लेना।' कारण ऐसा बतलाया कि 'तुम्हारे अकेले से दोनों संस्थाएँ संपूर्ण योग्य रूप से नहीं की सँभाली जा सकती हैं।'

इस प्रसंग की घटना के बाद मात्र तीनेक महीने बाद वही ऊपर की दोनों संस्था वापस **इस जीव** को ही काम करने को सौंपी हुई थी। फिर, उस समय आश्रम में खाना बनाने का, पानी भरवाने का और भरने का भी स्वयं करना होता था। आरंभ के गुजरात में वह सबसे पहला आश्रम होने से बालकों को नहाना भी कैसे, कैसे कपड़े पहनना, उठना कैसे, धोना कैसे, आचरण कैसे, बिस्तर कैसे करें, खाना कैसे खायें-मतलब कि उनके एकएक काम में हमें स्वयं उपस्थित होकर खड़े रहना होता ही। आज की तरह उस समय अधिक कर्मचारी भी काम करनेवाले नहीं थे। आश्रम में भी **यह जीव** अकेला था। आरंभ के समय में एक हरिजन भाई सहायक के रूप में थे और बीच में दूसरे एक सवर्ण भाई थे। उनके जाने के बाद तो आश्रम का कार्यभार **इस जीव** को ही चलाया करना था और शाला का भी। जो स्थिति तीनचार महिने पहले अयोग्य थी, वही स्थिति अब संभव और योग्य किस तरह से हो गई होगी ! फिर, उस समय **इस जीव** को शरीर में हिस्टीरिया का रोग हो गया था। यह बात संघ के दूसरे

ऊपरी जवाबदार भाई जानते होंगे, तब भी किसी के दिल में ऐसा नहीं होता कि इस भाई को दो संस्था का कार्यभार सौंपा है और उसके शरीर की स्थिति उसे पार करने के योग्य प्रकार की नहीं है, तो उसे दो में से एक संस्था का कार्यभार सौंपे तो उत्तम, परन्तु वैसा किसी को सूझा नहीं था। अंत में खींचे वहाँ तक खींचा था और **इस जीव** से जब हो न सका ऐसी शरीर की दशा हुई, उस समय उसने स्वयं अर्जी की थी कि अब दो संस्था में से एक का कार्यभार सौंपे तो उत्तम। फिर इससे आश्रम को निकालकर मात्र अकेली शाला का कार्यभार **इस जीव** को सौंपा।

अन्याय के सम्बन्ध में अपनी वृत्ति

ऐसी बात हुई उस समय मेरे एक गत प्राप्त हुए स्नेही रोज मुझे टोकते 'साला ! तू तो कायर है। तू तो बड़े बड़ों की शह में खींचा घूमता है। तुम्हारे पुराने कार्य को देखकर तुम्हें एकमात्र छोटी स्कूल का मास्टर के रूप में चुना है। इससे तुम्हें क्या ओछापन नहीं लगता ? तुम्हारा ऐसा हुआ अपमान तुम कैसे सहन कर सकते हो ? तुम्हारे बाद आये हुए नये नये आश्रम के व्यवस्थापक होकर बैठे हैं और तुम तो उस बात का विरोध भी नहीं करते, यह तुम्हारी कैसी कायरता है ?'

पर उन्हें मैं उत्तर देता कि 'भाई ! हमें तो जहाँ वहाँ से काम करना है न ? फिर हम कहीं भी हों और किसी भी

पद पर हों उसका कोई भी महत्त्व नहीं है । हमारा महत्त्व तो काम करने के साथ है न ?'

तब भी उस भाई के मन में संतोष न था ।

अन्याय में प्रभुकृपा

मुझे जो छः वर्ष शाला के काम के मिले, वह तो प्रभु की अनहद कृपा थी । यदि ऐसा न हुआ होता और आश्रम का काम मिला होता तो **इस जीव** से साधना के भाव में संपूर्ण रूप से लगा सका न होता । आश्रम में रहने का हुआ होता तो रात को भी काम में वहीं रहने का हुआ होता । यह तो स्कूल का काम होने से रात को छुट्टी । इससे रोज रात को तो नडियाद के श्मशानादि के एकांत शांत स्थानों में ही बिताना प्रभुकृपा से होता । यद्यपि रोज शाम को भोजन करके रात को हरिजनवास में जाता, वहाँ रामायण, महाभारत की बातें करता, विद्यार्थिओं के पास से धुन, भजन आदि कार्यक्रम करता, पर कहने का तात्पर्य तो यह है कि मेरे स्नेही मुझ पर हुए बड़े अन्याय की बात कहते थे, पर उस अन्याय के हार्द में तो इसके कल्याण का ही श्रीप्रभु का एकमात्र हेतु था ।

नडियाद के निवासस्थान के छः या सात वर्ष अकेले साधना के भाव से प्रभुकृपा से बीते यह कोई मामूली लाभ नहीं है । वैसे दिखते या लगते अन्याय में सामनेवालों का कोई भी ऐसा खराब हेतु न था । मेरे लिए तो था ही नहीं । शायद मैंने इसके लिए प्रकट विरोध किया होता, तो उन्होंने उस

विषय में अवश्य सोचा होता । इसके बारे में आज भी मुझे संदेह नहीं है, पर मुझे ऐसा लगा ही न था, इसलिए फिर उसके संबंध में लिखूँ किस तरह से ? फिर, संघ में जैसे जैसे नये नये उत्साही कार्यकर्ता मिलते गये वैसे वैसे नयी संस्थाएँ भी खड़ी होती गई । जैसे जैसे जो जो जिसमें रुके, उसमें वे रहे । काम की उत्तमता का सर्वप्रथम ख्याल रहा करना चाहिए, उस तरह जो जो हुआ करा वह उत्तम था । उन दौरान के दिन जीवन के अति उत्साह के प्रेरणात्मक भावनावाले थे । सभी किसी को उत्साह से कर्म में लगे रहने का ही सूझा करता था । वहाँ किसी को भी दूसरों को अन्याय करने का सूझ सके ऐसी किसी की मनोदशा न थी ।

अन्याय के प्रसंग के संदर्भ में योग्य विचारणा

इससे मेरी तुम्हें सलाह है कि **संसारव्यववहारवर्तन में जहाँ जहाँ अन्याय होता लगे, वहाँ वहाँ अन्याय को अन्याय के रूप में तो हमें कभी नहीं स्वीकार करना है । इसके पीछे हमारे निर्माण का हेतु रहा हुआ होता है ।** उस हेतु को समझने के लिए अत्यधिक यत्न किया करें । अन्याय हुआ है, ऐसा लगता है तो हमारे मन, बुद्धि, प्राण और अहम् को । वे अभी संपूर्ण समता, तटस्थता, शांतियुक्त दशा में कहीं प्रकट हुए होते हैं, कि उनका वैसा तौला हुआ उस विषयक न्याय योग्यतावाला हो ? उन्होंने (मनादि ने) जो सोचा हो वह बिलकुल सच है ऐसा किस तरह से गिन सकते हैं ? प्रत्येक

प्रसंग के अनेक पहलू होते हैं। इसलिए उसे उसकी समग्रता से अवलोकन करने का हम से किस तरह से हो सकता है ? इसलिए प्रत्यक्ष अन्याय को अन्याय के रूप में स्वीकार करने का होने से तो हम शायद दूसरे किसी **जीव** को अन्याय कर बैठेंगे ।

भले हम शायद अन्याय का भोग बन जाये, पर इससे हम किसी को भी अन्यायी नहीं मान सकते इसकी तो सौ प्रतिशत सावधानी रखनी है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ६-४-१९५३

मैंपन तो टलना ही चाहिए

हमें अपनी अंहता को बार बार देखा करना है । ऐसे 'मैंपन' के फलस्वरूप से **जीव** कुछ का कुछ कैसा कैसा मन में मान लेता होता है ! अकारण ही थोड़ी सी चोट लगने से वह चुप बैठा नहीं रहता । उसकी क्रिया तो शुरू हो जाती होती है । अहंता भी प्रकृति का कार्य है, उसके पीछे प्रकृति की प्रेरणा है । हमारी ऐसी अहंता टले यह साधनामार्ग के लिए बहुत बड़े से बड़ा और **जीव** के लिए अत्यधिक कठिन कार्य है । पर जिस **जीव** को उस विषय में सचमुच भारी कुतूहलता और सावधानी जागी है, उसे किये बिना छुटकारा ही नहीं है ऐसा जिसे लगा करता है, ऐसे **जीव** के लिए उस विषय में वह सतत जगा रहता हो, तो वैसे को वह दुर्लभ भी नहीं,

मतलब कि कर सके ऐसा है । ऐसे **जीव** प्रकार के 'मैंपन' से हमें मुक्त होना ही है । ऐसा मन में बारबार सतत दृढ़ करना रखो । उसे समूचा हमारी समझ के एकएक अंग में उतारा करो । उसका सिर थोड़ा ऊँचा होने पर, उसे परखकर निकाल दो । ऐसा होने पर यानी कि ऊँचा सिर होने पर उसकी असर टल सके या टाल सके ऐसा आचरण करो ।

अहम् नरम पड़ने के लक्षण

जब आशाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ आदि का स्फुरण होते भले दिखे, पर गतिमान होते न अनुभव हो, तब जानें कि हमारा अहम् दादा नरम पड़ गया हुआ है । जब अनेक प्रकार के, अनेक क्षेत्र का, कामनाओं का मनहृदय से संपूर्ण त्याग सहजता से हुआ करता अनुभव हो, तो जानना, समझना और मानना कि अब हमारे जीवन में यज्ञभावना संपूर्ण जम गई हुई है । जीवनयज्ञ की भावना में किसी भी प्रकार की आशा, इच्छा, कामना, तृष्णा, लोलुपता आदि को आदि स्थान ही नहीं होता है ।

अहम् को मिटाने के प्रयोग

ऐसे **जीव**रूप के अहम् को मिटाने और उसे प्रहार देने और उसमें अभिनव जन्म लेते सिर को काटने के लिए कुछ कुछ प्रयोग प्रभुकृपा से **इस जीव** ने किये हैं । कोई कुछ भी कहे तो उसे सहजता से स्वीकार कर लेने की योग्य आदत ज्ञानपूर्वक पहले से करने की उसकी कृपा से प्रयत्न करने का

हुआ था । छोटे बालकों का भी मान लेता । मात्र उस समय अमुक अपवाद को मन में संपूर्ण जाग्रत समझ से दृढ़ता के स्वरूप में उस समय रखे हुए थे, उसकी बात अलग थी । मेरी ऊपर की जो भी स्वीकार कर लेने की आदत का पता साबरमती आश्रम में छात्रालय के लड़कों को भी चल गया था । इससे जब **यह जीव** मलत्याग करने के लिए जाता हो उस समय कोई मजाक करनेवाला हो, वह आकर कहता कि,'... ! अभी पाखाना नहीं जाना' तो ऐसा सुनकर **यह जीव** वापस आ जाता था । बहुत देर तक काम करता करता वह करे बिना वह बैठा रहता, इससे कुछ बिगड़ा नहीं है । उलटा एक प्रकार का संयम विकसित होता, ऐसा ज्ञानभान उस समय प्रकट होता ।

साधना के योग्य अभ्यास से गुणविकास

अनेक प्रकार के अहम् से उठते आंदोलन प्रभुकृपा से समझने को प्रयत्न करता । ऐसे ज्ञानपूर्वक के अभ्यास का परिणाम तो यह होने लगा कि समता, तटस्थता, शांति, विवेक, प्रसन्नता, सहिष्णुता आदि गुण अपनेआप प्रकट होते अनुभव हुए थे । यों, ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृति से और उसके हेतु के लिए पालन होते जाते साधना के अभ्यास से, गुण तो अपनेआप विकसित होते जाते हैं, वह निश्चित हकीकत है ! केवल गुण विकसित करने का अभ्यास **इस जीव** को कभी न था और ऐसा जानता भी न था । केवल

गुण विकसित करने हैं, ऐसा जाग्रत ख्याल भी उस समय न था, परन्तु साधना के ज्ञानभक्तियुक्त योग्य प्रकार के निरन्तर अभ्यास से वैसे गुणों को विकसित करने का हो पाया था और वैसा वैसा अनुभव होते ही कोई अनोखा आनंद होता और उसमें से योग्य प्रकार का आत्मविश्वास प्रकट हुआ करता था ।

साधना-पूँजी विषयक गुत्थी और हल

हमें आरंभ में किस शक्ति के संचय से काम करना ? जैसे व्यापार करने के लिए प्रथम पूँजी, उसकी कला, उसका विवेक, उसे संचालन करने का ज्ञान, उस क्षेत्र के व्यवहार की समझ, कर्म को करते करते प्रत्यक्ष होता जाता उसका अनुभव आदि आदि की सभी की जैसे आवश्यकता रहती है, वैसे जीवनविकास की भावना को विकसित करने के लिए भी शक्तिरूपी पूँजी की आवश्यकता रहती है । यह पूँजी आरंभ में लानी कहाँ से ? इस प्रश्न ने मुझे अत्यधिक परेशान किया था । जैसे व्यापार के लिए दूसरे सभी आवश्यक साधन हों, पर धन की पूँजी न हो और उसे पाने के लिए वैसी योग्य पहचान या संबंध न हो और उस व्यक्ति का व्यापार करने का बहुत मन हो, तब भी वह असहाय हो जाता है । अपने विचार को वह अमल में नहीं रख पाता, वैसा **इस जीव** का हुआ था, परन्तु इसमें और उसमें निराश होकर लाचार बनकर कभी बैठे तो न ही रहना, ऐसा मेरे सद्‌गुरु का **इस जीव** को मिला आज्ञावचन था ।

गुरु के सद्‌वचन को तो किसी भी बड़े से बड़ा भोग देकर भी यथार्थ रूप से आचरण में रखना है तो रखना ही है, ऐसी समझ श्रीप्रभुकृपा से दिल में उतरी हुई थी । इससे गलत ढंग से पैदा हुई लूली लूली दशा में से उबर जाना भी हो सका था । उस समय ऐसे सद्‌गुरु की भावना की धारणा को हृदयस्थ किया करता । उसे अत्यन्त आर्त और आर्द्रभाव से हृदय में हृदय से प्रार्थना किया करता । सर्व ध्यान ऐसे ऐसे प्रश्न, उलझन, कठिनाई आदि जो उठते, उसके हल करने में रोककर समझपूर्वक का आचरण किया करता था । ऐसे हृदय में प्रेमभक्ति से हृदय से उसकी प्रार्थना करते करते **इस जीव** को उसका हल अपनेआप जैसे जमीन से अचानक बाँस फूट निकलता है, वैसे उग जाता । इससे ऐसे होते रहते प्रार्थना के प्रकार से **इस जीव** को सूझा कि–

'हे **जीव** ! तुम्हारे जीवनविकास करने की अदम्य उत्साहयुक्त सावधानीपूर्वक की आतुरता, उसके संदर्भ की दृढ़ श्रद्धा, उसके संदर्भ में पुरुषार्थ किया करने की तेरी भारी लगन, देखभाल, शौर्य, हिंमत, साहस, अनंत धीरज आदि गुण से प्रेरित होकर उसकी कृपा से पुरुषार्थ करने की तेरी नेक दानत, उसके संदर्भ में तुम्हारी संपूर्ण वफादारी, तुम्हारी शुद्ध प्रमाणिकता, ऐसा पुरुषार्थ मंद पड़ने पर तुम जागकर उसे मंदाग्नि से ज्वलंतरूप से प्रज्वलित किया करते हो, उस प्रकार का उसकी कृपा से होता रहता पुरुषार्थ, तुम्हारी उत्कट से

उत्कट भावना के विकास के लिए की आतुरता, उस संदर्भ में पूरी अंतर की श्रद्धा और उसके लिए उसकी कृपा से होता रहता पुरुषार्थ-शक्तियाँ कोई जैसी तैसी नहीं हैं ।'

हल से चारों ओर शक्ति फूट निकली

यह हल मिल गया, इससे एक प्रकार की जीवन में दृढ़ता और खुमारी आ गई । अनेक गुना शौर्य और हिंमत मानो फुव्वारे की तरह फूट निकले । सद्‌गुरु की भावना और एकाग्र और केन्द्रित हृदय में से होती रहती उसकी ऐसी धारणा, ऐसे ऐसे प्रश्न आदि के समय में अत्यधिक उपयोग में आती अनुभव की हैं ।

सद्‌गुरु की भावना का उपयोग करो

सद्‌गुरु भी साधन के लिए हैं। उसे जो प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक श्रद्धा के ज्ञानभान से जीवन में प्रत्यक्ष उपयोग में लेता है, उसे वे उपयोग में पूरी तरह से आते हैं, परन्तु ज्ञानभान के साथ उसका उपयोग कितने करते हैं ? तुम कृपा करके उसका उपयोग किया करना । ऐसे प्रयोग से अनुभव-ज्ञान पाते रहना । सद्‌गुरु जिस हेतु के लिए किए हो, उस हेतु के लिए उसका ज्ञानभक्तिपूर्वक का यदि योग्य उपयोग न हुआ करता हो, तो फिर वे किये हुए हैं, वह किस काम के ? क्या खाली खाली, नाम के वे किये हुए हैं ? क्या वे मात्र शोभा के लिए ही हैं ?

अंतर जाँचने के माप लक्षण

यदि व्यापार करना हो तो जो पूँजी हो, उसे एक तो सँभालकर रखनी पड़ती है । उसकी वृद्धि भी होती रहती है

कि नहीं वह भी निश्चित अनुभव से देखते रहना होता है। वैसे इसमें भी हमारी उत्कट आतुरता जीवित हुआ करे, जीवन में जो भी उठते प्रश्न, उलझन, उपाधि, कठिनाई, मुठभेड़, घर्षण में, अनेक प्रकार के संसारव्यवहारवर्तन के खड़े होते इधर-उधर के वृत्तों में और इसके अलावा तो मनादिकरणों में खड़े होते अनेक भावों में वह (उत्कट आतुरता का भाव) हमें उपयोगी हुआ करे और श्रद्धा के प्रकार से उस समय जीवन में अनुपम शौर्य, हिंमत, साहस, धीरज, सहनशीलता, क्षमता, शांति आदि प्रकार के बल जीवित हुआ करते हैं कि क्यों, यह सभी जीवन की वैसी वैसी भयानक दशा में प्रत्यक्ष उपयोग में आते अनुभव होता है कि क्यों और जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में होते रहते पुरुषार्थ की भावना में तनदिही, बड़ी लगन, देखभाल, उत्साह, उल्लास आदि सभी प्रकट हुए करते हैं कि क्यों, यह सब हमें देखते रहना होता है। इस पर से हमें अपना माप मिलता रहता है।

पतन के समय में सद्‌गुरु का ही सहारा

ऐसा सब होता रहता है, वह हम अपना प्रत्यक्ष देखते रहते हैं। अमुक बार पछाड़ भी खानी पड़ती हैं, कुछ उलटा होता जाता भी अनुभव होता है, कुछ पापदोष की वृत्ति में फँस जाने का प्रसंग भी खड़ा होता जाता है। ऐसे समय में जिस **जीव** को जीवन के आदर्श की सचमुच पड़ी हुई होती है, उसे श्रीप्रभुकृपा से तुरन्त भान प्रकट हो जाता है, वह

अनचीता जाग जाता है । प्रभुकृपा से उसे सच्चाई के रास्ते मुड़ जाते देर नहीं लगती है । अज्ञानता से, अनजान में, भूलचूक से, गलत मार्ग पर उससे जो चढ़ा गया होता है, उसका योग्य भान उसके दिल में प्रकट होने पर उसे पश्चात्ताप की जो अग्नि प्रकट होती है, उससे तो उसे और खुशी का जोश चढ़ता है । ऐसे समय में हुए दोष और भूल का मात्र वह चिंतन नहीं किया करता, या नहीं पड़े रहता निराशा के घेरे के भँवर में ! वह तो उसमें से जागकर अधिक अदम्य उत्साह से और सावधानी से उच्च मार्ग पर जाने का प्राणवान दृढ़ प्रयत्न किया करता रहता है । जीवन में उसे पतन का समय आता है, उसमें गिर जाता होता है, उस समय ऐसे **जीव** का एकमात्र सहारा उसके प्राणवान सद्गुरु होते हैं । उस समय प्रभुकृपा से उसे पुकारता ।

गुरुभक्ति पर आज के प्रहार की योग्यता

ऐसी सब हकीकत मैंने केवल तुम्हीं को लिखी हैं और वह लिखी हैं इसलिए कि आज के सद्भावी, विवेकी, ज्ञानी से गुरुपन की भावना पर प्रहार हुए हैं, और वह योग्य भी है । जिस भावना का उपयोग जीवन के निर्माण के लिए था, उस भावना को समय जाते निरर्थकपन से, अज्ञानपन में टकराती-कुचलती देखकर किस जाग्रत ज्ञानी को ग्लानि न हो ? इससे उस पर प्रचंड प्रहार हो यह यथार्थ है । इससे

जितना शुद्ध हो सकना होगा वह हुआ करेगा। इसलिए यह तो योग्य प्रकार का शुद्धियज्ञ है।

तथापि सद्‌गुरुभक्ति भी योग्य साधन है

पर इसके साथ-साथ जीवन के विकास की भावना के विस्तार के लिए यानी कि जीवन में शुद्ध अनुभव का ज्ञान प्रकट करने के लिए प्रेमभक्तिज्ञान से जिस सद्‌गुरु का साधन स्वीकार किया हुआ है, वह बेकार नहीं है, यह भी ऊपर के लिखे हुए में वैसा हेतु रहा हुआ है। वह साधन है और उसे उस तरह से काम में लाने में उपयोगी है और उस उपयोग से ही ज्ञान मिलता है, यह भी ठोस अनुभव की बात है। जो कुछ होने पर भी, उसके होने के हेतु के लिए यदि उपयोग हुआ न करे, तो वह तो ऐसे का ऐसे ही पड़ा रहे। उस तरह से गुरुपन की भावना का उपयोग जीवन के विकास के लिए है। गुरुपन की भावना का योग्य उपयोग जीवन में होता यदि न अनुभव कर सके तो हमें सोचना रहा। पहले तो हम उसका योग्य संपूर्ण उपयोग कर सकते हैं या क्यों वह सोचना यदि उपयोग न किया करते हों तो प्रथम दोष तो हमारा ही है, गुरु की परंपरा से समाज का जीवन तो प्रमाद और आलस्य में ही रहा करता हुआ है, जब कि सही ढंग से तो ऐसा नहीं होना चाहिए। जीवन की अनेक प्रकार की समझ और गुत्थी ऐसी की ऐसी रही हुई हैं। इसलिए उस पर प्रहार हो वह बिलकुल योग्य है।

मूर्तिपूजा के विरोध का दृष्टांत

तथापि हमें ऐसा भी सोचना चाहिए कि श्री दयानंद सरस्वती ने पूरे हिन्दुस्तान में मूर्तिपूजा के खंडन के लिए बड़े से बड़ा आंदोलन किया था और उस समय में वह योग्य था। इससे मूर्तिपूजा कोई अदृश्य थोड़े ही हो गई है ? ऐसे आंदोलन से उसके प्रति शुद्धि जितनी योग्य हो उतनी भले हो सके। उस तरह से गुरुभावना के जीवनआदर्श के पर वैसै सद्‌भावी, विवेकी और ज्ञानी पुरुष के प्रहार पड़े वह उतने ही योग्य हैं। हमें तो उनके संदर्भ में सद्‌भाव की दृष्टि से ही देखना हो।

कालपुरुष की एकांतिक दृष्टि

ऐसे ऐसे महापुरुष समय समय पर परंपरा की लीक में पड़ गये हुए समाज के अंतर के प्राण को जगाने, चेताने, आगे धकेलने के लिए पैदा हुआ ही करेंगे। वे अपने ध्येय का कार्य करने में इतने अधिक उत्कट जोशवाले होते हैं कि उस बिना की अन्य योग्य बात के क्षेत्र को वे पूरी तरह ध्यान में भी नहीं लेते हैं। उसमें उनका दोष भी नहीं है, क्योंकि वह उनका कार्य नहीं है। उनको तो उस काल के दौरान जीवन में प्राप्त हुआ उस समय का योग्य धर्म्य कर्तव्य करना होता है। उसमें वे डूबे रहते हैं, किन्तु इससे ऐसी आत्मा की कीमत कोई कदाचित् कम आंके ! सत्य के समग्रपन को तो कौन तौल सके ऐसा होता है ?

उनके प्रति साधक की दृष्टि

जो कोई जैसा प्रचार करता हो, परन्तु उनमें हृदय का संपूर्ण सद्भाव जागा है कि क्यों इतना ही हमें देखना हो । यदि उनके कर्म संदर्भ में उनका ऐसा ऐसा सद्भाव हो, तो हमें भी उनके पास से हमारे कर्म सम्बन्ध में ऐसा सद्भाव ही नम्रता से सीखना रहता है । वे लोग जिस तनदिही से, उत्साह से, धीरज से, अनेक प्रकार के अनेक तरफ का प्रचंड विरोध होने पर भी, अपने कर्म को कैसे उत्साह-उल्लास से लगे रहा करते हैं, ऐसा प्राणवान उनका उदाहरण जीवन में प्रेरणा प्रकट करने के लिए हमें जगत में दूसरा कहाँ मिलनेवाला था ? इसलिए ऐसे पुरुष का हमारे जीवनकाल में अस्तित्व में होना यह तो प्रभुकृपा से कैसे चेतनावान प्रेरक साधन है ! इसलिए ऐसी आत्मा को तो हमारे ज्ञानभक्तिपूर्वक के अनेकानेक उनके चरणकमल में प्रणाम हो !

गुरुभावना के व्यवहार में प्रत्यक्ष उपयोग से ही उसकी सहाय परख हो

संसारव्यवहारवर्तन के अड़चन के समय में यदि किसी अनुभवी के पास हमारा जाना हो, तो उसके हल के लिए उसकी सलाह-सूचना माँगते हमें वे मिलती हैं । उस तरह हमारे जीवन के वैसे वैसे समय में हमें भी सभान, हेतु के ज्ञान साथ, उसके पास दौड़ जाना चाहिए । उसका सहारा प्रार्थनाभाव से हमें लेना रहता है । सचमुच प्रयोग करके देखने

ही हमें समझ में आता होता है । तुम्हें कितनी बार कहा है कि जो भी उसके उपयोग में ही ज्ञान रहा हुआ है, पर ऐसा सब किसको याद रहता है ?

स्वजनों के लिए प्रार्थना

मैं तो अपने प्रिय प्रभु को बहुत बार प्रार्थना करता हूँ कि 'ये सभी स्वजन जिस हेतु से मिले हुए हैं, उन्हें उन्हें कृपा करके उनका उनका सच्चा भान पैदा करो कि जिससे उन्हें उनके यथार्थपन का सच्चा नग्न ज्ञान आयेगा और उस अनुसार उनसे वे अंतःकरण से सच्ची तरह और पूरी तरह स्वीकार हो, तो ही वे स्वयं अपने योग्य जीवन में प्रकट हो सके ।'

बाद में व्यर्थ पछताओगे

एक समय ऐसा भी आयेगा कि जिस समय ऐसे सब स्वजन पछतायेंगे कि, 'प्राप्त पुरुष की हमने अवगणना की । उसका योग्य साथ न रख सके । हमने जिस हेतु से उसे स्वीकार करने का किया, उसके लिए योग्य उपयोग करने का हमें सूझा ही नहीं ! हाय ! हाय कैसे हतभागी ! उसे हम पूर्ण रूप से समझ भी नहीं सके ! वह था तो पास के पास पर उसे सच्चा और पूरा देखा भी नहीं, तो अनुभव तो कहाँ से कर सकते हैं ? ऐसा कुछ कुछ स्वजनों को अवश्य होनेवाला है, यह निश्चित मानना । उस समय जो पछतावा होगा उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा । जो कोई **जीवित** को मानता नहीं है या मान नहीं सके हैं, वह उसके जाने के बाद उसे क्या

मान सकने के हैं ? राम राम करो । इसलिए जिसे मानना हमने किया हो, उसे उसकी जीवित हस्ती तक में योग्यरूप से समझ लेना है और वह भी उसके संपूर्ण यथार्थपन में सही ढंग से समझ में आयेगा, वापस समझकर उसका जीवनविकास के साधन रूप में ज्ञानभक्तिपूर्वक जितना उपयोग कर ले सको उतना उत्तम है ।

मनुष्य की शवपूजा

जगत में जहाँ तहाँ देखता हूँ कि मानवी तो उसके जाने के बाद उसके शव को मात्र पूजते हैं । दूर कहाँ जाना ? महात्मा गाँधी का प्रत्यक्ष जीवित उदाहरण लो न । उन्होंने तो पुकार-पुकार कर कहा था कि 'भाई ! कोई मेरी प्रतिमा या मंदिर मत बनाना ।' पर आज समाज उनके शव को पूज रहा हैं । उनके जीवन की मूल प्राणचेतना का कौन स्वीकार करता है ? उनके आदर्श को-उनकी संस्कृति को कौन वरण करना चाहता है ?

सद्‌गुरु करने की कसौटी

जो है वह तो है ही, पर वह तो जो है, वह अपने अंतर की वैसे जागी हुई शक्ति के प्रताप से है । हमें जीना है, अपनी आंतरिक प्रकट होती जाती शक्ति के आधार पर । सद्‌गुरु का साधन पंगु बनाने के लिए नहीं है । वह तो जीवन में प्रचंड शक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव में हो सके ऐसी भावना प्रकट करने के लिए योग्य उत्तम साधन है । सद्‌गुरु का ऐसा साधन मिला

हो, और उस तरह का उसका यदि अनुभव कर लेने का न हो पाया तो हम भी मिथ्या और वह भी बिलकुल मुर्दा जैसा। इसलिए यदि सद्‌गुरु जीवन में जीवन से स्वीकार हो सके हो, तो उसका प्रत्यक्ष लक्षण वह है कि वह उपयोग में व्याप्त हुआ करता हो। स्वीकार करने में तो हृदय की हमारी संमति आ जाती है।

तुम तो चेतनमय बनो

कृपा करके किसी भी तरह जागकर तुम बरतने का करके बैठकर साधन के योग्य प्रकारे के अभ्यास में शिक्षित होती रहो, इतनी ही **इस जीव** की तुम्हारे सम्बन्ध में हृदय में अत्यधिक आशा रहा करती है। तुम्हें जो लिखता हूँ वह दूसरों को लिखने के बराबर है। तुम्हारे द्वारा दूसरे प्राप्त हुए स्वजनों को संबोधित करता होता हूँ। इसलिए **इस जीव** का ऐसा बना हुआ योग्य साधन–तुम–योग्य प्रकार का योग्य प्रकार में न व्याप्त हो सका, तो फिर क्या कहना और क्या लिखना ?

संसारव्यवहारवर्तन में तुम्हारे जीवन की योग्य प्रतिष्ठा, शोभा, जीवन्त कला–ऐसा सब प्रकट हुआ देखने की दिल में तमन्ना है। मुझे केवल तुम्हारी प्रसिद्धि बढ़े ऐसा तो बिलकुल नहीं चाहिए। जगत में प्राप्त हुई प्रसिद्धि यह तो मिथ्या है। जगत तो जिसे पूजता और आदर करता है, उसकी निंदा भी कर सकता है, ऐसा अनुभव तो पुराना है। इसलिए

प्रसिद्धि में तो कुछ नहीं रखा है । तुम सभी बातों में और सभी तरह से योग्य बनकर जीवनविकास की वैसी भावना से जिसमें और उसमें जीवित रहा करो ऐसी मेरी तुम्हारे से माँग है । तुम्हारे आँगन में **इस जीव** को बुलाकर अब उसे धक्का ही मारा करोगी क्या ? उसका अपमान और अवगणना तुम किया करोगी क्या ? तो फिर तुम्हारे भाव का मूल्य भी क्या ? इसलिए कृपा करके समय पर चेत चेतकर साधन में निरन्तर रहा जाय ऐसा आचरण करके जहाँ कुछ इधर-उधर का होने पर या हो तो प्रार्थना का सहारा लेना है । दैनिक व्यवहारवर्तन में हृदय के ऐसे भाव की धारणा जिसमें और उसमें जीवित, एकाग्र और केन्द्रित व्याप्त हो वह अत्यधिक आवश्यक है ।

साधक *जीव* गुरु की दुर्दशा करते हैं

तुम्हारे सभी के योग्य जीवन को विकसित करनेवाले साथ की मुझे कितनी अधिक आवश्यकता है ? मेरी उस प्रकार की भूख कैसी और कितनी है ? उसे कौन संतोष देता है ? उस बेचारे को तो भूखा का भूखा ही सब कोई रखते-हैं । उसकी दया तो किसीको भी नहीं आती है । किसीको ऐसा भी नहीं होता कि हमारी अनेक प्रकार की टेढ़ीमेढ़ी करणी से, विचारसरणी से, अनेक प्रकार के उठते वृत्ति-विचार से, जागते प्रकरणों से उसे क्या क्या होता होगा ? उसका ऐसा योग्य विचार भी हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में कौन करता

है ? **बहुत से तो उसका खून करते होते हैं । कोई कोई तो फिर उसका गला दबाकर उसे घोंट कर मारते हैं । यह बात कपोलकल्पित नहीं है वैसे ही काल्पनिक भी नहीं है, किन्तु अनुभव की सच्ची बात है, पर उसे कौन माने ?**

उसे तो भगवान का ही आधार

मैं तो ऐसा कहता हूँ कि हे प्रिय स्वजनों ! तुम सभी प्रेम प्रेम की बात करते हो, तो तुम्हारा वह प्रेम गया कहाँ ? क्या वह उड़ गया ? यदि जीवन का ज्ञानभान नहीं ही रखना हो, उसमें आरंभ नहीं करना हो, तो **इस जीव** को खाली खाली बकरी के गले के आंचल की तरह चिमटने से क्या मिलनेवाला है ? मुझे तो प्रभुकृपा से किसी के भी आश्रय की आवश्यकता नहीं है । केवल, समर्थ में समर्थ सच्चे स्वामी का आश्रय ही काफी है । वही जिसमें और उसमें पर्याप्त है ।

प्रार्थना की आदत तो डाल के देखो

हम सब जीवनविकास करने की साधना के लिए निकले हैं । पर क्या अहाहा, हमारी खूबी है ! गुरु ने तो साधन को तो बहुत समझाया, उसका कैसे उपयोग किया करें वह नजर समक्ष बतलाकर प्रेरित किया, प्रार्थना का उपयोग करने को सूचित किया । पर सचमुच हृदय की भावना से कितने उसका सच्चा पूरा उपयोग कर सकते हैं ? अरे, भाई ! सही संकट की स्थिति आने पर प्रार्थना का उपयोग करके तो देखो !

प्रार्थना करने से जिस बारे में प्रार्थना करते हों, वह फलित हो या न फलित हो वह बहुत महत्त्व की हकीकत नहीं है, किन्तु जैसे जैसे प्रार्थना का भाव हमारे हृदय में प्रत्यक्षरूप से जीवित हुआ करता है, वैसे वैसे **श्रीभगवान के भाव के साथ का हमारे अंतर का संबंध बंधता जाता है ।** हृदय में हृदय से प्रार्थना का भाव जगा जगाकर हम किसी अदृश्य ऐसे उसको पुकारते रहते हैं । उस तरह हृदय की भावना का उसके साथ संबंध जुड़ता जाता है, ऐसा अनुभव का ज्ञान **इस जीव** को प्रार्थना के उपयोग में लेते साधन से, उसकी कृपा से प्रकट हो गया है । ऐसे अनुभव की भेंट स्वजन, प्रभु के चरणकमल में अंतःकरण के भाव से रखता हूँ । उसे जो कोई उपयोग के योग्य भाव से स्वीकार करके उसका साधन के रूप में उपयोग करेगा, वैसे **जीव** को प्रार्थना के महत्त्व, रहस्य, खूबी समझ आ जायेगी ।

अनेक संतभक्तज्ञानी आत्माओं ने जीवनविकास की साधना में प्रार्थना का सहारा लिया ही किया है । उन्होंने तो कुछ भी होने पर श्रीभगवान को पुकारा ही किया है । उन्हें उनकी पुकार फलित हो या न हो उस ओर तो उनका ध्यान होता ही नहीं है । ऐसी पुकार से हम कैसे कैसे हलके, शांतिवाले हो जाते हैं ! साधना के मार्ग में अपने वैसे ज्ञानयुक्त भावना से होते रहते प्रचंड प्रकार के पुरुषार्थ से और हृदय की प्रार्थना की ऐसी प्रेरणात्मक, चेतनात्मक मदद से, हमने

कल्पना भी न की हो, मान न सकें हो ऐसी आध्यात्मिक प्रगति उससे पा सकते हैं । ऐसा एक और एक दो जैसे सच्चे अनुभव की बात स्वजन के चरणों में प्रत्यक्ष रखने पर भी उसे उस तरह और उस भाव से कितने स्वीकार करते हैं ? हृदय के ज्ञानपूर्वक के हेतु की उपयोगिता के साधन रूप में उपयोगी प्रार्थना के भाव से श्रीभगवान या चेतन के सम्बन्ध में हमारे में सच्ची भक्ति प्रकट होती जाती हो, ऐसे भी अनुभव हमें जीवन में आगे जाने पर हुआ करते होते हैं ।

प्रार्थना की कक्षा के बाद की दशा

जीवन में प्रार्थना की ऐसी ऊपयोगिता के अनुशीलन-परिशीलन से अंतर में भक्ति का भाव प्रकट होता है । ऐसा उसका भाव उदयवर्तमान होते या होने के बाद में हमें प्रार्थना के साधन की आवश्यकता नहीं रहती है । तब जानना कि जीवन में प्रार्थना का साधन परिपक्व हो गया है । हृदय में हृदय से श्रीचेतन के साथ का भक्ति का संबंध ज्ञानपूर्वक अनुभव से बंध जाने पर हमें अनेक प्रकार के उसके संबंधों का भी अनुभव होने लगता है । उनके साथ पिताभाव, भ्राताभाव, मित्रसखाभाव, दास्यभाव, प्रणयी-प्रिया के मधुर भाव से-ऐसे अनेक अलग अलग प्रकार के संबंध का अनुभव प्रकट हुआ करता है । ऐसे संबंध मनुष्य **जीव** की कक्षा के संबंधों से अत्यधिक उच्चतम दिव्य, रम्य, भव्य कक्षा के संबंध हैं । **जीव**कक्षा के वैसे संबंधों के साथ ऊपर के संबंधों

की कभी तुलना नहीं हो सकती है । यह तो मात्र ऊपर की योग्य हकीकत समझाने के लिए वैसा वैसा लिखना हुआ है । ऐसी अंतर में अंतर की दशा प्रभुकृपा से जीवित प्राप्त होने पर 'पुनीत प्रेमगाथा' में अनेक लक्षणों से युक्त और अनेक भूमिका पर का प्रेमभाव कैसा कैसा होता है वह, और जो दशाएँ बतलायी हैं, उसका भी हमें अनुभव होता रहता है ।

उससे भी ऊँची दशा

ऐसी निर्मल, दिव्य, भव्य, रम्य, प्रेमभावना-यह तो जीवन को ज्ञानपूर्वक उपयोगिता में व्याप्त होने के लिए है । इस भूमिका की दृढ़ चेतनपूर्वक की स्थिति प्रकट होते होते एक कक्षा ऐसी प्रकट होती है, जहाँ वह होने पर भी मानो हो नहीं वैसी सहजता से व्याप्त होती है । ऐसे हृदय के चेतनपूर्वक के जागे हुए प्रेमभाव के अनेकानेक पहलू और लक्षण होते हैं । मनुष्य का जो शुद्ध से शुद्ध और दिव्य से भी दिव्य, रम्य से भी रम्य, भव्य से भी भव्य (**जीव**कक्षा में जिसकी कल्पना भी **जीव** को प्रकट नहीं हो सकती, उसे वह अगम्य ही है) प्रेमभाव है — और मानवप्रेम जिसका सूचक लक्षण है — वह परम सत्य, ऊपर बतलाये प्रभुप्रेम में अनुभव होता रहता है । इसमें जीवन की कृतकृत्यता और धन्यता अनुभव होती है । उसका हम सभी के अपने जीवन में धधकता ज्ञानभान प्रकट हुआ करे यही प्रार्थना है ।

• • •

सच्चिदानंद और उसके दो तत्त्व

एक परम, दिव्य, गूढ़ चेतन-उसकी अवस्था को किस तरह से निर्देश करनी ? अनुभविओं ने उसे सच्चिदानंदरूप से वर्णित किया है । सत् + चित् + आनंद । सत् = होनापन, चित् = Consiciousness चेतना, आनंद = आनंद । जैसा जो है, वैसे वह नाम योग्य अनुभव से हुआ है, उसका आविर्भाव जहाँ तहाँ हुआ किया ही है । उसके आविर्भाव से पर और उसके अंदर प्रकट हो रहा **चेतन के दो स्वरूपों के तत्त्वों को समझने की आवश्यकता है । वह है, प्रकृति और पुरुष ।** इन दो तत्त्वों को अलग-अलग दर्शनवादिओं अलग अलग तरह से समझते हैं, अलग-अलग नाम भी देते हैं । उसे फिर कोई कोई तो आत्मा और माया भी कहते हैं, तो फिर कोई ईश्वर को शक्तिस्वरूप कहता है ।

यह सब कैसे भी हो, परन्तु पुरुष और प्रकृति ऐसी दो स्थितियाँ — दो कक्षा—हमारे लिए हो सकती हैं। ऐसा संभव भी है और संभावना भी है, ऐसा यदि हमारे **इस** मार्ग का कुछ दिशासूचन हुआ हो, तो वह समझ में उतर सके ऐसा है । ***जीव*पन की हमारी कक्षा में प्रकृति अज्ञानमय है, वह तो प्रसिद्ध है । पुरुष सुषुप्तदशा में है । पुरुष और प्रकृति के बीच का अंतर प्रसिद्ध है । साधना की उत्तरोत्तर ऊँची कक्षा में विहार करने का हमारा जब प्रभुकृपा से हो**

सकता है, तब चेतना की ऐसी मंगलमय कोई दिव्य भूमिका में पुरुष और प्रकृति इन दोनों तत्त्वों का सभानता से हम स्वयं ऐक्य अनुभव कर सकते हैं। इससे हम स्वयं प्रकृति के भर्ता, साक्षी, उसे संमति देनेवाले, उस पर प्रभुत्व रखनेवाले और उसके भोक्ता भी बन सकते होते हैं।

पुरुष के स्वामित्व की दशा

जब पुरुषतत्त्व प्रकृति के तत्त्वों पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है, तब ही वह चेतना के समग्रत्व के अनुभव लेने को शक्तिमान हो सकता है। ऐसी दशा में *पुरुष* स्वयं प्रकृति का ऊपर बतलाया है वैसे भर्ता, भोक्ता, जानकार, संपूर्ण स्वामित्व और प्रभुत्व प्रकृति पर जिसका प्रकट हुआ है ऐसा हो गया होता है। इतना ही नहीं, पर वह स्वयं साक्षीरूप में तटस्थ, मन, प्राण और शरीर से अलग हो सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि स्वयं अलग रहकर या होकर प्रकृति को अपने से अलग देख भी सकता है। ऐसी दशा में प्रकृति से होते कर्म उसे बंधनरूप बिलकुल भी नहीं होते। **ऐसी दशा में *पुरुष* किसी भी तरह के गुण की भूमिका की बिलकुल भी स्पृहा बिना की दशा भोग सकता है।** यानी कि सत्त्व, रजस और तमस की बिलकुल भी स्पृहा बिना की दशा उसमें एक समय में प्रकट होती वह अनुभव कर सकता है। **प्रकृति से बिलकुल निर्लेप दशा और उससे संपूर्ण मुक्त दशा यह स्वामित्व की उच्च से उच्च कक्षा है।**

प्रकृति के कार्यों को छुट्टी देनेवाला भी *पुरुष* हो सकता है, उसका भर्ता भी हो सकता है, उसे टिकाये भी वही रखता है । इसमें भी एक सूक्ष्म भेद समझने जैसा है । संमति दो कक्षा की होती है । सात्त्विक कक्षा की, ऐसे प्रकार की अनुमति निष्क्रिय गिनी जाती है और *पुरुष* की भर्ता की कक्षा की, संमति वह सक्रिय संमति गिनी जाती है । इतना होने पर भी अभी **पुरुष** स्वयं पूर्ण नहीं हो पाता है । यहाँ पूर्ण अर्थात् स्वयं को जाननेवाला, संपूर्ण स्वामित्व और प्रभुत्व रखनेवाला और चेतन स्वरूप में भोक्ता बना हुआ नहीं होता है । वह ऐसा होता है, उस समय ही प्रकृति पर उसका काबू भी जमता हुआ स्वयं अनुभव कर सकता है ।

दोनों तत्त्वों का मूल तो सच्चिदानंद में ही है । उसमें पुरुष है साक्षी रूप और प्रकृति है चित् स्वरूप । इन दोनों के चैतन्य में आनंद प्रकट होता अनुभव होता है । इसलिए अब ऐसा जो दिव्य, रम्य, नैसर्गिक सहज आनंद है, वह प्रकृति में संपूर्णरूप से प्रकट होता और उसका अनुभव करना, वैसी परम सत्य अवस्था प्रकट करने के लिए **पुरुष-प्रकृति** के संबंध की सर्वोत्कृष्ट कक्षा जीवन में प्रकट करनी रहती है ।

उपरोक्त बतलायी वैसी *पुरुष* की कक्षा प्रकट करने, यानी कि प्रत्यक्ष होने की साधना की अनिवार्य आवश्यकता होती है । यह कोई अपनेआप नहीं हो जाता है । उस स्थिति

में पहुँचने, उसके लिए तो शरीर, प्राण, मन आदि की भूमिका की संभावनाओं के उस पार पहुँचना रहता है ।

***जीव*दशा के शुद्ध, सात्त्विक दिखते कर्म भी बंधनकारक**

यह सब तुम्हें लिखने का कारण तो यह है कि हम जो **जीव**दशा में करते हों, उसी प्रकार का कर्म अलग-अलग कक्षा में अलग अलग तरह से मूल्यांकन को प्राप्त कर सकता होता है । हमारी **जीव**दशा के कर्म कैसे भी हो, उसका हेतु शुद्ध से शुद्ध हो, परन्तु वह कर्म करने में इन्द्रियाँ, मनादिकरण जो उपयोगी होते हैं अथवा जिसके द्वारा कर्म होते रहते हैं, वे कहाँ शुद्ध हुए हैं ? अथवा उस शुद्धि को स्वीकार करने और शुद्ध होने की भावना के खातिर ऐसे कर्म कहाँ उससे होते हैं ? वह तो बेचारा जैसे तैसे कर्म किये जाता है । उसे मनादिकरणों का देखने की कहाँ पड़ी है । कर्म उत्तम करते समय उस कर्म के ज्ञान का हेतु उस बेचारे को कहाँ प्राणवान रहता है ? कर्म उत्तम सात्त्विक प्रकार का भले हो, पर उसमें इन्द्रियाँ और करण वैसे कहाँ बने हुए हैं ? इससे बेचारा **जीव** तो कर्म में भटक जाता है, यह ठोस बात है यह जानना । इससे उत्तम कर्म न करने ऐसा तो कुछ नहीं है । वे तो अवश्य करना । इसलिए उत्तम कर्म के साथ अथवा तो **कोई भी कर्म करते हों, उस समय वह कर्म करने के साधन यानी कि हमारी इन्द्रियाँ, मनादिकरणों आदि उत्तम प्रकार के संपूर्ण शुद्ध, सात्त्विक और दिव्य हो गये हों, तो वह अति उत्तम**

है । इसलिए कर्म की योग्यता देखने से अच्छा इन्द्रियों और मनादिकरणों की पात्रता और श्रेष्ठता योग्य प्रकार की हो, उसके संदर्भ में हमारा प्राणवान झुकाव हेतुपूर्वक का बढ़े यह अति आवश्यक है ।

ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय करो

जीवन की साधना यदि करनी हो तो कृपा करके जागृतिपूर्वक, सावधानी, सचेत रहें बिना कभी अंत नहीं आ सकता है । तुम्हें बतलाया है वैसे बारबार प्रार्थना और प्रार्थना का भाव अंतर के करणों में जीवित हो जाते सचमुच की भक्ति का स्वरूप हम में प्रकट होने का है । उसमें प्रेमभाव का सच्चा स्वरूप और उसकी कला-यह सब भी खिलता जाता हम अनुभव कर सकेंगे ऐसे प्रेम के साथ साथ सहजता से ज्ञान का व्यक्तत्व हम जीवन में अनुभव करते हो सकते हैं । इसप्रकार कुछ भी अलग-अलग नहीं है । जो भी कुछ परस्पर एकदूसरे में मिश्रित हुआ ही है । इसलिए जैसे हेतु के ज्ञान बिना के कर्म और भक्ति निष्प्राण होते हैं, वैसे भक्ति बिना के ज्ञान और कर्म भी निष्फल होते हैं । वैसा यज्ञकर्म बिना के ज्ञान और भक्ति भी संपूर्ण अवतार नहीं ले सकते, इसलिए हमें तो ज्ञान द्वारा कर्म और भक्ति, भक्ति द्वारा ज्ञान और कर्म, यज्ञकर्म द्वारा ज्ञान और भक्ति-ऐसे हमारे जीवनविकास की साधना में ऐसा पूर्ण समन्वय कर करके आगे बढ़ना है ।

• • •

कुंभकोणम्   हरि:ॐ   ता. ७-४-१९५३

साधना के लिए आवश्यक साधन

तुम्हें अनेक बार कहा है कि **इस मार्ग के संदर्भ में केवल पठन से कुछ भी हासिल नहीं होगा ।** केवल वैसे पठन से जीवनविकास की भावना की ठोस साधना होनी कभी संभव नहीं है । हाँ, इससे कुछ समझ बढ़ती है, यह एक लाभ अवश्य गिन सकते हैं। साधना के लिए महत्त्वपूर्ण और मुख्य हकीकत तो साधक को उसके लिए सचमुच उत्साह और उत्कंठा प्राणवान जागे हुए होने चाहिए । इसके अलावा, सद्गुरु की मदद की भी उतनी ही आवश्यकता रही हुई है। सद्गुरु के प्रत्यक्ष प्राणवान मार्गदर्शन के बिना, उसकी देखभाल के बिना, उसकी कृपामदद के बिना, जीवनविकास की साधना में सफलता प्राप्त करना संभव नहीं है ।

खेती की उपज का दृष्टांत

यह ऊपर की बात में कहीं भी अतिशयोक्ति नहीं है । जैसे अनाज की उपज के लिए खेत को जोतना पड़ता है, उसमें खाद डालनी पड़ती है, उसमें से जो भी सभी साफ करना होता है, उसमें योग्य बारिस पड़ने पर बीज बोना, फिर योग्य समय आने पर उसमें से जो जो उपयुक्त न हो उसकी निराई करना, उसके योग्य एक एक योग्य क्रियाएँ करनी, यह जैसे आवश्यक है और उन उनकी यथार्थता में वास्तविक है, उसे कोई नकार नहीं सकता है, उसी तरह ही सद्गुरु की

सहायता, देखभाल, कृपामदद, मार्गदर्शन–यह भी इतने ही साधना के क्षेत्र में वास्तविक है। उसमें कमोबेश का भी अंतर नहीं हो सकता है। सद्गुरु के स्थूल या सूक्ष्म मार्गदर्शन के बिना योग के क्षेत्र का कोई भी कर्म हो सके वैसा नहीं होता है।

सद्गुरुकृपा के स्वीकार का उदाहरण

सेठ का बेटा सेठ की पीढ़ी पर व्यापार सीखने बैठता है, तो उसे कोई न कोई सिखानेवाला होना चाहिए। ऐसा प्रत्येक क्षेत्र की समझ प्रकट करने के लिए उस उस क्षेत्र के विशेषज्ञ की आवश्यकता होती ही है। ऐसे विशेषज्ञ की आवश्यकता साधना के क्षेत्र में तो सभी स्वीकार कर सके वैसा है। उसमें उसका मार्गदर्शन, सहाय, मदद आदि की भी वास्तविकता स्वीकार कर सके वैसा होता है, पर सभी से उसकी कृपा की बात स्वीकार नहीं हो सकती। अमुक को ऐसा कहते सुना है कि इसमें फिर कृपा की बात किसलिए ? माँ, बेटी को घरसंसार की शिक्षा के लिए जिस भाव से, जिस तरह से तैयार करती है और घर में आयी बहू का जिस तरह से प्रेमपूर्वक स्वागत करती है, इन दोनों के ढंग में अत्यधिक अंतर मालूम पड़ता है।

कोई भी एक ही सास ऐसी होगी कि जो बहु–बेटी में अंतर नहीं करती है। बोलने बोलने में तो प्रत्येक सास ऐसा ही कहेगी कि, 'नहीं रे नहीं ! मेरे लिए तो बेटी और बहु दोनों समान !' परन्तु ऐसा उनका बोलना वह बिलकुल

मिथ्या बकवास है । जहाँ जहाँ संसारव्यवहार में नजर जाती है, वहाँ वहाँ बेटी बहू के बीच के व्यवहार में निपट अंतर रहा करता है । प्रभुकृपा से ऐसा भेद ही टल जाये ऐसा **यह जीव** तो प्रभु को प्रार्थना करता है । यह बात यदि उसकी वास्तविकता से स्वीकार करने में आये तो बेटी की शिक्षा में जो हृदय का भाव है, उसे कृपा के स्थान पर रख सकते हैं, और बहू को शिक्षित करने में तो सास की मात्र दिखावटी वृत्ति ही रहती है । भाव से जो सिखाया जाता है और जिसे सीखाना है ऐसे **जीव** को जिसके द्वारा सीखना है, उसके सम्बन्ध में विरोध थोड़ा भी न हो, पर यदि परस्पर हृदय का प्रेमभावयुक्त सुमेल प्रकट हुआ होगा, और सद्‌भाव, आदर उस सीखनेवाले **जीव** में सिखानेवाले के सम्बन्ध में जागे हुए होंगे, तो उसे जो सीखना है, वह उस **जीव** के गले एकदम उतर जाता होता है । यह बात जैसे समझ आये वैसी है और बुद्धि से स्वीकार हो सके वैसी है, वैसा ही उस हृदय का भावसंबंध गुरुशिष्य में परस्पर में प्रकट हुआ हो तो उत्तम गिन सकते हैं ।

किसी के सम्बन्ध में जागा हुआ सद्‌भाव-आदरयुक्त भावना हमें अत्यधिक सांत्वन, धीरज, आश्वासन, संतोष, सुमेलभाव आदि आदि प्रेरित करता है । उलझन, कठिनाई, आकुलता, अशांति, उपाधि, जीवन के अनेकविध पहेलियों में या ऐसे संयोगों में अथवा तो जीवन के घर्षण के समय में, ऐसे कोई सम्बन्ध में प्रकट हुई ऊष्मा और सहारा हमारे जीवन

में, ऐसे समय में कोई किसी और प्रकार के प्रेरणात्मक सहानुभूति, धीरज, शांति आदि प्रेरित करता है, यह तो अपनी स्वयं की जानकारी की हकीकत है । यह हकीकत उस अनुभव के प्रदेश की है, इसमें थोड़ी भी कल्पना नहीं है । हमारे हृदय में ऐसा किसी के सम्बन्ध में जीवित चेतनावान सद्भाव-आदर प्रकट हुआ होता है, उसका सहारा कोई अवर्णनीय होता है । यह सहारा जिसने अनुभव किया है, उसे कितना अधिक जीवन में आत्मविश्वास प्रकट हो जाता है ! जिसे समर्थ की शरण मिले वह कितना अधिक शांतिप्रिय हो जाता है ! इसलिए हमें यदि जीवनविकास की साधना के लिए सद्गुरु किये हो तो मनादिकरणों को ज्ञानभाव प्रकट करने के हेतु के लिए उसमें पिरोये करने का जीवित अभ्यास जीवन में रखा करना है, यह जान लेना ।

सद्गुरु स्वीकार संदर्भ में आज की दृष्टि

आजकल तो जिसमें और उसमें स्वतंत्रता का वाद चौमासा में जैसे केंचुएँ फूट निकलते हैं वैसे फूट निकला है । फिर, व्यक्तिस्वातंत्र्य के बदले व्यक्तिस्वच्छंदता का जमाना आया है, ऐसा कहना अधिक योग्यतावाला है । फिर, प्रत्येक व्यक्ति स्वयं हरेक बात में सच्चा निर्णय और सच्चा हल ला सकता है और वैसा करने में वह योग्य शक्तिवान है, ऐसा जो भी सब माना करते हैं । ऐसा मानने की जो धृष्टता है, उसे धृष्टता के रूप में कौन समझता है ? उसे तो लोग ऊपर से

सयानापन मानते हैं और स्वयं को योग्यतावाले मानते हैं, पर वह उनका निपट अज्ञान है । जीवनविकास की साधना में सद्‌गुरु की बात को आजकल तो पढ़े हुए लोगों में एक वहम के रूप में गिनी जाने की संभावना खड़ी हुई है ।

सद्‌गुरु की भावना को अपना अनुभवयुक्त समर्थन

ऐसा होने पर भी श्रीप्रभु की परम कृपा से **इस जीव** को साधना के मार्ग में सद्‌गुरु के साधन के आश्रय के अनुभव से जो सच्चाई समझ में आई है, वह बेधड़क होकर आज **इस** पत्र द्वारा समाज के चरणकमलों और सद्‌भावयुक्त एवं विवेकवाले सज्जनों के चरणों में रखता हूँ । जिस **जीव** को साधना करनी है, ऐसा **जीव** सद्‌गुरु की भावना को एक वहम के रूप में कभी गिन सकता ही नहीं । जीवन को जो कोई समझनेवाले और जीवन को प्रकट करनेवाले सद्‌गुरु हैं, वह तो सभी किसी को उसके योग्यस्थान पर योग्य भाव से स्वीकार कर सकते हैं । जीवन की योग्यता का जो विचारक हैं, वह जीवन में प्रेरणा, सहानुभूति, सहारा, ऊष्मा इत्यादि प्रेरित करनेवाली ऐसी सद्‌गुरु की भावना को नकार सके ऐसा नहीं है । जीवन की योग्यता के ऐसे विचारक के वैसे वैसे कथन के मूल हेतु को कोई योग्य ढंग से पहचानता नहीं होता है ।

गुरु की प्रथा पर प्रहार के कारण

जीवनविकास की सचमुच की योग्य साधना करनेवाले **जीव** तो बहुत ही विरल कम प्रमाण में होते हैं । चेतन की

अपेक्षा चेतन को प्रकट करके प्रेरित कर सकें ऐसे सद्‌गुरु भी विरल ही होते हैं । इसके लिए समाज में गुरु की प्रथा की जो परम्परा हो गई है और परम्परा के पीछे जो भ्रमणाएँ खड़ी हुई हैं, इससे समाज को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं है और नहीं गुरुओं को वैसा योग्य लाभ । समाज में भी अपनी अपनी अज्ञान और स्वार्थयुक्त इच्छा, कामना, तृष्णा, लोलुपता आदि पोषित करने के लिए सब कोई वैसे वैसे प्रकार के गुरु में फँस जाते होते हैं । उसमें किसी को नहीं ज्ञान पैदा करने का उत्साह या नहीं वैसे गुरुओं की वैसी कुछ उस प्रकार के ज्ञान की ठोस वास्तविकता । ऐसे गुरुशिष्य के प्रकार में तो दोनों का नुकसान ही व्याप्त होता है । इसलिए योग्य विवेक जिसमें प्रकट हुआ है, ऐसे सद्‌भावयुक्त विचारकों का ऐसी प्रथा पर का ज्ञानयुक्त प्रहार जो ऐसी गुरुप्रथा की जड़ चक्रमाला पर पड़ा करता है, उसमें बिलकुल यथार्थता है । ऐसे गुरुओं से किसी भी प्रकार की गुत्थी नहीं टूटती । नहीं टूटती उनके जीवन की या नहीं टूटती समाज के लीकयुक्त जीवन के । जीवन की रचनात्मकता में चेतनात्मक प्रवेश जिससे होना चाहिए, उसमें तो बिलकुल शून्य हुआ होता है । गुरु से किसी प्रकार के नये प्राण या नयी स्फूर्ति स्फुरित नहीं होती है । इससे हम पर ऐसे योग्य प्रहार जो हुए करते हैं, उसमें से अत्यधिक समझने जैसा है । इसलिए हम भी कहीं फँस न जाएँ इतनी सावधानी उस प्रकार के घोष से हम ज्ञानपूर्वक रखें, तो उसमें से हमको लाभ मिलता है, यह जानना ।

गुरुवचन के आज्ञापालन के लाभ

सद्‌गुरु की आज्ञा का योग्य आदरभाव से, मन से **इधरउधर** हुए बिना, ज्ञानभक्तिपूर्वक योग्य पालनवर्तन करने का हम से एकदम हुआ करे वह कितना अधिक योग्य है, वह तो वैसे उच्च प्रकार के जीवन को प्रत्यक्ष जीनेवाले के पास से ही सीखने को मिल सके । पूज्यश्री विनोबाजी को जाकर, पूछ देखो । उन्होंने पूज्यश्री बापूजी के वचन को किस तरह भक्ति की उत्कट भावना से और उत्कंठा से लिया और पाला है ! सद्‌गुरु के वचन का योग्य आदरभाव से, उनके योग्य सत्कार के स्वीकारयुक्त भाव से, योग्य पालन होनापन हम से हो वह हमारे जीवनविकास के लिए उत्तम है । वचन की योग्यता, उत्तमता आदि के विवेक को पैदा करनेवाले तो सद्‌गुरु स्वयं ही होते हैं ।

पर योग्य लगे तभी पालन करो

यह सब लिखकर तुम्हें मेरा कुछ भी वैसा वचनपालन करने कह रहा हूँ, ऐसा तुम्हें नहीं मानना है । मेरा कहा हुआ वचन तुम्हारे जीवनविकास में मदद करता हुए लगे, तुम्हारे विवेक की समझ को योग्य प्रकार का लगे तभी उसका आचरण करना है, यह निश्चित जानना ।

यह **जीव** गुरुपद सिर पर लेकर तो बैठा ही नहीं है । सभी तरह से योग्य प्रकार के गुरु होने का दावा भी उसने कभी भी नहीं किया है । वह किसी को भी कहने नहीं गया

कि, **'इस जीव** को तुम गुरु करो ।' फिर, **यह जीव** सर्वज्ञ और संपूर्ण है, ऐसा उसने अपने उसके लिए मिले हुए स्वजनों को कभी मानने दिया ही नहीं है । **इस जीव** से साधना के मार्ग पर श्रीप्रभुकृपा से और श्रीसद्‌गुरु के आशीर्वाद से जाना हुआ है, यह तो ठोस बात है । आज के बुद्धि के जमाने में, जो भी सब सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण होने चाहिए, वैसे उस बात के पर्याप्त प्रमाण उसके लिए मिल सके वैसे हैं । **इस जीव** ने उसके साधनाकाल में कैसी कैसी प्रार्थनाएँ की हैं ! (जिसमें से अधिकतर हिस्सा तो खो गया हुआ है और उसमें से कुछ ही भाग बाकी रहा हुआ है ।) और भजन हृदय से किये हुए हैं और गाये हुए हैं, उसके वैसे नमूने पर से ऐसे **जीव** की आक्रंदयुक्त भावना उस उस समय किस किस प्रकार की बनी हुई थी, उसका बयान उसमें से पढ़नेवालों को मिल सके वैसा है । इसलिए साधना के मार्ग में श्रीप्रभुकृपा से श्रीसद्‌गुरु के आशीर्वाद से उसे जो समझ आया है, वह समझ और उस मार्ग की प्रेरणा उसके पास किसी आनेवाले को यदि वह देता हो तो उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है । उसमें छोटापन या बड़प्पन का कोई भी प्रश्न खड़ा नहीं होता है ।

अपने वर्तन में बदलाव

यह जीव उसके साधना के समय में कितना अधिक मौन रहा करता ! अधिक कुछ भी बोलता चलता नहीं, कहीं

किसी पर चर्चा भी न करता था। बुजुर्गों के प्रति तो प्राणवान सद्भावयुक्त आदर ही उसमें व्याप्त रहा करता था। वैसा **जीव** आज जिनके साथ जिस जिस प्रकार के प्रसंग का प्रसंग प्राप्त होने पर उन्हें उन्हें वह वह प्रसंग के योग्य, जो भी कुछ हो, वह वह उसे कहे, लिखे या सुनाता है ।

पर अभिमान से नहीं

उस उस तरह का उस **जीव** का व्यक्त होना दूसरे **जीवों** को शायद न पसंद आये तो वह भी समझ आये ऐसा है। **इस जीव** के ऐसे व्यवहार से **यह जीव** तो 'बदल गया है। (ऐसा उसके योग्य ज्ञान के हेतु में बोला नहीं जाता है) अभिमानी हो गया हुआ है,' ऐसा कितने ही माना करते होते हैं । पर जो **जीव इस जीव** के पूरापूरा योग्य निकट के परिचय में आये हुए हैं, और जो **जीव** बहुत समय से जीवनसाथिओं के रूप में प्रभुकृपा से मिले हुए हैं और जिनका संसर्ग **इस जीव** को बहुत बहुत निकट का है, जिन्हें **इस जीव** के जीवन के बहुत से पहलुओं का अनुभव पूरा पक्का हुआ है, वैसे **जीव**, **इस जीव** में वैसा 'अभिमान' है या वैसा 'मैंपन' है, उसका योग्य तारतम्य वे लोग देख देख सके हुए हैं ।

ऐसे में अभिमान नहीं होता

अनेक वर्षों तक प्रिय मित्रों के साथ हरिजन सेवक संघ के काम में बिलकुल करीब रहकर रोज के घंटों के घंटों

तक लगातार जिसने काम किया है, यदि उसमें 'मैं' पन या 'अभिमान हो, तो वैसे मित्र की जानकारी में आये बिना कैसे रह सका हो ? 'मैं' पन तो अनेक रूप से व्यक्त होता रहता है । प्रतिदिन काम में वर्षों तक सतत रहना होता है तथापि वहाँ कभी कुछ घर्षण हुआ न हो या मुठभेड़ खड़ी हुई न हो, या क्लेश, संताप न हुए हो, मात्र सहकार और भाईचारा ही जीवित व्याप्त रहे हो तो वह क्या सूचित करता है ? पर कोई कुछ भी माना करे, उसके साथ हमें कोई परवाह नहीं होती है । हम तो जैसे जिस समय अनुसार प्रभुकृपा से योग्यरूप से आचरण करने का हुआ करे, वैसे आचरण करना है । वैसा करने से दूसरों को क्या लगेगा ऐसा विचार करने यदि बैठें, तो तो वैसे योग्य प्रकार के आचरण में फीकापन प्रकट होता जाता अनुभव में आता है । यदि हमारे हृदय में सभी के प्रति सद्भाव प्राणवान प्रकट हुआ होगा, तो वैसे हृदय का प्रकट हुआ सद्भाव हमें जिस जिस के साथ उस उसके योग्यरूप में ही उसकी कृपा से आचरण करवायेगा, ऐसा आत्मविश्वास इस हृदय में तो प्रकट हो चुका है ।

अंतर में आराम और निश्चिंतता

इससे वह सदा ही आरामवाला और निश्चिंतता की भूमिकावाला उसकी कृपा से रहा करता है, जो कहीं किसी से जखमी नहीं हो सकता है । जिसे तिसे कुछ लिखने या कहने की संभावना या प्रसंग खड़ा होता है, तब **इस जीव**

का जब साधनाकाल था, तब उससे जैसा बोला जाता था, उस तरह से आज उससे आचरण नहीं होता है । वह **यह जीव** कबूल करता है, परन्तु वैसा करने में अभिमान से वैसा व्यवहार होता है वैसा मानने की **यह जीव** प्रभुकृपा से ज्ञानपूर्वक मना करता है । **यह जीव** ऐसी बात में जैसा मानता है, वैसे ही सब **जीव** माने, ऐसा कहने का भी हेतु नहीं है । अमुक बुर्जुर्ग **इस जीव** को जैसा मानते हैं, वैसा उनकी वैसा मानने की दशा में, योग्य समझ हो, ऐसा भी संभव हो सकता है । मात्र मैंने तो अपना इस बारे में स्पष्टीकरण किया है, उसे उस तरह से मानना या न मानना वह तो उनका काम है । प्रभुकृपा से मुझे तो हृदय में पूरा आराम है ।

वर्षों पुराना अभ्यास बेकार न जाय

मानवी मात्र पहले जैसा था वैसा का वैसा वह सदा काल नहीं रह सकता है । जीव बदलता रहता है । **यह जीव** भी बदल गया हो ऐसा भी हो सकता है । **इस जीव** को उसके साधनाकाल में उसका अपना निर्दय में निर्दयरूप से तटस्थतापूर्वक का पृथक्करण किया करने का ज्ञानपूर्वक का जीवित अभ्यास था, वह तो उसने की हुई प्रार्थनाओं और भजनों से आज भी समझ सके वैसा है । तो क्या ऐसे लंबे काल के ज्ञानपूर्वक के अभ्यास की असर जीवन में प्रकट हुए बिना रह सके सही ? यदि **जीव**कक्षा में जिस **जीव** को किसी प्रकार की लत पड़ी होती है, तो वैसी लत के प्रकार की असर

उसके जीवन में प्रकट हुई सब कोई अनुभव कर सकते हैं, तो **इस जीव** ने वर्षों के वर्षों तक जो अभ्यास प्रभुकृपा से किया है, उसकी असर क्या फीकी हो जाय सही ?

पूर्वजीवन का कायापलट

पर आज इस कठिन समय में सभी किसी को उनके उनके ढंग से रहें, जीएँ, बरतें तो वह रुचता होता है । अब **इस जीव** से उस तरह से सदाकाल बरतने का न हो सकते **जीव** को वह रुचेगा नहीं, यह भी समझ आये ऐसा है । साधना की अमुक कक्षाएँ बिताने के बाद एक अवधि ऐसी भी प्रकट होती है कि **जीवात्मा उस समय परवावाला और बेपरवाहवाला दोनों साथ-साथ बना हुआ हो ऐसे उसके रंगढंग होते हैं । परवाहवाले के रंगढंग सभी को अच्छे लगते हैं और बेपरवाहवाले के रंगढंग तो किसे अच्छे लगेंगे ?** अब श्रीप्रभुकृपा से हमें मात्र किसी को अच्छा लगाने के लिए जीना रहा हुआ नहीं है । पूर्व के जीवन का तो प्रभुकृपा से कायापलट हो चुका है ।

बाधा हो तो खुशी से संबंध छोड़े

उसे निरखने, समझने, अनुभव करने जो जो **जीव** को जैसा जैसा लगे वैसा सही । हमें अब उसकी कृपा से किसी को अच्छा-बुरा लगाने जाने का भी दिल नहीं है । समझ से बहुत समय तक वैसा वेश उसकी कृपा से पहना था । सब कोई **जीव** यदि अपने-अपने ढंग, मर्जी, इच्छा से चलते हैं,

तो फिर उस तरह से **इस जीव** से वैसा बरतने का बने उसमें किसे आपत्ति हो सकती है ? **मैं कहाँ किसी को कहने जाता हूँ कि *इस जीव* के पास आओ ? यदि आप अपनी ही मर्जी से आने का करो, तो जिस हेतु के लिए आना हुआ हो, उस हेतु के निर्माण के लिए जैसा कहने-करने का हो, उसे योग्य रूप से स्वीकार करने की तैयारी न हो, तो वह अवश्य ही चले जाँये । उसका हर्षशोक प्रभुकृपा से हमें नहीं है ।** हम तो श्रीप्रभुकृपा से हमारे रंग में जैसे हैं वैसे हैं । हमें हमारा कुछ ही ढँकना नहीं है । जैसा जैसे दिखेंगे, लगेंगे वह आचरण हो उसकी बाधा नहीं है । बाधा यदि कहीं कुछ हो तो वह हमें होनी चाहिए । जिसे बाधा हो वह क्षणभर भी खड़ा न रहे ऐसी हमारी उसे नीचे झुक-झुककर विनती है और प्रार्थना भी है । हमें जीवन में लगे हुए दोष कैसे कैसे दिल में लगे थे, उस समय उसके लिए श्रीप्रभुकृपा से जो प्रार्थनाएँ हुई हैं वह देखकर कोई **जीव** उस बारे में योग्य सोचे, तो वैसी भी हमारी तो वैसे वैसे **जीव** को विनती है ।

निराग्रही और निरासक्त

इस समय में सब कोई **जीव** अपने-अपने मत और स्वयं किये निर्णय बिलकुल यथार्थ हैं ऐसी ही मान्यता में वे पूरे डूबे रहते हैं । ऐसे **जीव** बाद में निराग्रही कैसे हो सकते हैं ? यह **जीव** कितना और कैसा निराग्रही और निरासक्त है, ऐसा अपने बारे में कहना यह यथायुक्त न हो, तब भी जो

जीव उसके पल-पल के परिचय में अति निकटता में आये हुए हैं, वह **जीव** वह कैसा है, वह जानता है, अमुक तो ऐसा भी कहते हैं कि वैसा कहनेवाले **जीव** तो **इस जीव** के अंध अनुयायी हैं, पर यह तो मिथ्या अज्ञानमूलक भ्रमणा है । वैसे **जीव इस जीव** को जितनी चोट पहुँचाते हैं और जितना विचार कर करके सोचते हैं, उतना और वैसा दूसरा नहीं सोचता हो । यह लस्टम-पस्टम हो, पर **इस जीव** की निराग्रहीता और निरासक्तता के वैसे ज्ञानपूर्वक के योग्य व्यवहार में उन लोगों को बिलकुल अविश्वास नहीं है, इससे इतनी हकीकत तो स्पष्ट उनके दिल में उतरी हुई है । अनेक प्रसंगों और दैनिक व्यवहारों में उसकी निराग्रहीता और उसकी निरासक्तता व्यवहार में अनुभव होती रहती है । ऐसी ठोस स्पष्ट हकीकत का इनकार भी किसी से किस तरह से हो सके ऐसा है ?

जहाँ अहंता है, वहाँ निराग्रहीता और निरासक्तता जीवित प्रकट होकर व्यवहार में आकार ले ही नहीं सकते यह तो निर्विवादरूप से हकीकत है, ऐसा तो स्पृहावाला और निःस्पृही भी होता है । **इस जीव** ने तो प्रभुकृपा से अनुभव किया है कि जैसे जैसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के समर्पण यज्ञ की भावना का विकास होता जाता है, वैसे वैसे श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ ही कर्म करने की सही तत्परायणता जीवन में प्रकट होती है और वैसा जीवन में होने से, भक्ति का सच्चा भाव अंतर में प्रकट हुआ

करता होता है । अंतर्बाह्य, इसके पश्चात् वह समान जीवन्त रहा करता है। ऐसा भाव प्रकट हुए बिना जीवनविकास संपूर्ण साध भी नहीं सकते, यह भी ठोस हकीकत है ।

यह कोई बालक का खेल नहीं है

जीवन में यदि ज्ञानपूर्वक योग्य ढंग से जीना हो, तो इसके साथ नाज-नखरे करने से रास आये वैसा नहीं है। मन में आये वैसा करें और मन में नहीं आया तब ऐसा किया, इस तरह से इस मार्ग में निभ सके ऐसा नहीं है । **इस** मार्ग में अपने सम्बन्ध में संपूर्ण नेकदिली, संपूर्ण सच्चाई, संपूर्ण वफादारी और संपूर्ण प्रमाणिकता प्रकट करनी रहती है, यह जान लो जी । इसमें जरा भी कम होगा या कम रहेगा तो वह चल सकेगा नहीं, यह भी निश्चित बात है ।

फना होने की तैयारीवाले ही आये

इसलिए प्रिय स्वजनों ! अभी चेत सकते हो तो चेत जाओ । **जीवन के दूसरे सब मोह, राग आदि सब छूट न सकते हो तो मिथ्या मोह इस मार्ग में जाने का छोड़ देना, इसमें सयानापन है ।** जीवन की भावना में यदि राग लगाने का करना हो, तो दूसरे सबके राग को समझ समझकर उसमें से पराङ्मुख होकर जीवन के सभी राग-मोह जीवनविकास की भावना में लगा देने होंगे । थोड़ा भी संकोच किये बिना, ज्ञानभक्तिपूर्वक, उमंग के साथ उल्लासवाली तैयारी और वैसा सब करने की संपूर्ण तत्परता हो, तभी **इस** मार्ग पर जाने का

करना जी । संपूर्ण बलि देने की और वह भी हृदय की उमंग से बलि देने की तैयारी हो तभी श्रीप्रभु के चरणकमल में सिर झुकाना जी और साहस करना जी । यह मार्ग तो फना हो जाने के लिए है और साहस करने का है, यह जानना जी ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ७-४-१९५३

हृदय में भाव छलकते किस तरह वह व्यक्त हो !
होते उस तरह व्यक्त फलित न हो उतना अर्थ ।

संसार की मर्यादा की मर्यादा

संसार की मर्यादा यह तो अंतर में उगाये हुए अनाज की रक्षा के लिए तैयार की हुई मजबूत बाड़रूप से है । ऐसी मर्यादा वह कैद नहीं है । हमारे जीवनविकास की भावना जब ज्ञानभक्तिभाव से संपूर्णता को प्राप्त करती है, तब मर्यादा के प्रकार और क्षेत्र भी बदलते जाते हैं । हृदय का भाव मात्र संबोधनों में थोड़ा ही समा जाता होता हैं ?

सच्ची वेदना के मापलक्षण

वृत्ति बहिर्मुखता की होते तू चेतती हो, पर उसे मोड़ नहीं सकती, तुम्हें उसकी वेदना होती है, दुःख होता है, पर वेदना और दुःख लगे तो इससे अवश्य वापस तो लौटा जा सकता है । दुःख या वेदना खाली खाली हो तो कुछ नहीं हो सकता । वेदना और दुःख सचमुच ही यदि प्रकट हो तो उस विषय को दिल में वह जाग्रत करवाता है, और उसमें वह गति

करवाता है। ऐसा होता अनुभव हो तो उसके लिए वेदना या दुःख हुआ यथार्थ गिना जायेगा ।

सच्चा पछतावा तो गतिप्रेरक होता है

संसारव्यवहार में सुमेल और सद्भाव की भावना की भूमिका को दृढ़ करने, जाग्रत करने, संसारव्यवहार की क्षुल्लकता से ऊपर उठने को, सभानता से बरतने दिल में जाग्रतरूप से यदि प्रभुकृपा से प्रयत्न करने का हो सकता होगा तो हमारे व्यवहार से जिस तिस को आत्मसंतोष होता है। जो भी कुछ बोलने के बाद उस बोलने में अयोग्यता चुभती रहती है। यदि वह सचमुच दिल में दंश देती लगे तो वैसा दंशरूप उस **जीव** को योग्य आचरण में प्रेरित करने को ही प्रयत्न कराये ऐसा वह यथार्थ दंशरूप का लक्षण है। यदि वैसा न होता अनुभव हो, तो जानना कि वैसा दंश जो लगता है, उसमें सच्चा प्राण, शक्ति, भाव आदि संपूर्ण जागृत नहीं हैं, ऐसा जानना और मानना ।

आश्रम में पत्र पढ़वाने के लिए तुमने पूछाया है, पर उस विषय में आगे से ही तुम्हें लिखा हुआ है। सदा ही जाग्रत होना, रहना और वैसे जीवन्त रहना । तुम्हें क्या क्या लिखूँ और क्या क्या नहीं लिखूँ ? लिखने से तो क्या मिलेगा ? तो तुम उस तरह से आचरण करती रहना । यही हृदय की अभिलाषा है ।

• • •

अनुभव योग्य तरह से स्वीकार नहीं करते

हम जीवन में जिस चेतनात्मक **जीवात्मा** के साथ जुड़े हैं, उसके जो चेतनात्मक अनुभव जो जो **जीवों** को हुए हों, उन अनुभवों को वैसा का वैसा मूल स्वरूप में कौन कौन कितना ग्रहण कर सकता है ? फिर, कितने उसे उसी स्वरूप में सँभाल सकते होंगे ? जीवन में अनुभव तो प्राप्त होते रहते हैं, पर उसे उस स्वरूप में ही अनुभव होने की बात तो जाने दो, किन्तु उसे उस स्वरूप में पहचानने की समझ भी कौन सा **जीव** रखता होता है ?

जीव को अनुभव तो मिलता है, पर वह स्वयं अपनी परिमितता के फलस्वरूप उसे वह परिमित बना देता है अथवा उसे उस उस स्वरूप में ही परख सकता होता है ।

एक उदाहरण

एक के एक ही वैसे **जीवात्मा** को एक **जीव** व्यवस्थित, देखभालवाला, सावधानीवाला, सतर्कतावाला ऐसे ऐसे प्रकार का दिखायी देता है । फिर, दूसरा **जीव** उसे दूसरी तरह के अनुभववाला निश्चयपूर्वक वैसा जानता होता है । फिर, तीसरे प्रकार के **जीव** के साथ वह तीसरे प्रकार का मालूम होता है । उसके हृदय की कोमलता का मुग्ध स्पर्श फूल के छोटे छोटे कोमल कोमल पत्तों से भी अधिक मृदु है और हमारा मन, प्राण आदि को भरे भरे बनाकर वह हमें अपना मय बना

देता है और अपने में प्रेमभाव से बिलकुल डुबा देता है, परन्तु हम सब **जीव** प्रकृति के होने से असली मूलस्वरूप का वैसा ज्ञानात्मक लाभ पर्याप्त प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

आपस-आपस में झगड़े का कारण

ऐसे वह अनेक के साथ अलग अलग दिखता होता है और वैसा उनको अनुभव होता रहता है, इससे किसी को भी वैसी किसी की बतलायी हुई हकीकत में भेद मानने जैसा नहीं है । स्वयं को वैसे का हुआ अनुभव उस उस स्थान पर यथार्थ होने का पर्याप्त संभव रहता है । इससे अमुक स्थान पर वैसी आत्मा के स्वजनों को अंदर-अंदर झगड़ते देखा है कि, 'उनके जीवन का निर्माता ऐसा ऐसा था ।' दूसरे फिर उसे दूसरे रूप से कहेंगे, ऐसे परस्पर अंदर-अंदर उस बारे में झगड़ते भी देखा है । ऐसी हम सब प्रकृतिवश प्रेरित **जीवों** की बलिहारी होती है ।

हमें तो बस प्रेम से सभी से मिलना है

इसलिए जगत में संसारव्यवहारवर्तन में जिस तिस को, उसके प्रकृति के स्वरूप से वह वैसा होने पर भी जीवन की समग्रता में उन उनको हमें तो जीवनविकास की भावना की समग्रता में सुमेलभाव से स्वीकार किया करना होता है । इसलिए हमें किसी के साथ नहीं है द्वेष, ईर्ष्या, डाह या नहीं किसी से राग, मोह, मद, मत्सर आदि वृत्तियाँ । हमें तो जिस तिस सभी में प्रेमस्वरूप से ही ज्ञानात्मकता से उसकी कृपा

से मिश्रित होते रहना है । किसी से भी कहाँ अलग हैं ? सभी से अलग हैं, ऐसा समझने, गिनने में दोष रहा हुआ है । जो भी सब समग्ररूप से एक हैं, ऐसे एक से अलग होना उतना पतन हुआ समझो ।

तथापि फिर एकभक्ति ही

इससे हम तो एकभाव से जिसमें और उसमें, जीवनविकास की भावना जीवित किया करने के लिए, ऐसे हेतु का ज्ञानभान प्रकट कर करके, घुलना-मिलना होने पर भी, साथ ही साथ वापस अपने आपको एक में ही सतत पिरोकर रखने की ज्ञानभक्तियुक्त धुन जीवन में प्रकट हुई होनी चाहिए ही । यदि ऐसा नहीं हुआ हो तो तो उन सभी के साथ किचड़ में गंदे हो जाओंगे, यह भी निश्चित है, परन्तु मात्र उस डर के कारण किसी के साथ न घुले, न मिलें यह तो हमारी असीम अज्ञानता और मूर्खता गिनी जायेगी ।

तब भी प्रेमभाव तो आवश्यक ही

तो ऐसा प्रश्न होगा कि घुलमिल कर करना क्या ? अब हमें सांसारिक बातें तो करनी नहीं हैं । ऊँची-ऊँची दूसरी बातें भी क्या करनी ? प्रेमभाव हो, पर वह व्यक्त किस तरह से करें ? पर अरे ! भला **जीव** ! हृदय की मिठास का स्पर्श तो हुए बिना कैसे रह सकता है ? **हृदय के प्रेमभाव का स्पर्श तो अणु-अणु में प्रकट होता है ।** हृदय के भाव का स्पर्श, हमारे मिलने की झनकार में, हमारी बोली में, हमारी

आँख में, हमारी चाल में, हमारे व्यवहार में प्रकट हो जाता है । हम तो जीवन को नया अवतार देने को कृतनिश्चयी हुए हैं न ? इस प्रकार के **जीवात्मा** का उत्साह, उल्लास, सावधानी, देखभाल, हिंमत, साहस, धीरज, जागृति तो कैसी कैसी होनी चाहिए ? जीवन की पुनर्रचना हृदय के ऐसे थिरकते प्रेमभावयुक्त उल्लास, उमंग, सावधानी, जागृति आदि के बिना होना कभी संभव नहीं है ।

साधना के भाव में ही हृदय का आग्रह रखो

हमने तो हवा को कैद करने और आकाश को बाहों में भरने की हिम्मत की है । तो फिर कहीं किसी से डरने का कारण क्या होगा ? ऐसे कृतनिश्चयी **जीवात्मा** के साहस, हिम्मत को कोई चुनौती दे सके ऐसा नहीं है । किसी की वैसी ताकत भी नहीं है । सब कोई उससे पीछे पड़नेवाले हैं, यह निश्चित मानें और अनुभव से वैसा प्रमाण करें । 'जो माना है, वही करना है, दूसरा कहीं किसी में सिर नहीं मारना है ।' ऐसा दृढ़ मरजिया निर्धारण जिसके जीवन में बरत रहा हुआ है, वैसे **जीव** के शौर्य, पराक्रम की कथा न्यारी न्यारी है । वह तो सच्चा बहादुर है । उसे कोई उसके निश्चय से डिगा सके ऐसा नहीं है । उसका निश्चय मात्र जीवनविकास की भावना में ही दृढ़ता से व्याप्त हुआ रहता है । दूसरे सभी क्षेत्रों में तो वह बिलकुल मिट्टी के लोंदे जैसा अर्थात् संपूर्ण निराग्रही व्याप्त होता है । जिस **जीव** से जीवनविकास की

भावना बिना अन्य क्षेत्र में ऐसी निराग्रहीता की भावना द्वारा जीया जाता न अनुभव हो, तो ऐसे **जीव** को स्वयं गहराई में जाकर निहारना चाहिए, सोचना चाहिए और समझना चाहिए कि अभी हमें जीवनविकास की भावना को ही मात्र चिपक कर जीना है, ऐसा निश्चय दृढ़ नहीं हुआ, पर एक हकीकत यहाँ नोट करने जैसी और विचारणीय है ।

निराग्रह अर्थात् शिथिल डरपोक नहीं

कोई एक **जीव** की प्राकृतिक ऐसे गुण की दशा के कारण से ऐसी दशा हो तो वैसा **जीव** स्वयं अपनी प्रकृति से ही शिथिल होने से दूसरे **जीवों** के आग्रहों के वश हो जाता होता है अथवा किसी प्रकार के दबाव के कारण से अथवा संसारव्यवहार की अपनी अपनी दशा के बारे में खिसियाना हो जाता होता है, यानी कि प्रकृति के स्वभाव से निराग्रहीता व्याप्त होती लगे, तो वैसी निराग्रहीता से तो जीवनविकास की भावना को जीवन्त कराने, प्रकट करने, प्रेरित करने का कोई भी लाभ नहीं होता है, बल्कि ऐसी प्रकृति से ऐसा शिथिल स्वभाववाला कभी भी जीवनविकास की साधना नहीं कर सकता है । **जगत, संसार, व्यवहार, आचरण में हमें सुमेल बनाये रखना है, नम्रता भी रखनी है, सद्भावना भी रखनी है, उसकी मना नहीं है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह अपने जीवनध्येय की भावना को कुचलकर वह वैसा किया करे, उसमें तो उसके जीवन की मृत्यु हुआ करती है ।**

बेकार तर्क छोड़कर प्रचंड उत्कट भावना लाओ

तो क्या जीवन के साधक को जहाँ तहाँ सिर ही उठाया करना है और बागी बनकर मन, प्राण आदि में व्यग्रता को निमंत्रण देकर के, जो भी मिले हुए **जीवों** का साथ, सहानुभूति, ऊष्मा आदि खो डालने ? भाईसाहब ! ऐसे ऐसे तुक्के उठना यह तो बिलकुल सरल बात है । जिसे जैसा व्यवहार करना है, वैसे वह आचारण करता संसारव्यवहारवर्तन में अनुभव करता होता है कि नहीं ? इसका मुझे आप सभी उत्तर दो । जगत में जिसे जैसा व्यवहार करना होता है वैसे वे सभी आचरण करते रहते हैं ही । उसमें वे कहाँ जिसे उसे सींग मारा करते हैं ? इसलिए यह तो जिसे जैसा जैसा चलना, जीना, व्यवहार करने का सूझता, सोचना हो वैसै वैसे उस अनुसार ही **जीव** से हुआ करता होता है, ऐसा यह प्रत्यक्ष प्रमाण है । जब धधकता ज्वालामुखी फूटता होता है, तब अच्छे अच्छे कठोर पर्वत के पत्थरों को भी तोड़कर फोड़कर कहीं उड़ा देता है, कहीं उसे फेंक देता है, इतना ही नहीं, पर उसे चूरचूर करके उड़ा देता है । इसलिए ऐसा प्रश्न मनबुद्धि पूछने का करे तो उसे एक ही उत्तर देना होता है कि, ‘भले **जीव** ! ऐसी टेढ़ीमेढ़ी बातों में मुड़ जाने का छोड़कर जीवनविकास की साधना के बारे में ऐसी धधकती उत्कट से उत्कट भावना प्रखर, प्रचंड रूप से निभाने के निरन्तर अभ्यास में ही लग जाओ ।’

भावना और अभ्यास का जीवित चक्र बनाओ

एक समय वह ऐसी तो ज्वलंतरूप से प्रकट होगी कि हर किसी को उड़ा देगी । वहाँ तक हमें तो अपने साधन के हेतु के भाव से पकड़े रखकर उसमें ही बस सर्व कुछ प्रभुप्रीत्यर्थ भावना से करते रहकर, साधन के जीवित अभ्यास से भावना प्रकट करते रहकर, उसी भावना के बल से वापस उस साधन को अधिक से अधिक चेतनवान स्वरूप में प्रकट करने को उसकी कृपा से प्रयत्न करें, उसमें ही जीवन की कृतार्थता और धन्यता है । हमें किसी के सामने नहीं होना है या हमें किसी की अवगणना नहीं करनी है । हम तो जो भी सब एक ही हैं । कोई किसी से अलग अलग नहीं है । फिर कहाँ भेद रहता है ? इसलिए, बस यह तो साहस किया ही करो । बस मथा ही करो । जिसमें और उसमें, जहाँ और वहाँ जीवन को मत भूल जा सके, उसकी पर्याप्त हृदय से देखभाल रखा करो ।

अब तो तुम्हारे द्वारा जीना है

किसी को भी उस उस व्यक्ति के रूप में न अनुभव करो । उस **जीव** को उसकी प्रकृति की रीति से हमें देखने, समझने की आदत समूल से ही त्याग देनी है, ऐसी आदत रही तो हमारा मन हमें अशांति, क्लेश, संताप आदि के समुद्र में डुबो देगा । और ऐसा हुआ तो फिर हम प्रगति नहीं कर सकेंगे । तुम्हें **इस जीव** पर सदा कृपा करते रहना है । तुम्हें

सदा ही नम्र से नम्र होने पर भी उन्नत मस्तक से सभी के ऊपर उठ सको अनुभव कर सकूँ ऐसा हमारा सद्भाग्य तुम प्राप्त करवाना ऐसी तुम्हें हमारी हृदय से विनती है । हमें तो प्रभुकृपा से प्राप्त स्वजन के वैसे वैसे योग्य व्यवहार से जीवन में शान्ति लानी है । **जीव**रूप में थे, तब साधना में चेतनप्राण प्रकट करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता थी, उन उन सभी साधना के बलवान स्वरूप प्रकट होते होते, और वैसे वैसे उपयोग भाव से जीने का होते, वे वे प्रकट होते अनुभव हुए थे । उस समय कैसी शांति, समता, संतोष, आदि भूमिका जीवित रहा करती थी ! (पर उसका हेतु तो चेतन को प्रकट करने, अनुभव करने को ।) आज स्वजन के जीवन के ऐसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के जीवनविकास की भावना को योग्य होती रहती साधना को फलित कर सके ऐसे जीवन के वर्तनव्यवहार से **यह जीव** सुखशांति भोगने को उनकी कृपा से चाह रहा हुआ है यह जानना । तुम सभी के द्वारा अब जीना है तो जीना है । इसलिए तुम सभी कृपा करके जीवित रखना । अधिक क्या कहूँ ? स्वजनों की दुनिया में यदि न्यारे न्यारे रहकर प्रभुकृपा से स्वजनों में जीवनकला यदि न प्रकट हुई हो, तो तो वह उनके साथ मृत ही पड़ा समझना । जीवनविकास के लिए यदि तुम सभी सचमुच ही **इस जीव** के स्वजन हुए हो, तो ऊपर अनुसार भावनायुक्त आचरण कर करके ऐसी दक्षिणा हमारे चरण में दो ऐसी हमारी भिक्षा है, पर वह प्रेमज्ञानपूर्वक कौन देता है ? यहाँ तो कई काल से भूखे भूखे पड़े रहे हुए हैं ।

सौंपे हुए काम करने के पीछे की भावना

जीवनविकास के लिए हमें तो सच्चा भेस लेना है । भेस लिये बिना सच्चा, सही, सत्य, पूरे प्राण साधना में प्रकट हो नहीं सकेंगे । 'गुरुकृपा से जो भी सब हो जायेगा' ऐसी मिथ्या भ्रमणा में कोई पड़े नहीं रहना । हमें अपने हिस्से में आये सकल कर्तव्य जीवनविकास के भाव से पूरी तरह कर चुकने में ही समस्त और समग्र जीवन को फना कर दें । फिर देखो, क्या होता है वह ! हमें अपने हिस्से आया हुआ हृदय के उत्साह, उमंग से यदि कहीं कुछ न कर सकें, तो तो फिर उसका लाखों गुना काम करते होंगे, तो वह भी किसी काम में आ नहीं सकेगा यह निश्चित जानना, क्योंकि उनके वैसे सब काम, हम सब **जीव** होने से अपनी-अपनी प्रकृति के ढंग से ही और स्वभाव अनुसार ही किया करनेवाले हैं, इससे, वैसे कामों से भी हम मुक्त नहीं हो सकते हैं । किन्तु उनके वैसे वैसे प्राप्त हुए कर्म में साधना की भावना रखकर 'सद्‌गुरु के हैं' ऐसा ज्ञानपूर्वक समझ समझकर, वैसे कर्म को उत्तम से उत्तम हो सके वैसी कला प्रकट कर करके, उन कर्मों को समूचा पूरा करके, वह वह सब प्रेमभाव से उसे ही वापस समर्पण किया करने का जीताजागता ज्ञानभान प्रकट करते रहें, तो वैसे सौंपे हुए काम भी यज्ञस्वरूप से ही प्रकट हुआ करे, और इस तरह से और ऐसी भावना से किये हुए यज्ञकर्म जीवन की प्रकृति को पलटाने शक्तिरूप में बन जाते होते हैं ।

साधकों को बार-बार कहना

पर ऐसे कर्म में भी जो **जीव** मुरदारपन से व्यवहार करता हो, तब हमें क्या क्या नहीं होता हो ? तब भी प्रभुकृपा से जिस **जीव** ने जाने अनजाने हमारा संग किया है, वह अपनी **जीव**दशा की कक्षा में भी ऊपर उठा रहे, उस प्रकार के संस्कार उसमें पड़ा करे, वैसे कर्म में उसे व्याप्त होने का हुआ करता है । हमें नाखुशी इतनी ही होती है कि वैसे **जीव** उस समय उसमें उच्च प्रकार की भावना प्राणवान स्पष्ट दिखे ऐसी नहीं रख पाते हैं । जो भी सब हमारा दोष निकालते हैं । 'क्यों आप हमें कीचड़ में रगड़ते हुए देखा करते हो और हमें ऊँचे क्यों नहीं लेते ?'

प्रेमभक्तिज्ञान की भूमिका की आवश्यकता

उनको क्या उत्तर दूँ ? सामनेवाले **जीव** में दूसरे **जीव** का माननेपन होने के लिए, संसारव्यवहार में भी देखो तो लगेगा कि जो कुछ कहा किया हम से न माना गया हो, उसका वही कथन हमारे जिसमें राग-ममता, भाव, आसक्ति अथवा ऐसी ऐसी भावना होगी वैसा **जीव** हमें यदि वही करने को कहेगा तो हम वह शीघ्रता से करेंगे । इसलिए कहा हो सकने के लिए, वह माँग लेता है हमारी अमुक प्रकार की भूमिका, यह निर्विवादरूप सत्य हकीकत है । सद्‌गुरु या ऐसी उच्च आत्माएँ हमारे पास जो प्रेमभक्तिज्ञान माँग लेते हैं, वह कोई उनको उनको भोग भोगकर वैभवविलास में खेला करने

को तो नहीं है न ? उसका हमारे संदर्भ में सतत प्रयास किस प्रकार का है, वह तो भला देखो ! जो जो **जीव** जिस प्रकार के हैं, उन्हें उनके स्थान से उठाने के लिए उसने कैसे कैसे प्रयत्न किये हुए हैं, उसका कृपा करके सब स्वजन ! आप इतिहास देखो । तटस्थता, शांति से उसका अध्ययन करके देखो, तो तुम्हें सच्ची क्या हकीकत है वह पता लगेगा । तो फिर हमें बार बार कहने से अच्छा है आप स्वंय को ही बार बार कहा करो न ! उसमें लाभ तुम्हारा हमारा दोनों का है ।

मनबुद्धि से न चलकर साधन को ही ज्ञानभक्तिभाव से जुड़े रहो

मन के अनुसार चलने पर तो कभी अंत आयेगा ही नहीं, क्योंकि मन तो परिमित है । वह सुख, दुःख, आसक्ति आदि द्वन्द्व प्रकार को ही वश होता है । मन को संपूर्ण लय प्राप्त करा सके तो **जीव**प्रकृति में उठती सभी प्रकार के द्वन्द्व की वृत्ति से पर हो ही सकते हैं, यह निर्विवाद रूप से अनुभव की हकीकत है, ऐसा तुम्हें प्रभुकृपा से छाती ठोककर कहता हूँ । इसलिए हमारी ऐसी दशा न हो सकी हुई हो, वहाँ तक मनबुद्धि के मूल्यांकनों से कभी खींचे नहीं, उसकी इस तरह की माथापच्ची में न पड़ना । तथापि वापस उनकी अवगणना तो ना ही करें । हमें तो बस एक की एक बात में — हमने लिये साधन को ज्ञानभक्तिभाव से लगे रहने में ही — सार है । इसलिए, कृपा करके तुम वैसा आचरण करके शांति दो,

तो तुम सच्ची। सभी स्वजन ऐसे बनेंगे इस आशा में प्रभुकृपा से जीया करता हूँ, । सभी स्वजनों के जीवन पर मदार रख रखकर उनमें दिल पिरोते **मोटा** के सप्रेम बहुत बहुत प्रणाम।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरि:ॐ　　　　ता. ८-४-१९५३

नीचे स्तर के *जीव* के साथ भी प्रेमभाव

सभी के साथ हृदय का प्रेमभाव तो अवश्य रखना होता है और वैसा कोई **जीव** होगा कि जिसकी सुहबत से हमारे जीवन में प्रेरणा, सहानुभूति, भावना, जीवनविचार आदि उच्च प्रकार के स्फुरते रहते न हो। अरे ! इतना तो नहीं, पर **जीवन के नकारात्मक पहलू में मानो कि उस *जीव* से खींचना होता हो, तब भी हम में सच्चा परिबल हो, सच्ची भावना हो, उसके सम्बन्ध का सही हृदय का प्रेमभाव हो, तो परस्पर का दिल का आकर्षण जो दिल में है, उसे मरने तो न ही देना।** ऐसा आकर्षण तो चढ़ने के लिए जीवनसोपान है। ऐसे **जीव** को हमें हृदय के प्रेमभाव से भीगने देना है। उसकी नकारात्मक प्रवृत्ति में हम यदि रस लेते संपूर्ण रुक गये और तब भी वह भाव दिखाने का किया करें, तो उसमें आकर्षण है और उस आकर्षण का लाभ जीवन की सद्भावना प्रकट करने में प्रभुकृपा से अत्यधिक मददरूप हो सकता होता है।

हम किसी के यहाँ न जाएँ और कोई हमारे यहाँ आया करे तो इससे कोई हमें अभिमानी आदि गिने तो गिनना,

गिनाने देना । हमारे में वैसी वृत्ति नहीं है, यह हकीकत से देखते रहना । फिर, हम जिस तिस के यहाँ जाते नहीं, उसका कारण अब हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव जीवन के सम्बन्ध में अलग प्रकार के होने लगे हैं, उसे बाहर के व्यर्थ घूमने के वातारवण से तो भ्रष्टता में भटकने और बेकार घूमना होता है । इससे एक प्रकार की ग्लानि पैदा होती है । ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता होने से हमने दूसरे किसी के यहाँ खास करके अपने आप जाना आना बंद कर दिया है । हमें अपना दृष्टिबिन्दु प्रेमभाव से अपने वैसे स्वजन को समझाना है । सभी किसी का हेतु है । जो कुछ मिले उसे नकारना तो नहीं है । हमें तो उसे जीवन की भावना को प्रकट करने में काम में लेना हो ।

ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता रखो

सभी के संदर्भ में समभाव, सद्‌भाव, प्रेमभाव के ही दृष्टि, वृत्ति और भाव रखने से जीवन में हम कोरे नहीं रहते और बिलकुल शुष्क नहीं बन जाते हैं । अपने आपको कभी भी हम अकेले अकेले हैं ऐसा लग सकनेवाला नहीं है, यह निश्चित रूप से जानना । एवं हम उच्च हैं ऐसा जरा भी मन में नहीं लेना है, इसकी तो अत्यधिक सँभाल लेने की आवश्यकता है । हम पतित से पतित हैं । ***'मो सम कौन कुटिल खल कामी'*** ऐसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की भावना दृढ़ कर करके, हमें सकल कुछ जो होता रहता हो, उसमें उस

भाव से आचरण करते हुए उससे ऊपर उठते रहना है, ऐसी ज्ञानात्मक भावना हमारे सकल व्यवहार, वर्तन, संबंध, संपर्क, बातचीत आदि सभी में प्रकट करते रहना है, यह जानना । वैसा हुआ करे तभी हमारे जीवन के संदर्भ की भावना पक्की और जीवित होती जाती है । यह हकीकत निजी जीवन के अनुभवों से वैसा आचरण करते हुए जानी है । वह स्वजनों के जीवन के उपयोग के लिए उनके चरण-कमल में समर्पण की है । उसका उस भाव से जो उपयोग कर सकेगा वह अवश्य पार हो जायेगा, ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास हमें है यह जानना ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ८-४-१९५३

संपूर्णता का दावा मत करो

आत्मा के ज्ञान के अनुभव के भी प्रकार और कक्षा भिन्न-भिन्न होते हैं । उसमें भी भेद, कक्षा और सत्य के अनुभव की खंडितरूप से प्रकाश की परिमितता होने की संभावना होती है, क्योंकि हमें ज्ञान का अनुभव तो हुआ हो, तब भी उस ज्ञान का स्पर्श अभी न हुआ हो, ऐसा भी होता है । प्रकृति स्वयं तो अज्ञान से चिपकी हुई होती है, पर फिर वह सामान्य **जीव**कक्षा के प्रमाण में अज्ञान के व्यवहारवाली तो तब नहीं ही हो सकती है । जब अंतर्बाह्य मनादि सभी करणों में ज्ञान का अनुभव स्थित होकर चेतनस्वरूप में

उसकी पूर्णता में हमें प्रकट होता है, तभी अपनी प्रकृति से अज्ञानमय कार्य होता रुक जाता होता है । इसलिए, अमुक ज्ञान की कक्षा का अनुभव होते, अमुक **जीव** स्वयं अपने को कृतकृत्य हो गये हुए और संपूर्णता की मर्यादा में प्रकट हुए समझते हैं, वैसा जो माने वह प्रभुकृपा से वैसा होने दो । हमें तो कभी भी **इस** मार्ग में संपूर्णता का दावा तो भूलचुक से भी करना ही नहीं । दावा करने का लगे वही ही अज्ञान की भूमिका गिन सके ।

'चार चार कोस चलते...'

ज्ञान की, कला की भी परंपराएँ होती हैं । एक से पर एक ऐसे अनेक कक्षा की वह होती है । एक ही कक्षा में अनेक प्रकारांतर भी हुआ करते हैं, परन्तु हम सबके लिए ऐसी समझ तो अभी अत्यधिक दूर की है । हमने तो अभी एक भी कहाँ घूंटा है ? एक यदि प्रभुकृपा से घूंटा जायेगा, तो फिर अपनेआप दो लिखने की दशा में आ ही जायेंगे यह भी निश्चित है ।

भूल या दोष अंतर से सचमुच दंश देने चाहिए

अनेक अनेक प्रकार का उगे, उठे उस समय तुरन्त विवेक की आँख खुली रह सकती हो, तो तो वह हमें न्याय दे सके । तो फिर विधवा या विधुर होने के बाद का सयानापन जैसी हकीकत न हो जाये । जो भी हो गया उसके पीछे अमुक-अमुक ऐसा हुआ या वैसा हो गया, उसकी अयोग्यता

हमें लगती है और वह बुद्धि से समझ आती है, ऐसा जो भी सभी को कहते और लिखते जाना है, परन्तु उसका सचमुच, पूरा, सच्चा दंश किसी को दिल में लगा नहीं होता है अथवा तो लगता नहीं है । उसकी बुद्धि में वैसा वैसा लगता है, वह सच होना भी संभव है, उसकी भी ना नहीं है, परन्तु वह उसे सचमुच का लगता होता नहीं है । यदि प्रत्येक प्रसंग में वैसा वैसा होते, यानी कि दोष या भूल होते हमें उसकी अयोग्यता के बारे में लगा करता हो, तो ऐसे लगा करने से भी लगा करने का घाव गहरा जाता जाय और फिर तो उसमें से जन्म लेती भावना हमें जगाती रहे । ऐसी भूल या दोष होते पहली बार कम दंश देगा, परन्तु यदि सचमुच का दंशरूप लगता हो तो ऐसे दंशरूप से यदि चेत जाने का न हो सके, तो वैसे खाली खाली दंशरूप का कोई अर्थ नहीं है । किसी भी प्रकार की भावना यदि हमें चेताये या जगाये तो बुद्धि में अपनेआप जागृति प्रकट हुआ करती है । बुद्धि में जब जागृति प्रकट हो जाती है, तब विवेक की आँख खुल जाती है । इसलिए, होने के बाद भी यदि लगे कि वह अयोग्य रूप से हुआ था और वैसा बरतना या बोलना नहीं था, तो वैसी अयोग्यता के बारे में दिल में भले चिन्तन न हुआ करे, वह योग्य भी हो, परन्तु वैसी हो गई हुई अयोग्यता हमें दिल में सचमुच दंश देनी ही चाहिए और हृदय में तो अत्यधिक लगना चाहिए । इससे, हम एरंडी का तेल पिया हुआ मुँह रखकर भले न घूमते हों, पर ऐसा ऐसा लगे वह गहरा गहरा लगा करे और उसमें से

जागकर जीवन की योग्यता में व्याप्त हों, तभी लगा हुआ यथार्थ है और तभी भाग्योदय होगा ।

बुद्धि में जागृति

बुद्धि में ज्ञानपूर्वक की जागृति जब प्रकट होती है, तब जीवन में उपजते अनेक प्रकार के प्रश्नों का हल को वह तुरन्त सुझा देती है । अग्नि को स्पर्श करते जैसे गरमी लगा करती होती है वैसे बुद्धि में प्रकट हुई जागृति उस तरह से काम देती होती है । इस तरह से बुद्धि काम देती हो सकती है, उस समय से अब वैसा वैसा लगा हुआ सच है ऐसा प्रमाण माने । बुद्धि में योग्य जागृति जीवनविकास के संदर्भ में जब से प्राप्त होती है, तब से उसकी शुद्धि होने की शुरूआत होती है ।

नामस्मरणभावना से ही लगे रहो और जुगाली करो

हम बेकार में ही कहीं किसी दुःख और पश्चात्ताप की मानसिक जलन में न पड़ जाये, कहीं किसी को मथा न करें, कहीं कोई जुगाली न करें, कहीं किसी से चिपके न रहें, कहीं किसी में गला डूब ऐसे न पड़े रहें, यह सब हमें चेतते रहकर टाला करना है यह जानना । नामस्मरण को ही चिपके रहना है । जुगाली करनी हो तो उसीकी ही जुगाली करना । गला डूबे ऐसा रहा करना हो तो नामस्मरण और उसकी भावना की जीवित हृदयस्थ धारणा में वैसे रहा करना ।

• • •

कुंभकोणम्   हरि:ॐ   ता. ५-४-१९५३

'जीवनसोपान' के पत्र कित-कितने **जीवों** को कैसे कैसे पसंद आये हैं !

बुद्धि की समता से पक्षपात टलेगा

जैसे-जैसे बुद्धि में जीवनविकास के प्रति योग्य प्रकार की जागृति की भावना अधिक से अधिक सतेज होती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धि में समता भी प्रकट होती अनुभव होती है और वैसा होता है, उस समय से सर्व प्रकार के पक्षपात को बुद्धि में प्रकट हुई समता की मदद से दूर करने को हम सफल हो सकते हैं । कोई विचार सही लगते हो और कोई सही न लगते हो, उन दोनों में भी सत्य होने का पूरा संभव होता है । जब अमुक विचार जो सही लगते हो, उनके सही लगने में हमारा राग, मोह, आसक्ति, ममता, किसी प्रकार की कामना आदि भी घुले होना संभव रहता है, यानी कि उन विचारों में पक्षपात और पूर्वग्रह भी होता है । विरोधी विचारों में फिर दूसरे प्रकार का पक्षपात होता है । इसप्रकार, हम वृत्ति, विचार, भावना आदि में से और प्राण के आवेश, आवेग आदि से बुद्धि में प्रकट हुई जागृतिपूर्वक की समता की मदद द्वारा सकल प्रकार के पक्षपातों से और पूर्वग्रहों से हमें मुक्त हुआ करना है । ऐसा होना अत्यधिक आवश्यक है ।

आगे जाने पर पक्षपात का प्रकार और उसकी सूक्ष्मता बढ़े

हमारे आधार के एकएक करण में उस उस क्षेत्र के ऐसे

अनेक प्रकार के पक्षपात खड़े हुए होते हैं । उन उन सभी प्रकार के पक्षपातों को हमें ज्ञानपूर्वक टालना है । उसके बिना चल सकनेवाला नहीं है । जैसे जैसे जीवन की सूक्ष्मता में प्रवेश करते जायेंगे, वैसे वैसे उन उन करणों का भी सूक्ष्मपन होता होने से, ऐसे पक्षपातों का स्वरूप भी सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होता जाने से, उसे परखने के लिए कितनी अधिक चेतनयुक्त जागृति होनी चाहिए, यह तो एकमात्र उस विषय का पक्का अनुभवी जान सकता है । ऐसी **जीवात्मा** को फिर स्थूल विषय में किसी भी प्रकार के पक्षपात से राग, मोह, कामना, आशा, इच्छा, वासना आदि से आच्छादित होना नहीं होता है, परन्तु जब वे वे सब नये नये सूक्ष्म रूपों को धारण करते होते हैं, और अपने ही हित का स्वांग रचकर वे जब जन्म लेते हैं, उस समय उसके उस स्वरूप से उनको अलग करके उनका योग्य आकलन करने का साधक के लिए अत्यधिक कठिन होता है । प्रभुकृपा से वैसी **जीवात्मा** सदा ही पलपल जीवित रहने को ही हृदय में हृदय से बार बार याद करता है, इसलिए ऐसों को प्रभुकृपा से उनसे भी चेत जाने का और जाग जाने का हो सकता है । इसप्रकार, जैसे जैसे उसे ऐसे ऐसे सूक्ष्म स्वरूपों से पर होने का सूझता है और उनसे पर हो सकने का बनना उसकी कृपा से वह अनुभव करता जाता है, वैसे वैसे उसकी आंतरिक बलशक्ति भी बढ़ती जाती और प्रत्यक्ष जीवन में काम करते हुए वह अनुभव कर सकता है ।

काम काम को सिखाता है, यह सूत्र जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उतना ही सत्य है ।

जीवस्वभाव के प्रेम की माँग

मुझे तो प्रभुकृपा से अपने आप ही ऐसा सब सीखना था और उसने कृपा से सिखाया तो सीख सका था । आप सबको बतलानेवाला तो मिला हुआ है, पर उसका ऐसा पूरा योग्य लाभ कौन उठा सकता है ? यही हमारा दुःख है और संताप है । हमें स्वजनों से अनेक प्रकार का त्रास भी हुआ करता है । हमारी दया कोई नहीं खाता है ! सब कोई यह पुकारते हैं कि–

'हमें प्रेम करो, प्यार करो, हमें चाहा करो, हमें अकेले को ही मात्र महत्त्व दिया करो, हमारे लिए ही जो भी किया करो, हमें ही जिसमें और उसमें गिना करो, हमें ही पूछ-पूछकर सब कुछ किया करो, जिसमें और उसमें हमें आगे रखा करो, हमारे बारे में अच्छा-अच्छा बोला करो, हमें पसंद पड़े वैसा बरता करो, हमें उत्साह दो ।' ऐसा ऐसा कुछ कुछ वे तो चाहा करते हैं ।

चाह दो, फिर चाह लो

पर उन सभी स्वजनों को यह पता नहीं है कि संपूर्ण **प्रेम दिये बिना, हृदय से हृदय का योग्य प्रेमभाव किये बिना प्रेमभाव कभी मिल नहीं सकता है ।** जो भी सभी संसार में उलझन में पड़े हुए हैं, किसी को कहीं किसी का

अभी ज्ञानभान प्रकट नहीं हो रहा है । जीवन की तो मानो किसी को पड़ी ही नहीं है, ऐसा जीवन जो भी जीया करते हैं । किसी को भी आलस्य छोड़कर निद्रा से उठने का दिल ही नहीं है । निद्रा में होने पर भी मानो स्वयं जाग रहे हैं ऐसा अपने को मनवाने में फिर खुश होना है । ऐसी उलटी दशा देखकर हमें कहो, किस तरह दुःख दूर हो ? तथापि हमारी तो अनंत धीरज है ।

सद्गुरु की जलन का प्रवाह

ऐसी ऐसी अनेक स्वजनों के जीवन की कुढ़न और जलन अंतर में जला करती होती है । हमें अंतर में अंगारे जलते होते हैं । **उस प्रकार की किसी उत्कट दशा में तत्काल उस समय जो कोई स्वजन निमित्त पैदा होने पर बीच में आ चढ़ा, उस पर इस *जीव* से उन उन सब स्वजनों पर का रोष उनको उनको चेताने निमित से, जगाने के लिए सारा उड़ेला जाता होता है । सभी माने कि 'इस एक को ही *मोटा* डाँट रहे हैं,' पर वैसा तो कुछ भी होता नहीं है । यदि उस समय वे वे स्वजन ऐसा समझते हों कि उसमें हमारा भी हिस्सा है, तो वे भी प्रभुकृपा से जाग्रत होने का सीख सकते हैं ।**

अपने को ढँकने में अपना ही नुकसान

यद्यपि प्रभुकृपा से अब तो ऐसा भी समझपूर्वक छोड़ देने का सोचा है । समय भी बदलता रहा करता है । जो साधन

जिस हेतु के लिए उपयोग करने को खड़ा होता है, उसमें कोई एक **जीव** अपनी ही बुद्धि से इस **जीव** के सिर पर दोष की टोकरी ओढ़ायेगा तो वह भी कबूल मंजूर है । उसमें हमें तो कोई नुकसान नहीं है । भले हमारे हेतु में किसी को उत्कटता न लगे और कोई जाग नहीं सकता हो, और ऐसा वह वह स्वजन माना करे, और ऐसा करके भले वे अपनेआपको ढँका करे । इसमें उनका विकास नहीं होगा और स्वयं माने हुए गुरु के साथ भी योग्य न्याय नहीं होगा । जैसे तैसे करके भी स्वयं जाग जाने में ही समझदारी है ।

साधना के लिए दिल तो प्रकट करो !

जिसे अपना माना और स्वीकार किया, सद्‌गुरु के वचन से भी पूरी योग्यता में चेतना यदि जाग नहीं सकती है, तो हमें क्या समझना है ? वह सभी समझने का प्रभुकृपा से उन स्वजनों के चरणकमल में मैं तो सौंप देता हूँ । जीवनविकास की साधना के लिए उन्होंने **इस जीव** को खोजा था, उसके लिए अपनाया था, तो वैसे **जीवों** साधनमार्ग में अभी क्यों पूरी तरह कूदे नहीं हैं ? क्या **इस जीव** ने उन्हें रोक के रखा है ? उन से राग, मोह, द्वन्द्वादिक वृत्ति से क्यों नहीं छूटा जा रहा है ? भले मानो कि उनसे वैसा छूटता नहीं है, तब भी उनसे अलग होने का उनका सचमुच का और संपूर्ण दिल प्रकट हुआ हो, तो ऐसे प्रत्यक्ष लक्षण उनके उस प्रकार के व्यवहारवर्तन में व्यक्त हुए बिना कैसे रह सकते हैं ? जिस

साधक को अपना ही सर्वस्व देखने का प्राणवान ज्ञानपूर्वक का अभ्यास पड़ा ही न हो, तो फिर बेचारा दूसरा **जीव** रास्ता भूले हुए दूसरों को देखने का किया करेगा, उसमें उनका दोष भी क्या ?

संपूर्ण प्रभु के हो जाओ और फिर देखो उसकी कृपा

परन्तु ऐसे सभी अंतर के अफसोस के पीछे तो इस **जीव** का हृदय रो रहा है वह अब भी, जिस हेतु के लिए स्वजन मिले हुए हैं, वे स्वजन चेतने का करके अब भी उसमें संपूर्ण साहस करे तो काम हो सकेगा । योग्य, जीवन्त पूरे अभ्यास के बिना कहीं कुछ नहीं हो सकता है । साधन में भी चेतन-प्राण उस उपयोग की ज्ञानता के भान सिवा कभी प्रकट नहीं हो सकता है । इसलिए जिसमें और उसमें उपयोग का ज्ञानभान रखा करो इतनी प्रार्थना है । अब नहीं रहा जाता है और हृदय दुःखी होता है, इससे बारबार स्वजन को संबोधन करने का हो जाता है, ऐसी अपार तो **इस जीव** की लाचारी है, इसलिए उस बेचारे को क्षमा देनाजी । मात्र आप सभी को इतनी विनती है कि जैसे तैसे करके जागो, सोचो, उठो, बैठे हो जाओ और कमर कसकर लिए हुए मार्ग में कूद पड़ो । प्रभु कृपालु है, दयालु है, प्रभु करुणासागर है । वह हमारा कुछ भी बाकी नहीं रखनेवाला है । पहले तो हम उसके सभी तरह से और सभी भाव से संपूर्ण हो जाना करो और फिर देखो कि उससे हमारा सब सँभालने का हुआ करता है कि नहीं ? यह

तो हमें कहीं कुछ करना कराना नहीं है और फिर दोष की टोकरी उसके सिर उड़ेलना करना करें, यह कहाँ का न्याय है ?

स्वजनों को प्रार्थना

संसारव्यवहारवर्तन में तो हमें जिसके साथ जो काम पड़ा होता है, उस काम की रीति से उसके साथ भावना में रहा करते हैं और उसके साथ मिलकर वह काम पार उतारने का किया करते हैं, परन्तु हमारे साथ तो वैसा भी वैसी रीति से, वैसा भाव से कोई स्वजन पूरा बरतते नहीं । प्रभु सभी को सद्‌बुद्धि प्रकट करें ! हमारे हृदय के अंतर की गुबार को उनके दिल में आग की तरह प्रकट करो ! और वे सब अपने जीवनविकास की भावना के संदर्भ में प्रमाणिक, वफादार, नेकदिल हुआ करे, यही उनको उनको हृदय की प्रार्थना है ।

वह सब कुछ सँभाल लेता है

मेरा तो जो भी सब आधार उस प्रिय के पर है । उसने ही **इस जीव** का जो भी सब सँभाला हुआ है । जीवन में कितनी ही अनेक प्रकार की मुश्किलें आई हुई, उस समय तो दिल का कोई स्वजन ऐसा न था कि जो अपनेआप उमंग से **इस जीव** की मदद में आ सके । उस समय पर भी श्रीप्रभु ने उसकी परम कृपा से **इस जीव** की प्रेमसँभाल रखी हुई है, ऐसे कोई भूले-भटके, मात्र एक दो उदाहरण नहीं हैं, पर उसकी तो परंपरा है । उस कारण से उस पर जिसमें और उसमें हृदय से हृदय में आत्मविश्वास और निष्ठा पक्के संपूर्ण प्रकट हो गये हुए थे ।

उनके ही हो जाओ

इसलिए कहता हूँ कि 'तुम्हारा कुछ भी अटकनेवाला नहीं है । जो भी करना होगा या होना होगा, वह वह सब उसकी कृपा से हुआ करेगा, बना करेगा ! यदि हम प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक उसके संपूर्ण सच्चे हो गये होंगे तो ।' इसलिए जैसे तैसे करके हम अब उसके ही हो जाने में सर्व प्रकार का ज्ञानभान प्रकट कर करके उसे ही सकल महत्त्व दिया करके, उसे ही सोचा करके, हमारा व्यवहार उसकी भावना की उत्कटता के अनुसार प्रकट किया करें तो वैसा जीने में अब सार है ।

धन की तरह साधन का उपयोग करो

जैसे प्रभुकृपा से धनरूपी साधन जो मिला हुआ होता है, वह भी जैसे हमारे अपने ही उपयोग के लिए होता है ऐसा हम मानते हैं, चाहते हैं, समझते हैं और उसी अनुसार उसका उस उस काल की समझ अनुसार व्यय करते होते हैं, वैसे हमें प्राप्त हुए साधन भी उपयोग के लिए हैं । उसका योग्य उपयोग किया करें तो अपनेआप शक्ति बढ़ती ही है ।

संसारी काम की तरह इसके अभ्यास की शक्ति

संसारव्यवहारवर्तन के क्षेत्र में, जो काम सिर पर लिया और उस काम का जैसे जैसे अभ्यास करनेपन से उस काम की समझ पड़ा करती रहती है, वैसे **इस** मार्ग में भी वैसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के अभ्यास से उस क्षेत्र की समझ भी प्रकट

होने लगती है, और उस क्षेत्र की अति उत्कट समझ प्रकट होने पर उसके साथ साथ उस प्रकार की शक्ति भी प्रकट होती है । उस ज्ञान को किन किन प्रसंगों और किस किस **जीव** के साथ, उसे कैसे कैसे उपयोग करना उसकी सूझ-बूझ हमें अपनेआप हुआ करती होती है । ऐसी समझ व्यवहार में प्रेरित करने को उस प्रकार की शक्ति भी मौजूद रहा हुआ करती होती है । उस उस समय इस प्रकार की जागृति भी अपनेआप हमें प्रकट हुआ करती है, वैसे उस **जीवात्मा** में भी उसके क्षेत्र का वैसा हुआ करता होता है इसमें कोई भी आश्चर्य जैसा नहीं है ।

इसलिए अब तो जीवित हो जाओ

यदि समझने का करें तो समझ आ सके वैसा होता है । इसलिए, हमने जो मार्ग लिया है, उसमें मात्र मुड़ने का किया करें और दूसरे सब ऐसे संदर्भ में जो लक्ष दिया करना होता है, उसके उसके वैसे दिये जाते लक्ष में भी प्रधानतः तो हमारे प्रभु का मननचिंतन जीवित रखा करें तो हमें जीवित होने में थोड़ी भी देर न लगे । इसलिए अब तो कृपा करके जीवित हो जाओ ।

समता स्थापित करने का साधन

किसी एक ने **इस जीव** को पूछा था, 'समता स्थापित करने का उत्तम साधन क्या है ? **जीव** से जो आचरण हो सके वैसा वह होना चाहिए ।' **जीव** को समता प्राप्त करने के लिए

अथवा तो सिद्ध करने के लिए अहंता और कामनाओं आदि का जानबूझकर, चेत चेतकर के ज्ञानपूर्वक त्याग करने के लिए मन, प्राण और बुद्धि से अति तंदेह रहा करना है। ऐसा त्याग करने के लिए अत्यधिक जीवित महत्त्व अपने संसारव्यवहारवर्तन और होते रहते सकल कर्म में **जीव** को प्रकट करना रहता है। सर्व प्रकार के होते रहते कर्म के फल की कामनाओं का और कर्तृत्वबुद्धि का यदि समझपूर्वक अपने आप समूल त्याग होता रहे, तो तो समता अपनेआप आधार के करणों में स्थापित होती अनुभव कर सकते हैं। ऐसी समता स्थापित होते ही श्रीप्रभु की चेतना हमारे आधार में उचित स्थान पर प्रकट होगी और वह स्वयं ही कार्य करना आरंभ कर देगी। ऐसी यह तो अनुभव की निश्चित हकीकत है। साधना की ऐसी कक्षा प्रकट होते जीवन में 'अनारंभ की स्थिति' प्रकट होती जाती है। ऐसी दशा में रागद्वेष इत्यादि को बिलकुल स्थान नहीं होता है।

समता की दशा में

हम तब सर्व प्रकार का आराम और निश्चिंतता अनुभव करते होते हैं। जो जो कुछ आया, वह सब उसको ही सौंपते रहा करते हैं। **हम तो सभी तरह और सभी भाव से *जीव* के सभी रूप में नग्न ही रहा करते होते हैं। यहाँ नग्न का अर्थ समझने जैसा है*। यहाँ इसका अर्थ जुगुप्सा पैदा करे**

---

*द्वन्द्वादि से मुक्त

ऐसा नहीं है अथवा अश्लीलरूप में भी उपयोग नहीं हुआ है । जिस भाव को समझाने के लिए जैसे जो शब्द की योग्यता हो वैसे वह बनता है ।

समझ को उपयोग में लाओ

अनुभव से जो समझ में प्रकट हुआ है, इससे हमें उनकी कृपा से जिस तिस के उपाय तो बताने आते हैं और उपाय तो अनेक बतलाये हैं, पर उसका वर्तमान में, प्राणवान यदि ज्ञानभाव से उपयोग किया करें, तो ही वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं । जो भी कुछ उपयोग के अर्थ ही होता है । इसलिए उपयोग के अर्थ ही जीना है, यह जानना और इस तरह से और इस भाव से जीवन में सही उपयोगी तुम होते रहना ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ९-४-१९५३

*जीव*स्वभाव का प्रचंड सामना

जीव की प्रकृति को **जीव**स्वभाव की वृत्ति, विचार, भाव आदि आदि उठें या उगें, उस समय हमारी कितनी अधिक उत्कटता उसके सामने सामना करने—युद्ध करने—जागनी चाहिए, उसका हमारे में से किस **जीव** को सच्चा ज्ञान प्रकट हुआ है ? **इस जीव** ने उसके साधना के काल में ऐसा ऐसा नकारात्मक भाव जागते कितना अधिक और कैसा कैसा प्रचंड भयानक सामना किया है, उसका वह इतिहास है । किसी समय प्रभु लिखवायेंगे तो जरूर दिल है ।

आज की दशा

आज आप लोग **इस जीव** को कहीं कुछ नहीं करता अनुभव करते हो पर वह जैसा दिखता है वैसा वह नहीं है। उसके अंतर में तो जो चलता है, वह चलता है। उसके अंतर का चरखा तो चला ही करता है। ऐसा होना जो प्रभुकृपा से हुआ है, वह कैसे, किस तरह से हुआ है, उसे किस तरह से चित्रित करके बतलाऊँ ?

श्रीविवेकानंद का उदाहरण

पर यह लिखते समय पर श्रीविवेकानंद की इस बात का उदाहरण उस समय सदा मेरी नजर के सामने रखने का श्रीगुरुमहाराज ने मुझे हुक्म किया था। इससे उसे उस समय मनहृदय में जाग्रत करता था। उस उदाहरण से चेत जाने को उसकी कृपा से प्रयत्न करता था। वैसा वैसा उस उस समय अलग अलग रीति से यज्ञभाव से सहन करना भी किया था। यह सारी हकीकत तो फिर किसी समय लिखने का उसकी कृपा से हो सके तब की बात है। श्रीविवेकानंद की हकीकत लिखकर सब स्वजनों को यदि चेताने का हो सके, तो वह भी प्रभुभक्ति ही है। एक बार श्रीविवेकानंद को (उनकी साधना अवधि में) कामवासना प्रकट हुई। स्वयं बहुत बहुत प्रयत्न किया करे, पर वह न रुकी तो ना ही रुकी। प्रभु को प्रार्थना भी हृदय से कर चुके थे। अंत में कहीं किसी से सफल न हो सके, इसलिए अपनी इच्छाशक्ति (Will Power

से) उसे आंतरिक रूप से रोकी तो सही, पर शरीर उसके वश नहीं हुआ । इससे तो अधिक चमके और स्वयं इतना भी नहीं कर सकते, इसे जानकर उनको जो लगा, इसका वर्णन शब्द में नहीं हो सकता, परन्तु उसे टालने के लिए उनका अखंड उत्साह और अदम्य उसके प्रति जागृति कितनी अधिक प्रचंड थी ! उनसे शरीर की वैसी विह्वलता देखी नहीं गयी । अपनेआपको प्रत्यक्ष पदार्थपाठ देने को प्रभुकृपा से समझपूर्वक प्रेरित हुए, और स्वयं उकड़ू होकर जलते हुए चूले पर बैठ गये । इतना तो जले कि चार महिनों तक उन्हें चारपाई में ही रहना पड़ा !

उसमें से लेने का पाठ

यह तो हठ का एक प्रकार है । हम ऐसा करने जाये और मानो कि वैसा शायद कर भी सकें, तब भी हमें उसमें से योग्य प्रकार का लाभ नहीं मिल सके, यह जाननाजी । क्योंकि इसके पीछे का अखंड जागृतिपूर्वक का परवापना, और इससे उसका ऐसा उत्कट चेतनारूप कहीं कुछ **जीव** प्रकार का प्रकट होते ही उस तरह खींच जाना न हो ऐसे ऐसे प्रकार के उनके जैसे जीतेजागतेपन में जहाँ तक हम उनके जितना उत्कट प्रमाण में जीवित न हुए हों, वहाँ तक हमें वैसे मिथ्या दौड़धूप में नहीं पड़ना चाहिए । यह उदाहरण तो इसलिए उद्धृत किया है कि हमें ऐसी बातों में कैसी जागृति होनी चाहिए यह समझ में आये ।

उत्तम सद्‌गुरु भी शिष्यों का जो भी सब स्वयं नहीं करते

किसी भी स्थान पर, किसी आश्रम में या कोई महान हो या गिनाता हो ऐसे महान सद्‌गुरु को स्वयं जीवन के सद्‌गुरु माने हुए हो, वैसे **जीव** भी यदि जीवन की साधना में एकसमान नहीं पड़े होंगे, तो अपनेआप उनका जो भी सब हुआ करना है ऐसी हकीकत भी अज्ञानजनक और भ्रमणात्मक है । उनके सद्‌गुरु उनका सभी किया ही करेंगे ऐसी समझ बिलकुल गलत है । यदि वैसे **जीव** अपने सद्‌गुरु की भावना की धारणा अपने आधार के सभी करणों में अखंडरूप में प्राणवान रख सकने का ज्ञानभक्तिपूर्वक कर सकते हों, उन उनके वे वे सद्‌गुरु को आधार के सब करणों के प्राकृतिक धर्म त्याग त्याग करके प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक सर्व रीति से और सर्व भाव से शरण में रहा करने का हुआ करे, तो तो उनका जीवनविकास अपनेआप हुआ करे, वह सत्य हकीकत है । पर गुरु ही उन उनका सर्वस्व जो भी सब कर देंगे ऐसा कोई भी आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त हुए **जीवात्मा** कहते नहीं हैं । श्रीअरविन्द ने भी वैसा कहा नहीं है, यह ठोस हकीकत है । मैंने तो उनका कुछ पढ़ा नहीं है, पर भाई ने मुझे उनका वैसा वैसा पढ़कर सुनाया है ।

साधकों के पास से अपेक्षा

उनके आश्रम में सब साधक क्या और कैसा करते होंगे यह जानकारी नहीं है । हमें वह जानने की आवश्यकता नहीं

है । ऐसा मन भी कभी हुआ नहीं है । भाई और हेमन्तभाई अमुक बार वहाँ गये थे, वहाँ हमारी साधना की रीति तथा उसकी समझ का प्रकार एवं वहाँ के जीवन की साधना की रीति और समझ इन दोनों में क्या अंतर हो सके है, आदि विषय में जानना मिल सके तो वह जानकर ले आना ऐसा उनको अवश्य कहा था सही ! सद्‌गुरु में प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक हमारे सकल दैनिक होते रहते कर्मों में हम जीतेजागते रमे रहते होने चाहिए । स्वयं को प्राप्त हुए कर्म को उत्तम से उत्तम ढंग से कर करके, उसके द्वारा उसको प्रसन्न करने का और यज्ञभाव से समर्पण किया करके स्वयं कृतकृत्य होकर उस पर वारीवारी जाकर उसमें सतत पलपल जागृतिपूर्वक जीया करने का यज्ञ तो अखंडरूप से हम में ज्ञानपूर्वक जीवित रहा करता होना ही चाहिए ।

हमें तो साधना में ही मस्त रहना है

इस जीव से प्रभुकृपा से और सद्‌गुरु के आशीर्वाद से वैसा किया करने का होता था । **श्रीभगवान के भाव में सही रीति से संपूर्ण जीया करेंगे, तभी *जीव*प्रकार से मरा (समर्पण) करना होता है यह जानना ।** ***श्रीअरविन्द भी ऐसा कहते हैं*** कि 'हृदय के उत्कट भाव से साधना किये बिना चेतन का अनुभव कभी नहीं हो सकेगा ।' इसलिए हमें तो उसे किया करने में अलमस्त रहा करके अधिक से अधिक उल्लास, उमंग हमें प्राप्त कर्मों में प्रकट कर करके, ऐसे उसके

ही लिए जीना है । अब हमें कोई संसार के लिए अथवा तो संसार के संगेसंबंधी के लिए जीना नहीं है । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि हमें उन्हें त्याग करके भाग जाना है । संसार में संसारी दृष्टि हमें रखनी नहीं है । तभी हम संसार की चक्रमाला से ऊपर उठकर आ सकेंगे । इसलिए हमें तो अपने मनादिकरणों को उसमें ही जीवित व्याप्त रहा करें, इसलिए जीना है और उसके लिए मरना है । प्रभु की कृपामदद बारबार प्रार्थनाभाव से माँगा ही करें ।

• • •

कुंभकोणम्　　हरिःॐ　　ता. १०-४-१९५३

आज्ञापालन में सर्वसमर्पण का उदाहरण

***इस जीव* ने सद्‌गुरु के वचन को कभी मिथ्या नहीं होने दिया है ।** नडियाद में श्रीबालयोगी (मेरी जानकारी में एक महात्मा) **इस जीव** को **इस** मार्ग में प्रवेश करवाने के कारण पधारे थे । उन्होंने उसे कहा कि 'मैं तो धूनीवाले दादा की आज्ञा से इस तरफ आया हूँ । तुम्हारे गुरु तो वे हैं । तो तुम अब उनके पास जाकर उनके आशीर्वाद ले आओ । ऐसी तैयारी करके जा ।' 'ऐसी तैयारी' के अर्थ में उस समय का **यह जीव** क्या समझे ? उसने तो मंत्री को सात-आठ दिन की छुट्टी की अरजी कर दी थी, और जाने आने के रेल किराये की सुविधा कर ली थी । उसने तो उनको वह हकीकत बतलायी । तब वे बहुत ही नाराज हुए थे और कहा कि

'इसका नाम तैयारी नहीं है । वे तुम्हें वहाँ ही रहने का हुक्म कर दे तो ? इसलिए तुम्हें इसप्रकार की तैयारी करनी चाहिए । मन से भी ऐसी तैयारी कर । उत्साह के साथ वैसी तैयारी भजा कर ।' अब इतना समय तो था नहीं । उसकी माँ तो थी वडोदरा में । 'मनने' में ही 'माँ' को संबोधन किया था ऐसी एक माँ, **उस जीव** की सही माँ प्रभुकृपा से हुई थी । उनके द्वारा उस **जीव** में सच्चे प्राण प्रकट हुए थे । इसलिए वह वडोदरा गया । उसकी माँ को उस माँ द्वारा जैसे तैसे करके समझाकर आशीर्वाद लिये और नडियाद आकर श्री परीक्षितलाल को नवसारी तार करके अचानक वहाँ बुलाया । उन्हें सारा चार्ज सौंप दिया । ऐसा पागलपन न करने को उन्होंने तो बहुत कहा । माँ, विधवा भाभी, उनके बच्चे, दो छोटे भाई – इन सभी को बिलकुल बेसहारा छोड़कर जाने का । उनका आर्थिक रूप से पोषण हो सके इतनी पूँजी भी कुछ ही नहीं थी । ऐसे संयोग में अचानक इसप्रकार की तैयारी करने की, और वह भी उत्साह के साथ, उसे उस काल के **इस जीव** के लिए अत्यधिक दुर्घट था, पर जो करना ही है, वह तो करने से ही छुटकारा है, उसमें कमोबेश अंतर नहीं हो सकता है, वैसा आचरण करना हमारा धर्म होगा, वैसा भाव श्रीप्रभुकृपा से चेता चेता करके वह **जीव** तो तब प्रयत्न ही करता था । उसके बाद तो वह **जीव** सांईखेडा गाँव जहाँ श्रीदादा स्वयं बिराजित थे, वहाँ गया । वहाँ का इतिहास फिर

अलग है । उसे लिखने के लिए यह पत्र नहीं हो सकता है । उन्होंने तो कृपा करके जहाँ होऊँ वहीं रहने का हुक्म किया था । नडियाद वापिस लौटा । श्री परीक्षितभाई ने प्रेमभाव से वहाँ फिर से वापिस काम करने की मंजूरी दी और वापिस काम में लग गया । श्रीसद्‌गुरु के वचन के पालन में वचनपालन के हेतु का ज्ञानभान प्रकट रूप से जीवित रहना चाहिए, तो ही उनके वैसे वचन के पालन की यथार्थता हो तो हो ।

अपने कार्यसाथी और बुजुर्ग का सद्‌भाव

पहले उस संस्था के जो सभासद होते थे, उनको तीन तीन वर्ष का व्रत लेना होता था । उसमें ऐसा था कि उन्हें हरिजनों का सतत मननचिंतन कर करके, उनकी उत्तम से उत्तम ढंग से सेवा किया करने की खोज में और उसके अमलवर्तन में जिया करना, परन्तु उसके गुरुमहाराज ने सूचित किया कि 'तुम्हें ऐसे सब सभासदपन से मुक्त हो जाना, परन्तु काम तो उस क्षेत्र में करना सही ।' इससे उसने तो तुरन्त ही सभासद के रूप में और व्यवस्थापक सभा के सभ्यरूप में ऐसे दोनों का त्यागपत्र भेज दिया । उसे सभासद के रूप में रहने को बहुत समझाया गया था, पर उसने तो मना ही किया । उस समय उपरोक्त कारण बतलाया नहीं था । उसका सद्‌भाव संस्था के काम करनेवाले सभी पर रहा करता था, और अब भी मानता हूँ कि उसके कामकाज से सभी को संतोष भी बहुत रहता होगा । संस्था की सभा नडियाद में उसके घर पर

ही रखी जाती थी । मंत्रीश्री का उसके संदर्भ में प्रेमभाव तो सही ही । इसके बिना ऐसा होना कभी संभव नहीं हो सके । पूज्य श्री ठक्करबापा स्वयं नडियाद पधारते तो उसके छोटे दो कमरेवाले घर में ठहरते बाकी उनको नडियाद में अत्यधिक प्रेमभाव से अपने वहाँ ठहरानेवाले दूसरे बड़े गिने जाते ऐसे अनेक सद्‌गृहस्थ थे । बापा की ऐसी खूबी थी । उन्होंने उसे 'कर्मगाथा' में प्रेमभाव से जो अंजलि दी है, वह तुमने पढ़ी ही होगी । ऐसे **जीव** का सद्‌भाव प्राप्त करना हो सका है, वह श्रीप्रभु की परम कृपा की हकीकत है । यह हकीकत लिखने का कारण तो यह है कि जहाँ हम काम करते हों, उस कर्म के क्षेत्र में जो जो **जीव** हैं, उन उनके साथ का हमारा हृदय का सद्‌भाव और उन उनका हमारे पर का सद्‌भाव जीवन में यदि प्रकटरूप से जीवित हो गया होगा, तो हमें अत्यधिक सरलता प्राप्त हुआ करती है ।

गुरुआज्ञापालन

श्रीसद्‌गुरु के वचन का पालन करने में हमें बहुत विवेक बनाये रखना पड़ता है । उनके वैसे वचन के पालन में ऐसे पालन का ज्ञानपूर्वक का हेतु उसका अमल करते समय संपूर्ण जीताजागता रहना चाहिए । उसके साथ उस पालन के हार्द में हमारी प्रेमभक्ति हृदय के उत्साह के साथ जीवित होनी चाहिए । फिर, उसके साथ साथ उसमें, प्राप्त प्रयोजन के साथ का सद्‌भाव भी इतना ही जीवित रहा करना

चाहिए । ऐसे वचन के पालन की दशा में हमें उस पालन के वर्तनकाल में किसी के भी संदर्भ में कहीं कुछ भी अन्यथाभाव न प्रकट हो, किसी के भी संदर्भ में अवगणना या अन्य नकारात्मक वृत्ति न जन्मे, उसकी तो लाख लाखगुनी जीवित सँभाल-देखभाल हमें रखा करनी होती है । यदि ऐसा नहीं हुआ तो यज्ञ का भंग हुआ है ऐसा समझना । फिर, वचनपालन की यथार्थता का प्राणवान ज्ञानपूर्वक का भाव हृदय में हमें जाग गया होना चाहिए । उस वचन के पालन के समय यदि उसके बारे में शंका जागे तब भी उसका यथार्थ परिणाम नहीं आ सकता है । उनके वचन के पालन में हमारा आंतरिक भाव समाधानपूर्वक का हो पर्याप्त नहीं है, परन्तु वह वचन हमारे जीवन के कल्याण के लिए ही है, ऐसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की हृदय की निष्ठा प्रकट हो गयी हो, तो ही वैसे वचन के पालन से जीवन को विशेष लाभ होने की सँभावना पूरी तरह से प्राप्त होती है यह जानना ।

स्वानुभव की बात

यह तो **इस जीव** ने उसकी कृपा से जैसा किया है, वैसा तुम्हें लिखा है । ऐसा लिखनेपन से कोई एक **जीव** तो फिर ऐसा भी अर्थ निकाले तो आश्चर्य नहीं कि 'लेखक ने अपना वचन सभी उनको मानते **जीव** पालन करना किया करे इससे, अथवा अपना वचन पालन करवाने के हेतु से, उन्होंने ऐसा सब खूब सँवारा है ।' यह तो जिसको जैसा लगे वैसा

सही । मुझे तो तुम्हें जो कहने जैसा लगा, वह अंतर से और कृपा से कहा गया है, वह जानना । ऐसे तो किस स्वजन ने **इस जीव** के वचन का यथार्थरूप से पालन किया है ? तब भी **इस जीव** के हृदय का भाव उन उन सभी की ओर का, ताप के आगे मोम की तरह कुछ पिघल नहीं गया है ।

गुरुआज्ञापालन ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए

सद्‌गुरु के वचन के पालन में ज्ञानभक्तिपूर्वक का जीवनविकास के हेतु का ज्ञानभान तो जीवित रहना चाहिए । किस हेतु के कारण से उनका वह वचन है, यह तो हमें उसके योग्य प्रमाण में उग ही जाना चाहिए, तभी वैसा आज्ञापालन जीवनविकास के परिणाम में फलितार्थ हो सकता होता है । अनगढ़ तरीके से पालन किया हुआ वचन कहीं कोई परिणाम नहीं ला सकता है यह जानना । जो भी सब हेतु के लिए ही हुआ करे, उसमें हेतु का जीताजागता ज्ञानभान रहा करे ऐसी चेतनयुक्त जागृति साधक के हृदय में वर्षाऋतु में जैसे बिजली कड़ाके गरजा करते हैं वैसे गर्जा करनी चाहिए । जिसे जीवन में जीवन के हेतु का अर्थ, हेतु का रहस्य, हेतु का महत्त्व आदि सब समझ आ गया है, वह तो हेतु बिना के लक्ष में किस तरह से जी सकता है ?

गुरुभक्ति का अर्थ

सद्‌गुरु की भक्ति अर्थात् क्या वह भी साधक **जीव** को बहुत समझने की आवश्यकता है । **सद्‌गुरु के शरीर की**

सेवा करनी यह मात्र भक्ति है, ऐसा कभी नहीं जानना, परन्तु उसकी चेतनात्मक भावना की धारणा हमारे हृदय में पलपल जीवित रहा करे, उस धारणा से हमें जिसमें उसमें उच्च उठा करने का प्रत्यक्ष उस उस समय ज्ञान प्रकट हुआ करे, वे वे कर्म यज्ञभाव से हुआ करे, वे वे कर्म वापिस श्रीप्रभुचरणकमल में समर्पण हुआ करे और वैसे कर्म श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ हुआ करे - ऐसा ऐसा ज्ञान वे वे कर्म करते समय हम में प्राणवान रहा करे, वही सद्गुरु की सच्ची प्रेमभक्ति है । जिसके द्वारा हमारे जीवन का योग्य सच्चा निर्माण हुआ करे, वह सद्गुरु की प्रेमभक्ति है । जिससे हम जागृत चेतते रहा करें वह हमारी सद्गुरु की प्रेमभक्ति है । उसकी स्थूल सेवा में आजकल के लोग (और वह भी कहीं कोई हेतु के लक्ष बिना) जो करते हैं, उसमें उसका भी कल्याण नहीं है और अन्य का भी नहीं ।

सहजता से जीवनविकास का भान

जिससे जीवन का उठाव हुआ करे, वही साधक का जिसमें और उसमें ज्ञानपूर्वक का महत्त्व का कर्तव्य होना चाहिए, वही उसका माप-लक्षण जीवित रहा करना चाहिए । वह स्वयं अपने को जाँचता रहने में ही मात्र पड़ा न रहे, वह तो वापिस उसे जानना चाहिए । स्वयं उस बारे में सावधान रहा करना है, नहीं तो इससे चपेट में आ सकते हैं । ऐसा सब तो कर्म की साधनाजीवन की साधना-करते करते ही

अपनेआप सहजता से वैसा वैसा उनको समझ में आता अनुभव होगा । वैसा हुआ करे तभी वह यथार्थ गिनायेगा ।

संसारी *जीवों* को संसारी घटना के प्रति भाव

संसार में तो अनेक प्रकार की घटना हुआ ही करेंगी । हम उसमें उलझ पडेंगे तो खलास हो गया समझना । **हमें इससे संसारव्यवहार में रहना है वह जीने के लिए–नहीं कि अज्ञानमय जीवन में डूब मरने के लिए ।** संसार में संसारी **जीवों** को कहीं किसी का ज्ञानभान प्रकट हुआ नहीं होता है । वे तो प्रथा के अनुसार जो भी सभी किया करते हैं, इससे उनका दोष हमें देखना नहीं है । हमारे जैसे जीवनविकास के संदर्भ में दृष्टि, वृत्ति, भाव उनमें जागें हुए तो नहीं हैं । वैसा जीवन के संदर्भ में उनका हेतु भी नहीं होता है । इससे वे **जीव** संसार में फिर तो दूसरे किस तरह से आचरण कर सकेंगे ? इससे हमें उनकी अवगणना भी नहीं करनी अथवा ऐसा भी नहीं मानना हो, 'अरेरे ! ये बेचारे कैसे अज्ञान पामर हैं !' ऐसा सोचना वह हमारी ही पामरता और अज्ञान है । हमें तो मात्र हमें कैसे जीना है, उसकी अति सावधानी रखनी है । वैसा पलपल हेतु का ज्ञानभान रखते रहेंगे, तभी कुछ ऊपर उसकी कृपा से अवश्य आ सकते हैं, यह निश्चयपूर्वक की अनुभव की हकीकत है । इसलिए कृपा करके जीवन्त बनना ।

अमुक गुण

साधक के प्रयत्नों में उत्साह तो अत्यधिक आवश्यक है । ऐसा उत्साह, उमंग, हुलास, उल्लास आदि के बिना उसके

प्रयत्न में प्राण भी किस तरह से प्रकट हो सकते हैं ? फिर, ऐसी शक्ति तो प्रचंडता से जागती, गर्जती प्रकट हुई होनी चाहिए, और उसकी जागृति ऐसी होनी चाहिए कि कैसा भी और किसी भी प्रकार का अंतराय उसके बीच में आये, तब भी उसकी शक्ति की प्रचंड जागृति के बीच में वह टिकने में समर्थ भी न हो सके। अथवा मानो कि युद्ध देना पड़े तो पराक्रमी शूरवीर की तरह जीवन के सकल पुरुषार्थ से वहाँ वह संघर्ष करता है। वह कहीं किसी को गिनता नहीं। एकमात्र वह परवाह करता है जीवन की। जीवन को कुछ भय, जोखिम हो ऐसा वह कुछ नहीं करता। ऐसी तो उसकी खबरदारी जीवन में प्रकट हुई है।

व्याकुलता का महत्त्व

जीवन के ध्येय को पाने के लिए की व्याकुलता भी जैसी तैसी नहीं होनी चाहिए। जैसे तवे पर धानी फूटती है, उसके जैसी चटपटीयुक्त व्याकुलता ध्येय संदर्भ में प्रकट हुए बिना साधक कभी प्रगति नहीं कर सकेगा। व्याकुलता के भी अलग-अलग प्रकार हो सकते हैं। जिसमें ऐसी सहज व्याकुलता प्रकट हुई हो तो वह उत्तम है। इस कक्षा में प्रयत्न भी अपनेआप हमारे द्वारा बना करता हम अनुभव कर सकते हैं। जहाँ ऐसी सहज उत्कट व्याकुलता प्रकट हुई न हो, वहाँ साधक को कभी हाथ जोड़कर बैठे नहीं रहना है। फिर, ऐसी सहज प्रचंड व्याकुलता तो भाग्य से ही थोड़े विरल

वीर **जीव** में प्रकट हुई होती है । इसका प्रमाण तो बिलकुल थोड़ा होता है ।

न हो तो बुद्धि की उत्कट कल्पना से जगाओ

बाकी मेरे तुम्हारे जैसों को तो, जब जीवन को उच्च कक्षा में जीने का दिल हुआ हो, उस समय से बुद्धि का योग्य सहारा ले लेकर, मानवीजीवन के रहस्य, महत्ता, खूबी आदि आदि को सोच-सोचके, उसके सम्बन्ध की कल्पना, समझ, भावना आदि आदि प्रकट कर करके वैसी व्याकुलता प्रकट करनी होती है । ऐसी ऊपर ऊपर से प्रकट की हुई व्याकुलता यद्यपि अधिक काम दे तो नहीं सकती है, यद्यपि कुछ प्रेरित करने के लिए यह आवश्यक भी है । आदर्श संदर्भ में मानसिक दुःख, आतुरता, उत्कट भावना हमें लगे बिना हमारा काम होगा ही नहीं ।

आप्त स्वजनों को चेतावनी

इसलिए आग लगाओ ! आग लगाओ ! आग लगाया ही करो ! ऐसी **इस** हेतु से मिले स्वजनों को हृदय की प्रार्थना है । कहाँ तक पड़े रहा करोगे ? कहाँ तक भटका करोगे ? कहाँ तक उलझते रहा करोगे ? कहाँ हो, कैसा जीवन जीते हो, इसका कृपा करके दिल में ज्ञानभान जगाओ तो अच्छा । कहाँ जाना है और कहाँ जा रहे हैं, इसका ज्ञानभान हम में कितनों को जीवित है ? यदि जीवित हो तो वह कितनों को सालता और दंश देता होता है ? यह सब हमें अत्यधिक

सोचना है । क्या करने निकले हैं और क्या कर रहे हैं ! तो भला ! जाँचो तो सही ! इसलिए अब जैसे तैसे यदि जीया ही करना हो तो तो जीवनविकास का नाम छोड़ देना ही योग्य है । इसमें हमारी सविशेष प्रमाणिकता है । यह मोर्चा तो संग्राम का रचा है और हमें करना तो कहीं कुछ ही नहीं है, और उलटा पीछे हटने किया करना है, इतना ही नहीं, पर पड़े ही रहा करना है ! उलटा जो कुछ है उससे तो उलटी दिशा में कदम उठाने का हुआ करता है, तो सब कैसे चलेगा ?

लाख बार स्वजनों को टोक का कारण

श्रीप्रभुकृपा से **इस** हेतु के लिए मिले हुए स्वजन वह साधनाकाल के शुरू शुरू के समय का मन जैसे हैं । इससे वह मन को जैसे टोकता, प्रज्वलित करता, समेटता वैसे उनके संदर्भ में **इस जीव** को करना रहता है । साधक को मन, प्राण, बुद्धि आदि करणों को लाख बार टोकना पड़ता है । बारबार सतेज करने पड़ते हैं । बारबार मनन, चिंतनादि साधन से, साधना की भावना के अभ्यास से, जीवन का महत्त्व प्रकट कर करके, उसके हेतु का ख्याल जगाकर, उसे सतेज करने पड़ते हैं, तो ही वे **इस** मार्ग का यथार्थ काम दे सकते, हो सकते होते हैं । स्वजन के जीवन भी **जीव**प्रकार के मन के जैसे ही हैं । मन का जैसे कोई भरोसा होता नहीं, वैसे स्वजन के जीवन का भी तब क्या भरोसा है ?

उल्लास, उत्साह प्रारंभ में और बाद में

अमुक को ऐसे पूछते भी जाना है कि साधना में उल्लास, उत्साह, उमंग, उत्कटता आदि प्रकट होते हैं, इससे अहम् प्रकट नहीं होता होगा क्या ? पर भला ! अभिमान किसका होगा और कहाँ प्रकट होगा ? सकल जो कुछ हुआ करता है, ऐसा ज्ञानभान क्या साधक में नहीं है ? प्रारंभ में तो चेत चेतकर उसमें उत्साह, उल्लास, उमंग आदि को हम पुरुषार्थ में प्रेरित करते रहते हैं, और अमुक समय के बाद अमुक कक्षा में व्याप्त होते श्रीभगवान-प्रेरित उत्साह और प्रेरणा आदि को ज्ञानपूर्वक स्वीकार करते हम हो जाते हैं, ऐसा इस **जीव** का तो अनुभव है ।

मैंपन से सावधान रहो

प्रारंभ में तो साधक का जीवन **जीव**प्रकार की कक्षा का होने से उससे होते रहते सकल प्रकार के कर्म में ऐसा 'मैंपन' प्रकट रहा करता है, पर उसमें तो श्रीप्रभु की कृपा चेतनशक्ति से ही जो भी सब हुआ करता है, और मूल में तो इसकी ही शक्ति है, इसकी शक्ति से ही उसके मैंपन का स्फुरित होना होता है, ऐसा समझ समझकर उस समझ के प्रदेश में से इसकी आंतरिकता के प्रदेश में वह उतरता होता है, और बाद में तो कहीं किसी में भी 'मैंपन' प्रकट ही नहीं सकता, इस दशा में प्रकट होता जाता है । ऐसे चेतन में जागे **जीवात्मा** में फिर **जीव**प्रकार का 'मैपन' हो नहीं सकता ।

यह सब लिखने का कारण तो यह है कि हमें अभिमान, अहंकार, मैंपन से कितना अधिक सावधान रहा करना है ?

अहम् से मुक्ति के लिए कृपा और पुरुषार्थ

'हम बिलकुल अभिमानी नहीं हैं' ऐसा कहनेवाले में भी उसका अहम् काम करता होता है, ऐसी दशा **इस जीव** ने अनुभव की थी । इससे मुक्त होनेपन में **इस जीव** की युक्ति प्रयोजन सफल नहीं हो सकता था । उसने तो उसकी कृपामदद को बारबार, ऐसे अहम् का स्फुरण होते, ऐसे समय में पुकार पुकारकर ज्ञानपूर्वक **उसे** मदद में न्योता देकर **उस**की मदद लिया की थी । उसकी कृपा जो भी बात में समर्थ है, पर इसका अर्थ वापस ऐसा नहीं है कि हमें कुछ भी पुरुषार्थ करना नहीं है । पुरुषार्थ तो इतना प्रचंड किया करना है कि जिसकी न पूछो बात ।

जैसे अहम् सूक्ष्म होता जाता है, वैसे जाग्रति सूक्ष्म होती है

अपने आपका, मन का, प्राण का, बुद्धि का, अहम् आदि का तटस्थता से, समता से, शांति से, निर्दयता से, सूक्ष्म से सूक्ष्म पृथक्करण पूरी जागृति से जो साधक **जीव** किया करता रहता है, उसे अभिमान जागेगा तो क्या उसका पता नहीं चलेगा क्या ? आगे जाते अंहकार का प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम हुआ ही करेगा, पर उस समय साधक **जीव** भी प्रभुकृपा से साधना के सूक्ष्मरूप में आगे बढ़ ही गया हुआ

होगा न ? उसकी जागृति का प्रकार भी उस समय में उच्च कक्षा का हो गया होगा । इससे ऐसा साधक तो मनादिकरणों की सकल प्रवृत्ति में संमति देते देते तो लाख बार विचार करता होता है । उसकी उस समय की चेतनयुक्त तटस्थता, समता, शांति, जागृति आदि को कौन पहचान सके ऐसा है ? इसलिए खाली-खाली बुद्धि के तुक्के उठाने से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा । जिसे करना है उसे तो करने ही लग जाना है ।

पुरुषार्थ के हार्द में कृपाशक्ति

परम प्राप्ति के पुरुषार्थ की तुलना में जगत में दूसरा कोई भी पुरुषार्थ आ सके ऐसा नहीं है । ऐसे पुरुषार्थ के हार्द में उसकी कृपाशक्ति बसी हुई है, यह हकीकत फिर अलग है ।

हम सब जीवनसाथी

प्रभुकृपा से हमें तो गुरुरूप में पहचान बनानी ही नहीं है । ऐसा ऐसा तो शरीर में जैसे अनंत चीटियों की चक्रमाला चढ़ती हो और त्वचा को कैसा होगा, वैसा वैसा हमें ऊपर की हकीकत से तो लगा करता है । इससे हमें किसी को किसी के द्वारा उस तरह से पहचान करवाने की आवश्यकता नहीं होगी । हम तो सभी सहधर्मजीवनसंगी, जीवनसाथी हैं । सद्‌गुरु सम्बन्ध की कैसी भावना जीवन में प्रकट हुई हो तो वह जीवनविकास में योग्य जीवित सहायक हो सके, इसलिए ऐसा लिखना हुआ है । बाकी इसके सिवा दूसरा कोई हेतु नहीं है ।

सद्‌गुरु की अपनी सच्ची पहचान

सद्‌गुरु की सच्ची पहचान तो कभी बाह्य रूप से होती ही नहीं है । यह तो आगे बढ़ने पर अंतर में अंतर से हुआ करती होती है । ऐसा प्रकट हुआ अनुभव वही सच्चा अनुभव है । आरंभ में सद्‌गुरु संदर्भ की भावना **इस जीव** को प्रकट रूप से कभी कभी उफान की तरह दिल में प्रकट हुआ करती थी, पर अखंडरूप में नहीं रहा करती थी । कर्म में वह जीतीजागती ज्ञानपूर्वक तो टिकती ही नहीं थी, पर वह वह सब उस प्रकार के ज्ञानपूर्वक के जीवन के तनदिहीयुक्त अभ्यास से करके जीवन के दैनिक वर्तनव्यवहार में उसकी भावना, धारणा धीरे-धीरे, मंद-मंद टिकने पर जो अनुभव होने लगे, इससे आत्मविश्वास तो गर्जता वेग से प्रकट होने लगा । सद्‌गुरु हृदय से ही स्वीकार किये गये थे, क्योंकि जो किसी से भी माना न जा सके ऐसी अद्‌भुत घटना उनसे हमारे जीवन में बन गई थी ।

श्रीबालयोगी की चमत्कारिक शक्ति

अभी जहाँ एलिसब्रिज-पुल है, उससे टाउनहॉल तरफ की दिशा में जाते हुए पुल के प्रारंभ के भाग में ही दायी ओर साधुओं की एक छोटीसी जगह है । वहाँ बहुत वर्षों पहले एक बंगाली शरीर धारण करे मस्तराम साधु आये थे । उनको सब बालयोगी कहते । उन्होंने **इस जीव** को नडियाद से बुलाया था ।चार दिन की छुट्टी लेकर उनके पास गया था । उन चार

दिनों में उन्होंने इतना खिलाया कि न पूछो बात। खाया उसका वजन दस सेर तो होगा। कम से कम करके यह लिखा है, कि जिससे कोई इसे गप्प न मान सके। घण्टे घण्टे, अमुक बार आधे घण्टे में अलग अलग भोजन की अचरज भरी चीजों के थाल आया ही करें, और मुझे उसे खा जाने का हुक्म होता। गले तक आ गया हो और अब तो एक कौर भी खा सकें ऐसी दशा नहीं, ऐसा बिलकुल साफ लगने पर भी खा जाने का हुक्म होता, तब वह खा जाता था। ऐसा दिन में अनेक बार हुआ ! इससे शरीर को कहीं भी कुछ नुकसान नहीं हुआ था। दस्त भी सुबह में एक बार जो जाना होता था वैसा ही हुआ। यह एक सबसे बड़ी अनुभव की हकीकत हुई। इस हकीकत के अभी दूसरे एक **जीव** जीवित साक्षी भी है।

क्रमानुसार सद्गुरु का हृदय में अनुभव

इसलिए बुद्धि से जाँचकर ही सद्गुरु का स्वीकार किया था, और उनके संदर्भ में क्रमानुसार हृदय का प्रेमभक्तिभाव जागते जागते और उनका अनुभव होते होते उन्होंने जो सद्गुरु का परिचय करवाया, उनका गुरुत्व हृदय में शुद्ध से शुद्ध स्वरूप में किसी चेतन की लक्षणात्मक दशा में अनुभव होता गया था। ऐसे सद्गुरु की सेवाभावना सर्वस्व प्रेमभक्तिज्ञानभाव से समर्पण हो जाकर जीवित हो सके, ऐसे आंतरिक श्रद्धा-निष्ठा जीवन में बाद में तो प्रकट हो सके थे, वह ठोस ऐसी ऐसी कसौटिओं से पार होते होते अनुभव में प्रकट हुआ था।

मरजिया निर्धारण के साथ, दिये हुए काम को ही करता रहा

ऐसे तो पहले से ही मरजिया निर्धारण किया था कि हमारा अब एक ही जीवन का मुद्दा रहा है कि प्रभु को प्राप्त करना है, या तो जीवन को उनकी खातिर, उसके पीछे फना कर देना है । सद्‌गुरु के कृपा-आशीर्वाद से सब मिल सकता है, ऐसी भावना की वास्तविकता स्वीकार करने में तथ्य होने पर भी (वैसी वास्तविकता हमारे में इसप्रकार की प्रेमभक्ति-ज्ञानयुक्तग्रहणात्मक दशा प्रकट हुई हो तो ही उसमें वैसा तथ्य होने की संभावना है) उसे लगे रहने को कभी उसकी कृपा से अकारण नहीं किया - यानी कि बताये हुए मार्ग पर चल चल करके, उसके दिशा निर्देश को उसकी कृपा से कर करके, अब आगे कौन-सा मार्ग है, वह उसने समय आने पर कृपा से आगे बतलाने का किया करा है ।

कृपा पर आधार

अपनी तनदिही और उत्साह के पुरुषार्थ के साथ सद्‌गुरु के आशीर्वाद और उसकी कृपा आवश्यक है, यह सच्ची हकीकत है । इसकी मना नहीं है, परन्तु स्वयं कुछ भी किये कराये बिना उनकी कृपा पर यदि कोई आधार रखना करे, तो वैसी कृपा मिलनी संभव नहीं है । सर्व करणों का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का शरण मिलने पर साधना सहज-साधना की प्रक्रिया में बदल सकती है, वह अनुभव की हकीकत है ।

जब कि यह तो **जीव** को गुरु की जीवित चेतनयुक्त भावना की धारणा अपने दैनिक व्यवहार में ज्यों त्यों थोड़ी बहुत भी भाग्य से ही जीवित टिका करती होगी, और वह भी रोज की रोज तो नहीं ही, फिर, ऐसे **जीव** अपने गुरु का इधरउधर का बहुत सोचा करते हो, गुरु को अपने विचार से करके कितने घूँसे मारते हो, कितना ही अन्यथा रूप से सोचते हो, ऐसे **जीव** कृपा से जो भी सब होगा ऐसा माने वह खरगोश के सींग के समान असंभव है यह जानना । उससे भी पर और स्वतंत्ररूप से कृपा के प्रत्यक्ष अस्तित्व और वास्तविकता है । कृपा को किसी प्रकार की चौखठें या बंधन नहीं होते, या किसी प्रकार की शर्तों से वह बंधी हुई नहीं होती है, परन्तु इस हकीकत को आरंभ के साधक को जरा भी महत्त्व देना नहीं है । उसकी कृपा से अपने सत्प्रयत्न में ही अनंत प्रकार का जीताजागता झुकाव वह दिया करे, वह उसके लिए श्रेयस्कर है ।

सद्‌गुरु के प्रत्यक्ष दर्शन

फिर सद्‌गुरु साधना की ठोस अवस्था होने पर प्रत्यक्ष अपनेआप अनुभव में दिखे हुए थे यह जानना । यह हकीकत कल्पना के उड़ान की नहीं पर जीतेजागते अनुभव की है ।

प्रभु की मदद का प्रत्यक्ष अनुभव

ऐसे ऐसे तुम्हारे जीवन में बनते प्रसंगों में आशा–निराशा उतार–चढ़ाव, संग्राम और हारजीत, ग्लानि और शोक

की ऐसी जो अवधि-प्रकट होती है, उसका हूबहू वर्णन और हकीकत लिखती हो, उसे पढ़कर समीपता अनुभव करता हूँ। वह प्रसंग पढ़कर **इस जीव** की आँख में आँसू आ गये थे। **जो *जीव* स्वयं को प्राप्त कर्म को प्रभु का समझकर करता है, और उस तरह और उस भाव से उसका जो स्वीकार करता है, उसके कर्म में हमें उसकी मदद मिलती अनुभव होता है,** ऐसा तुम्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ यह तो अत्यधिक आनंद की हकीकत है।

अनुभवों से प्रभु का प्रेमभाव हृदय में प्रकट करो

तो अब ऐसे मिले हुए अनुभव से सकल कुछ मिलते कर्म वे हमारे प्रिय प्रभु की प्रसादी है, ऐसा ज्ञानपूर्वक उसे उस भाव से स्वीकार कर सकना यदि हृदय में प्रकट हुआ करे, और जब जब कोई नापसंद अनुचित करने का आ पड़े, उस समय पर भी उसे प्रभु का कर्म समझकर वैसे कर्म में उस कर्म के पहलू को न देखकर, उससे प्रभु का प्रेमभाव प्रकट करने का हम से हुआ करे, तो ऐसे हुए अनुभव से हमें प्रेरणात्मक समझ प्रकट हुआ करे सही। अनुभव से तो सच्ची समझ प्रकट हो। तुम्हें मिले अनुभव से यदि तुम्हें ऐसी सच्ची समझ न प्रकट हुई तो फिर मुझे क्या समझना ? **'किसी की टोक अर्थात् श्रीप्रभु की चेतावनी' ऐसा हृदय में दृढ़ कर करके उसे उस ढंग से और उस भाव से स्वीकार करना है।**

काम की थकान आनंद से उतरती है

अत्यधिक काम होने पर भी यदि दिल में भाव प्रकट हुआ हो, तो बहुत काम भी सरलता से पार उतर जाता है, बहुत काम होने पर भी काम का बोझ या चिंता तो होती ही नहीं है । काम अधिक होने पर शरीर को थकान तो लगती होती है, पर फिर आनंद यदि उमंग के साथ प्रकट हुआ होता है, तो वैसा हृदय का आनंद थकान का भी निवारण कर सकता है, ऐसा अनुभव अनेकों को हुआ है । नौकर के रूप में मैं कितना अधिक काम करता था ! उसका वर्णन बेकार में क्यों लिखूँ ? काम से जो **जीव** ऊब जाये, त्रसित हो, गुस्सा करे, संताप हो, हायतोबा करे, वैसा **जीव** क्या शऊर कर सकता है ?

छोटे छोटे अनुभव का भी स्वीकार करो

तप की भावना रख रखके यह हकीकत तुमने अमुक को बतलायी, और उसके बाद तुम्हें किसी ने अंतर से उनके साथ अधिक बोलने से रुक जाने का बतलाया, और तुम्हें वैसा स्पष्ट निश्चित लगा था, यह अवश्य मानने जैसी हकीकत है, क्योंकि उसमें सामनेवाले को पूरा तथ्यांश भी न पता लगा हो, आश्रम जाने के अनुभव की हकीकत यदि आगे खींचती हो, तो सामनेवाले पक्ष में उलटा उसकी यथार्थता में न भी स्वीकार हो । कुछ भी कारण हो पर ऐसे अनुभव हो तो प्रेम से स्वीकार करने हैं । उसे कल्पना के तुक्के न मानें । ऐसे

कुछ छोटे-छोटे अनुभव आरंभ में होते, यदि उसे हम मात्र तुक्का या कल्पना मानकर फेंक देने का करेंगे, उसे योग्य भाव में स्वीकार करने का यदि हम से न हो सका, तो फिर ऐसे अनुभव होने की संभावना या भूमिका हम में कभी प्रकट होनेवाली नहीं है यह निश्चित जानना । अंतर में तुम्हें किसी के बोलने की आवाज स्पष्ट सुनाई दी, यह हकीकत यदि सच्ची हो तो तुम्हें वह अनुभव अवश्य हुआ गिना जायेगा ।

नम्रतापूर्वक स्पष्ट कहना

कुटुंब के बुजुर्गों की सद्‌गुण बिना की, उनकी दूसरी कोई अन्यथा प्रकार की बातों में भूलचूक से भी कभी न मिश्रित होना । कुटुंब के दूसरे व्यक्ति वैसा करते हों, तो हम उन्हें खराब न लगे वैसे सचमुच कुछ काम हो, वह काम करने के निमित्त से वहाँ से उठ जाना । यदि वे मुँह पर हमें पूछे, 'हम जो बात करते हैं, वह तुम्हें अच्छी नहीं लगती क्या ?' तो हमें अवश्य कहना है, 'ऐसी नकारात्मक बातें कहने से और सुनने से हमें बिलकुल लाभ नहीं है । मुझे तो ऐसी बात करने और सुनने की मनाही करनेवाला हुक्म है ।' ऐसा मौका मिलने पर नम्रता से प्रेमभाव से कह देना ।

बड़ों के प्रति सद्‌भाव और आदरभाव

कुटुंब के बड़े भी हमारे जैसे ही हैं, वे भी **जीव** हैं । हम में भी अनेक प्रकार के दुर्गुण, बुरी आदतें भरी पड़ी होती हैं, वैसे उनमें भी होती हैं, परन्तु यदि कुटुंब में बड़ों

के संदर्भ में सद्‌भाव, आदर, प्रेमभाव आदि जीवित न रहे, तो फिर कुटुंब में परस्पर संताप, असंतोष, त्रास, अशांति, घर्षण, टकराहट, उलझन आदि ऐसा हुआ ही करेगा । आजकल हमारे कुटुंबों से बड़ों-पूज्य के सम्बन्ध में सद्‌भाव, आदर, प्रेमभाव, हमारे युवक भाईबहनों में से कम होता जाता अनुभव कर रहा हूँ । ऐसे समय में हमारे हृदय का उनके सम्बन्ध में सद्‌भाव विशेषरूप से जीवन्त हो उसमें हमारे जीवन की शोभा है । हमारे संदर्भ में उनके हृदय का भाव, सहानुभूति, ऊष्मा, सहारा सदा ही इससे ढलते ही रहेंगे । सद्‌भाव से सद्‌भाव मिलता है, और वैसी भावना में वृद्धि होती है । इससे कुटुंब का कोई भी व्यक्ति कुटुंब के बड़ों को कुछ भी अन्यथा रूप से बोले, उसमें जाने अनजाने हम से हाँ में हाँ न हो जानी चाहिए । इतना हमें करना चाहिए, न करें तो वह हमारी क्षति है ।

अंतर्यामी

'जो प्रसंग बनते हैं, उसकी योग्य समझ अंदर से मिलती रहती है ।' इसे पढ़कर किसको अच्छा नहीं लगेगा ? प्रसंग के अनुसार समझ तत्काल अंतर में प्रकट होती अनुभव हो यह तो सबसे बड़ी बात कहलायेगी । अब तुम अकेली हो, ऐसा कैसे गिना जा सकता है ? तुम्हारे साथ अंतर में कोई क्या बिराजित नहीं है ?

सद्‌गुरु को उपयोग में लिया ही करो

जो **जीव** अपने स्वीकार किये हुए सद्‌गुरु को हृदय के भाव से स्मरण करके अपने उपजे हुए अन्यथा प्रकार के वातावरण को बदलकर योग्य प्रकार का वातावरण पैदा करता है, ऐसा **जीव** अपनी वृत्तिओं को मर्यादा में रखने पर भी, उसके चेतना स्मरण की मदद ले लेकर वह अवश्य ज्ञानपूर्वक प्रयत्न कर सकता है । सद्‌गुरु को तो उपयोग में लिया ही करना हो ।

मन को समेटना और उत्तेजित करना

मन जब बाहर चला गया हो, तब उसे जागृति से समटेना पड़ता है । **समेटना अर्थात् जो बाहर फैल गया हो, विस्तरित होकर बँट गया हो, उसे एक ठिकाने पर एकत्र करना उसका नाम समेटना है ।** चूले में से लकड़ी जलते जलते बाहर ही जलती रहती है, उस समय उसे चूले के अंदर ही जला करे इसके लिए हम लकड़ी को अंदर घुसाते रहते हैं, उसी तरह से मन का है ।

कसौटी से लाभ देनेवाली दृष्टि

कसौटी में यदि **जीव** को थोड़ी भी ऊब लगे, त्रास हो, संताप हो या बलपूर्वक की वृत्ति जन्मी, तो वैसी कसौटी का परिणाम तो जीवन के अज्ञानमय मृत्यु में परिणत होगा । यदि कसौटी होने पर 'जीवननिर्माण का यह उत्तम मौका है, भावना को तेजस्वी बनाने का यह सुयोग्य प्रसंग है, प्रभु की कृपा

से जीवन की शक्ति को दृढ़ता में प्रकट कर जीवन का खमीर बतलाने का यह अमूल्य अवसर है और जीवन को पलटाने का सद्भाग्य से प्राप्त हुआ कर्म है' ऐसी ऐसी ज्ञानपूर्वक की भावना कसौटी होते समय ही **जीव** के दिल में जागती डंके की चोट पर प्रकट हुआ करती है, वैसे **जीव** के जीवन को वैसी कसौटी का समय फलदायी होता है । प्रभुकृपा से तुम्हें भी कसौटी का समय जब भी जन्म ले या प्रकट हो, तब ऐसी ज्ञानपूर्वक समझ प्रकट हुआ करे, ऐसी हृदय की प्रार्थना है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिःॐ　　　　ता. १०-४-१९५३

जीवनविकास की भावना की समझ को दृढ़ कर करके जीवन में प्राप्त प्रसंग और उसके हेतु को समझने के लिए प्रयत्न करना । जो भी सब स्वीकार कर करके जीना है, हमें अपने लिए तो दृढ़ अटलता से जीना है । नामस्मरण अखंडता से करती रहना । उस पर ही तुम्हारे जीवन का सच्चा आधार है । सद्गुरु की भावना की चेतनात्मकरूप से धारणा साधक के हृदय में जब जागा करती है, तब से उसके जीवन में कोई अनोखापन आता है ।

प्रारंभ में और बाद में भी, साधक को स्वयं होते रहते अनुभव किसी को भी कहने नहीं होते हैं । उस कारण से भी तुम्हें बोलने का बंद करने का स्पष्ट आवाज होता हो वैसा पूरा संभव हो ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　हरिःॐ　　　　　ता. ११-४-१९५३

मन की अनिच्छा

करणों की शुद्धि होते, चेतन का प्रकाश अपनेआप वे पकड़ते बन सकते होते हैं। किन्तु प्रत्येक अपनेअपने निर्धारित हुए चौखट से निकलने का मन से नहीं चाहता होता है, यही सबसे बड़ा दोष है ।

कसौटी में शऊर और प्रभुकृपा

'जीवनविकास' अर्थात् क्या इसकी ही सूझ-बूझ कुछ भी **इस जीव** को नहीं थी। वडोदरा कॉलेज छोड़कर गूजरात विद्यापीठ में जुड़ना हुआ था। पास में पैसे तो थे नहीं। घर से मिल सके ऐसी स्थिति ही नहीं थी। अब चलाये कैसे और खाये भी क्या ? 'नवजीवन' बेचकर पेट भरता था। रविवार को वह निकलता था। एक नकल पर एक पैसा मिलता। जितने बिकते उतने पैसे मिलते थे। इसलिए जितने बिके उसमें सात दिन चलाने का। कितनी बार तो एक ही वक्त का भोजन होता था। ऐसा करते करते एक 'ट्यूशन' प्रभुकृपा से मिल गया था। महीने के पैंतीस रुपए और वह उस समय में ! मेरे जैसे के लिए तो संतुष्ट हो इतना हो जाता ।

कसौटी अर्थात् ज्ञान मिलने और प्राप्त करने का मौका

यह हकीकत लिखने का कारण तो कैसी भी खराब दशा हो और कैसी भी कसौटी हुआ करे, किन्तु उसमें प्रभुकृपा से शऊर प्रकट करके जीने का खमीर यदि रखें, तो

उसके भी उपाय भी मिल ही जाते हैं । तंदेह, प्रयत्नवान और मचे हुए को प्रभु की कृपा प्राप्त होती रहती है । इसलिए कभी कैसी भी दशा में कायर न बनना, लाचार मत हो जाना । हमेशा प्रभु के परम कृपाबल से दृढ़ता अनुभव करनी और अपनी जो भी दशा में मस्त रहा करना । जीवन को उस पार ले जाना हो तो यह कोई जैसे तैसे उत्साह, तनदिही का काम नहीं है । यह कोई अनुभवहीन और नाहिंमत का काम नहीं है । कसौटी का समय ही मर्दानगी दिखाने का महाअमूल्य प्रसंग है । कसौटी तो प्रभुकृपाबल को न्योता देने के लिए जीवन के परम सद्भाग्य का सुयोग्य मौका है । ऐसे मौके को तो, श्रीप्रभु की परम प्रसादी रूप से अंतर के उमंग से स्वीकार कर लेने की उस उस पल में हमारी प्रेमभाव से तैयारी प्रकट हुई होनी चाहिए । कसौटी के काल में ही सही ज्ञान अनुभव करने की पल जागती होती है । इसलिए वैसे काल में तो प्रभुकृपा से सदा ही हृदय में जागा हुआ रहा जा सके उतना अति उत्तम ।

फकीरी—साधना की गुरुचाबी

'मन लागो मेरो यार फकीरी में' ऐसा एक भजन है । फकीरी अर्थात् मात्र गरीबी नहीं, फकीरी अर्थात् फनागीरी ही नहीं, फकीरी जिसमें मन-दिल लगा देने हैं, उसके बिना दूसरे किसी में वे लग ही न सके ऐसी दशा प्रकट हुई हो, इतना भी पर्याप्त नहीं है, पर इससे भी आगे फकीरी का भाव तो

जीवनविकास में प्रकट होता रहता है । 'फकीरी' वह तीन अक्षर के शब्द में जीवनविकास की साधना की भावना प्रकट करने के लिए ताला खोलने की चाबी रही हुई है । ऐसी फकीरी साधना के लिए जिसके जीवन में प्रकट हुई है, ऐसा **जीव** कुछ थोड़े ही मुँह फैला करके बैठा रहता है !

कसौटी की महिमा

कसौटी के समय में पुरुषार्थ कर करके साहस, हिंमत, धीरज आदि गुणों से प्रेरित होकर जो टिका रहने का करता है, ऐसा **जीव** कसौटी से घबराता नहीं है, दुविधा नहीं होती । कसौटी प्रकट होती है, हमें अपने जीवन के सच्चे खमीर की परीक्षा करने के लिए । हम सचमुच में कहाँ हैं ऐसा ज्ञान प्रकट करने के लिए यह तो प्रभु ने भेजी हुई कृपा का मौकारूपी परीक्षाकाल है । कसौटी में जो जागता और जीता रहा वह जी गया जानना । कसौटी में खड़े रहने का ज्ञानपूर्वक का सामर्थ्य जो प्रकट कर सका, कसौटी में जो **जीव** अकुलाये बिना शांति से कसौटी का हल, उपाय खोजा करे, ऐसे उपाय का सहारा ले लेकर आयी हुई कसौटी को लाँघ के पार जाने का सचमुच उत्साह से जो **जीव** लगा रहता है, वैसा **जीव** कैसे उलझ सकता है ? सचमुच में तो कसौटी का समय उलटा उसे चेताने करने और सतत जाग्रत रहने के लिए प्राप्त हुआ होता है । कसौटी में जो **जीव** आनंद की उत्कट मात्रा सँभाल सके वैसा **जीव** दुःख की अनंत चक्रमाला से भी बाद

में कोई भी हचकोला अनुभव कर सकनेवाला नहीं है । कसौटी तो जीवन को कसकर देखने के लिए है । कसौटी पर कसे बिना उसका नूर और कितने प्रतिशत का वह सोना है, यह जाना नहीं जा सकता है । जिस तिस सभी को कसौटी पर तो चढ़ना ही पड़ता है ।

खुदा का बंदा

जो इसमें से हँसते हँसते तैर कर पार करने को दिल में उत्साह-उल्लास, तनदिही, हिंमत, साहस, दृढ़ता, पक्का निश्चयबल आदि प्रकट कर करके, उसे नवाज नवाजकर स्वयं प्रसन्नचित्त रह सकता है, ऐसे **जीव** को प्रिय प्रभु बलिहारी होकर मिलते होते हैं, ऐसे **जीव** उन्हें अत्यधिक प्रिय लगते हैं । स्थूल प्रकार का पराक्रम तो अमुक **जीव** बतला सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म प्रकार का पराक्रम और वह भी आंतरिक सूक्ष्म वृत्तिओं के सामने और अहम् के सामने पराक्रम दिखलाने के लिए तो महा भगीरथ पराक्रम की आवश्यकता होती है । ऐसा सूक्ष्म पराक्रम भी साधना का भाव आते आते जीवन में प्रकट होता अनुभव हो सकता होता है । अभ्यास अभ्यास को बढ़ाता है, पर जो अभ्यास करता हो उसे ? यहाँ तो मरजिया का काम है । कसौटी में जो मरजिया बनता है, वही ईश्वर का सच्चा बंदा है । हमें तो उसके ही बंदे बनना है न ?

साधक की अग्निपरीक्षा का दृष्टांत

जीवन को मजबूत करने के लिए तो कठिन से कठिन भट्ठी की आवश्यकता है । इँट को पकाने, अनाज को पकाने

– ऐसे अलग–अलग प्रकार के पकाने के लिए अग्नि की गरमी का माप भी ज्यादाकम आवश्यक होता है । जीवन को जिस अग्नि की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन फिर क्या करें ? यह तो अनुभव से ही समझ आता है । जीवन के साधक को तो अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता है, यह सत्य बात है । 'नवजीवन' रविवार को बिक्री होता था, उस प्रसंग की चक्रमाला में एक बार ऐसा हुआ कि रविवार को मात्र पचास पैसे मिले । सात दिन चलाने का । उस समय कोचरब के ढाल के पास श्री डाह्याभाई इजतराम के बंगले में विद्यापीठ के वर्ग चलते थे, और **यह जीव** रहता था गुजरात कॉलेज के सामने चाल है उस चाल के सबसे पहले ही कमरे में । अब सात पैसे में एकेक दिन चलाने का ! विद्यापीठ में पढ़ता था तब स्वयं ही खाना बनाता था । उन दिनों के दौरान कभी कभी चनेममरे खाकर भी दिन गुजारे थे । शहर में सगेसंबंधी के घर तो थे । गया होता तो प्रेम से भोजन मिला होता, पर उसमें शोभा नहीं थी ।

धन्य है कसौटी में से तैरकर पार उतरनेवाले को !

कसौटी का तो हर्षपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए ! जो परिस्थिति मिली है उसमें रहकर उससे गढ़ाने का सद्‌भाग्य जीवन्त किया करें, तो जीवन के खमीर की तेजस्विता और शक्ति बढ़ती रहती है । ऐसी कठिन कसौटी कोई व्यर्थ में नहीं मिलती है । हमारे संयोग ही ऐसे हों तो दूसरा क्या होगा ?

वे तो कहते हैं, 'जो प्राप्त हो उससे जो **जीव** जीवननिर्माण किया करने का स्वीकार करता है, उसमें हृदय की उमंग जगाता है । वैसे **जीव** को कसौटी जीवन में कसौटीरूप लगती नहीं है । पर **जीव**रूपी सोना को शुद्ध करनेवाले जीवन के साधन रूप वह उसे लगती है ।' इसलिए कसौटी से दब न जाते उसके ऊपर तैरते रह सके इस तरह से कसौटी के समय जीना और इस तरह से जीने की कला से अंतर की शक्ति प्रत्यक्ष होती रहती है ।

'जैसे को तैसा मिले'

कसौटी में जो **जीव** दीप्त होता है, ऐसे **जीव** को धन्य है । ऐसे **जीव** को हमारे प्रेमभक्तिपूर्वक के साष्टांग दंडवत् प्रणाम हैं । हमारे सच्चे हृदय का प्राण तो वैसा **जीव** है । भले ही फिर वह हमारे प्रत्यक्ष जीवनसंपर्क में न आया हो उससे क्या ? कितने ही इस प्रकार की आत्मा के ओजसभरे पराक्रम से और उनकी वैसी तेजस्विता से हमारे हृदय में प्राण भर जाया करते हैं । तो फिर कोई **जीव** पूछेगा कि 'ऐसा **जीव** है कहाँ ? **जीव** को जिस प्रकार की अंतर में अंतर से भावना सचमुच की जीवन्त हुआ करे वैसे **जीव** को वैसे प्रकार के **जीव** के दर्शन–अनुभव हुआ करते हैं । उन्हें कहीं खोजने जाना नहीं पड़ता है ।

सद्‌गुरु की आतुरता

इसलिए कृपा करके कसौटी में तो सज्ज होकर मर्द स्वरूप में ही जीया करना हो । जगत में कसौटी किसकी नहीं

हुई है ? जिसकी कसौटी न हुई हो वह पक्का भी कैसे गिना जायेगा ? कसौटी तो अच्छेअच्छों की हुई होती है । उससे कौन बचा है ? कसौटी में तुम ऐसी तैरती तैरती जीवन में शोभित हुआ करो, ऐसे अनुभव का दृश्य देखने का सद्‌भाग्य **इस जीव** को तुम देना । ऐसी प्रार्थना है ।

अपनी मालिकी का कुछ भी नहीं

हम में जो जो कुछ शक्ति स्वरूप से है, उदाहरण के रूप में बुद्धि, पर वह क्या हमारी अपनी मालिकी की है सही ? उसे हम चाहते हैं उस तरह से चला सकते हैं सही ? विचार की शक्ति, बुद्धि की शक्ति, कर्मकौशल की शक्ति, समझ की शक्ति, कर्म की जानकारी - इस प्रकार के ऐसे सब हमारी समझ के मिज़ाज हमें तोड़ने ही रहना है । वह सभी कुछ हमारा नहीं है । वह तो सर्वव्यापक है । चेतन जहाँ तहाँ सभी जगह फैला हुआ पड़ा है । उस उसमें वह सब है ही । फिर, जो जो समझ हमारे पास आयी है, वह वह समझ हमें किसी के पास से मिली है । हम में वैसी भूमिका होने से, वह हम में उस तरह से स्थित होकर, फिर दूसरे में वह दूसरी तरह से स्थित हुई । वैसे एक की एक शक्ति, अनंत स्वरूप से अनेक में विभक्त हुई, व्यक्त हुआ की हुई है । 'यह सब कैसे हुआ और कहाँ से पैदा हुआ और इसका मूल क्या और वह किस पर अवलंबित है, उसका संबंध हमारे अकेले के साथ या सभी के साथ,' इस प्रकार

के 'आदि-अनादि' की पहली में उतरने से अच्छा उस काल में योग्य तरह से कैसे बरतना उस पर जो **जीव** विशेष ज्ञानभक्तिपूर्वक का महत्त्व देता है, वैसे **जीव** को जीवन की सच्ची जीवन्त कला प्रकट करने में प्रत्यक्ष लाभ मिला करता है । इससे उस **जीव** को जिसमें और उसमें उस उस प्रकार का अहम् समझ समझकर त्याग करते रहना है ।

यदि **जीव** ने कहीं कोई कुशलता का थोड़ा भी अभिमान रखा कि वह मृत ही पड़ा समझो । इसलिए अभिमान न होना इसका अर्थ वापस ऐसा तो नहीं ही है कि कर्म को कैसे भी करके यद्वातद्वा किया करना हो । कर्म को उसकी योग्य व्यवस्था में, उत्तम कला में, उत्तम कुशलता में, उत्तम भावना में - उसके प्रत्येक पहलू में हर प्रकार की उत्तमता से ही किया करना होता है । कर्म का कर्तापन, उसकी उत्तमता, उसका कौशल्य, उसकी शक्ति, उसकी कला - वह सभी **जीव** का बिलकुल नहीं है । वह सभी तो वातावरण के चेतन के विस्तारपन से प्रकट हुआ है । इसलिए वह सब किससे है और किसका है और किस तरह से है, उसे हमें सच्ची तरह से समझना है । फिर, जिसमें और उसमें उन्हीं का भाव ही प्रकट करने में सार है ।

अपनी ठगाई खोज निकालो

कहीं थोड़ा कुछ अच्छा हुआ कि अच्छी समझ आयी अथवा कहीं कुछ उत्तम ढंग से हुआ, कहीं कुछ उत्तम तरह

से अनुकूल हो सका, ऐसा संसारव्यवहार में होते ही मन कैसा फूल जाता है, क्या वह हमसे अनजान है ? हम अपनेआपको अनेक तरह से ठगते रहते हैं । वहाँ वहाँ वैसा हुआ करता है, वह खोज निकालकर उस उस समय चेत करके उसके पास हमें कानपट्टी भी पकड़वानी ही पड़ेगी, यह लक्ष में रखना है यह जानना ।

स्वयं को पहचानकर फिर मथो

'अनंत प्रकार के दोषों का भाजन हूँ', ऐसा प्रत्यक्ष **इस जीव** ने जान जानकर उसकी अधमता के दर्शन उसे करवाये थे । उसे वापस उसके योग्य स्वरूप में प्रकट करने के लिए, उसे योग्य भाव से निखारने के लिए, प्रार्थना का ज्ञानभक्तिपूर्वक का उपयोग भी उसकी कृपा से लिया किया था । इससे हम जैसे हों वैसे के वैसे यदि हमें दिखे तब भी हमें कुछ भी करना नहीं है या हम से कुछ हो सकनेवाला नहीं है, ऐसा मानकर यदि बैठे रहें तो जानना कि अब हम से कुछ होनेवाला नहीं है । हमें उसकी कृपा से मथना तो चाहिए ही । उसकी कृपामदद की प्रार्थना उस उस समय तो हृदय में किया करते होंगे ।

कृपा होने पर भी साधन की जरूरत

श्रीभगवान की कृपा सब बाबत में समर्थ है, यह सच्ची हकीकत है, पर बालक के चलने के लिए जैसा नैसर्गिक urge (प्रेरणात्मक धकेलता आवेशयुक्त एक प्रकार का आवेग)

प्रकट होता है, तब भी उसे चलवाने के लिए साधन की थोड़ी बहुत भी अपेक्षा रहती होती है। थोड़े बहुत कोई भी किसी साधन के अभ्यास बिना आधार में चैत्य पुरुष जग जाता है, ऐसा मानने में सार नहीं है। अभ्यास के बिना कहीं कुछ होना संभव नहीं है। जिस बात में जैसा अभ्यास उस बात की वैसी समझ आती है यह तो अनुभव की बात है। इससे जिसमें और उसमें अभ्यास बड़ी बात है।

हमारे तो हिस्से आया किया ही करो

हाँ ! कृपा की संभावना है, पर इससे संभावना अर्थात् सर्वसाधारणता या सर्वसामान्यता ऐसा मानने का कोई कारण नही है। जो करना है उसे करनेपन की भावना की धारणा हृदयस्थ जीवित रहा करती हो, वैसी आधारभूमिका से जो भी कुछ यदि हम से यथायोग्यरूप से हुआ करता हो, तो भी 'अंदरूनी' जरूर जाग जाना पूरा संभव रहा हुआ है। हमें तो संपूर्ण से संपूर्ण अहंमुक्त प्रभुकृपा से हो, उसके ऐसे भाव की धारणाशक्ति हृदयस्थ पाल-पोसकर जो भी सब किया करना है।

प्रार्थना का सजीव आधार

इस जीव को कौन सिखाने आया था ? वह ही आया था या कोई दूसरे ? स्थूल स्वरूप से तो सद्‌गुरु पास में थे ही नहीं, तब क्या उसे कहीं कुछ पीड़ा ही नहीं होगी ? जिसमें और उसमें प्रार्थना का सजीव आधार लेने का हमें सीखना है।

इस **जीव** की बचपन की आर्थिक दशा तो अत्यधिक गरीब । कालोल की अंग्रेजी स्कूल में पढ़ता हुआ, तब से हमारी उस शाला के मुख्य शिक्षक का संपर्क और संबंध के कारण कालोल के नागरवाडा में उसे जाना आना अधिक रहता था । वह गरीब होने से सब कोई दया करे और काम बतलाते । पहनने के लिए पुराने पर अच्छे, फट न गये हों वैसे ही कपड़े पहनने को देते, यद्यपि **इस जीव** ने वे पहने नहीं हैं, वैसे फिर नकारा भी नहीं है । प्रेमभाव से ले लेता और उन्हें उन्हें अच्छा लगे इससे थोड़ी देर पहनकर वह घर ले जाता, या तो कोई मुझ से भी अधिक गरीब हो और पहनने का न हो उसे दे देता, पर वह प्रेमभाव से, दया खाकर तो नहीं ही ।

गरीब की सेवा वह भगवान का कृपाप्रसंग

गरीब के संदर्भ के व्यवहार में हमें अत्यधिक हृदय का सद्भाव रखना है । **इस जीव** ने गरीबी में जीवन बिताया होने से गरीब के दिल का उसे पता है । उसकी भी आत्मा की बेल होती है । उसे भी फूलनेफालने की होंस और प्रेरणा होती है । उसे भी बढ़ने की सुविधा समाज को देनी चाहिए । उसे जानकर उसे ऊँचे लाने के लिए अपना ही अंग, सगा, बाल-बच्चा जानकर उसे ऊँचे लाने के लिए स्वयं स्वयं का हाथ देना ही चाहिए । इसलिए हमारे दैनिक जीवनव्यवहार में जब जब ऐसे प्रसंग मिलें, वह वह प्रसंग श्रीभगवान की भक्ति का

परम कृपाप्रसंग है, ऐसी चेतनपूर्वक की भावना तब हृदय में हृदय से दृढ़ कर करके (जिसकी भावना सहज हो गई हो, उसके लिए यह लेख नहीं है ।) स्वयं उसके संदर्भ में प्रेमभावना रखकर बरतने का करना । इससे, हमें कुटुंब में जो जो सब मिले हैं, उनके संदर्भ में भी सद्भाव रखने का अभ्यास पड़ेगा ।

नौकर के सम्बन्ध में मनुष्यता रखें

घर में नौकर के सम्बन्ध में मनुष्यता का प्रेमभक्तियुक्त बरताव हमारा होना चाहिए । **इस जीव** ने नौकर के रूप में काम किया हुआ है और वह भी सुबह से रात देर तक निरन्तर । भले ही अधिक समय तक उसके पास से काम लेने का हुआ करे पर यदि हमारे दिल का भाव उसके सम्बन्ध में सद्भावभरा और उसकी दशा के साथ सहानुभूतिवाला हो, उसे दो शब्द प्रेमभाव के थकेमाँदे को कहना बने, तो उसे वह कितना अधिक अच्छा लगता होता है ! **इस जीव** की ऐसे समय पर जो कोई कदर करता, तब ऐसे **जीव** पर **यह जीव** तो वारी वारी जाता था ।

अब गरीब की बारी आयेगी

गरीब का कोई रक्षक नहीं है । गरीब की अवगणना सब कर सकते हैं । हमें भूल से भी ऐसा नहीं करना है । गरीब की कोई 'दया' मत खाना । दया खानेवाले हम कौन ? वह किसी के पास दया नहीं माँगता, माँगता है न्याय । वह

दे सकते हो तो देना । तुम्हारी दया उसे उपयोगी नहीं है । आज समाज उसकी गर्दन पर चढ़कर बैठा है । आनेवाले कल में वह समाज की गर्दन पर चढ़कर बैठेगा । समाज उसे लूटलूटकर आज तक निभा तो आनेवाले कल में वह समाज को लूटकर निभेगा । ऐसा यह अनंतकाल का खेल है ।

गरीब-धनवान विषयक हमारी दृष्टि

इसमें हमें तो अपने जीवनविकास के भाव से जीना है । किसी की भी अवगणना न हो जाय, किसी का भी दुतकार नहीं कर सकते, वैसे ही किसी की दया खानी न हो, पर सहानुभूति रख सकते हैं । हृदय की भावना का योग्य आचरण हो तो उत्तम । गरीब को लूटते बनिये का व्यापार मैंने स्वयं देखा हुआ है, तथापि उस समय भी वैसे व्यापारी की अवगणना नहीं की ।

सेठ और धनवान की दृष्टि

गरीब से इधरउधर हो जाना किसी से सहन नहीं होता है । किसी से उसे प्रेमभाव से, समभाव से, योग्यभाव से देख सकना किसी से नहीं होता है । उस पर शिरजोरी करने उसके सिर पर सब कोई चढ़ बैठते हैं । जहाँ जहाँ देखता हूँ, वहाँ वहाँ मुझे वैसे वैसे दर्शन होते रहते हैं । उस समय हृदय से **इस जीव** की आत्मा अवश्य पुकार उठती है । उसका साथ तो होता है उस अन्याय होनेवाले के पक्ष में ही । गरीब की हाय जैसी तैसी नहीं होती है । हम उत्तम ढंग से सद्भाव से

बरतते हों, तब भी अमुक गरीब गलत ढंग से बरतते भी हो तो हम उसके साथ काम न करें । उसके साथ हमें रास न आये ऐसा समझकर उसे प्रेमभाव से मुक्त कर सके, किन्तु हो सके वहाँ तक उसके साथ संपूर्ण मनुष्यता से बरतें वह हमारे लिए उत्तम है । गरीब हुआ या नौकर हुआ यानी मानो बस ! उसमें मानो समझ न हो, अक्ल न हो, हम कैसी भी सुनाये उसे तैयार ही रहना चाहिए, सामने एक अक्षर भी उससे नहीं निकलना चाहिए, हम उसे कैसा भी कहें, वह सब उसे मौन होकर सुनना ही चाहिए, हमें रास आये उतनी शीघ्रता से और उस तरह ही उसे काम किया करना चाहिए, ऐसी समझ की धारणा नौकर के बारे में हम सभी की है । ऐसे **जीवों** के लिए तो अब नौकरों के भी काम करने के घण्टों का कानून बने तो अति उत्तम । प्रभुकृपा से ऐसा कानून बने, तो **यह जीव** विशेष खुश होगा । अमुक लोग तो, बहुत देर से भोजन करते हैं, देर से सोते हैं, और उसके बाद नौकर को सोना होता हैं और स्वयं जागे उससे पहले वापस उसे उठना होता है । यह तरीका अति अघटित है । मुझे प्रभुकृपा से ऐसा सहन करने का आया था, परन्तु वैसा सहन करना **इस जीव** को अखरा नहीं था । मैं तो मानो प्रभुकृपा से आनंद से उस समय रहता था और ऐसा सहन करने में तपस्या का भाव रखता था । बड़ों के गुण और जो जो **जीव** मिले हैं उनके गुणों की पूरी सच्ची तुम भक्त बनना ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　हरिः ॐ　　　　　ता. १२-४-१९५३

गुरुभक्ति एवं आज्ञापालन के लाभ

प्राप्त धन उपयोग के लिए ही होता है । उसे व्यर्थ उड़ाना नहीं होता है । यद्यपि अमुक **जीव** ऐसा करते रहते हैं, यह फिर अलग बात है । उस तरह सद्गुरु का साधन भी उपयोग के लिए है । उसका जो ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग करता है, वैसा **जीव** उसका योग्य लाभ उठा सकता होता है । जीवनविकास की साधना में भावना के उद्दीपन के बारे में सद्गुरु के प्रति हृदय से प्रकट हुई प्रेमभक्ति आवश्यक है । सद्गुरु की स्थूल सेवा करनी यह तो बिलकुल सरल है । उसे करने कराने की कला में भी अति अन्तर रहा हुआ है । ऐसी कला प्रत्येक में कोई होती भी नहीं है । **जीवनविकास के लिए यदि सचमुच लाभ लेना हो तो उसके वचन का यथायोग्यरूप से पालन करने का हेतुपूर्वक का ज्ञानयुक्त अभ्यास हृदय के उत्साह से हमें रखा करना है ।** हम जानते हैं कि उनके सम्बन्ध में हमारा मान, आदर, प्रेम, भक्ति आदि आदि हैं पर उससे करके हमारी जीवन की बाबत की भावना उच्चतर होती अनुभव हो सके तो ही उसके संदर्भ की हमारी वैसी वैसी ऊपर की भावना उपयोगी हुई गिनी जायेगी, सद्गुरु विषय की हृदय की प्रेमभक्ति यदि यथायोग्यरूप से जीवन में प्रकट हुई हो, तो वह जीवनविकास विषयक हमें जैसे बरतने कहें-करें, सूचना दें तो उसी अनुसार बरत सके ।

सद्‌गुरु के वचन का यथायोग्यरूप से हृदय की उमंग से पालन होने से, सद्‌गुरु के अंतर का भाव हमारे हृदय में उतर सकने की वास्तविकता प्रकट होती है। वचन का ज्ञानभक्तिपूर्वक उसके हेतु के भावार्थ के साथ यथायोग्य पालन हुए बिना निर्भरता, निर्बेरता आदि गुण संपूर्ण प्रमाण में जीवन्त उपयोग में व्याप्त हो सकें ऐसे अर्थ में और उतने प्रमाण में वे प्रकट नहीं हो सकते हैं।

गुरु के संदर्भ में योग्य भाव

गुरु के अंधानुकरण से कोई लाभ नहीं हो सकता है। यह तो जीवन की अज्ञानता में मृत्यु है। गुरु करने के लिए गुरु करना यह तो बिलकुल बिनउपयोगी है, परन्तु जीवनविकास की भावना को जीवन में उपयोगी व्याप्त करने के लिए सद्‌गुरु का ज्ञानभक्तिपूर्वक का सेवन करने के भाव से जीवनविकास की भावना के आधार के साधनरूप से सद्‌गुरु किये हों, तो वह गुरु उपयोगी है। ऐसा यदि सचमुच उसके योग्य भावार्थ में हमारे जीवन में हृदय से प्रकट हुआ हो, तो उसका लक्षणमाप यह है कि उसकी गरज हम में जाग गयी हुई जीवन में अनुभव होगी। यदि ऐसी संपूर्ण सच्ची गरज जाग गयी हुई हो तो मन बार बार मुड़ मुड़ करके उस तरफ ही मुड़ा करेगा। ऐसा हो तो वह बार बार हृदय में याद आया करे। जिसकी गरज अधिक, उसे ही हम अवश्य खोजते रहते हैं। गुरु किये वह जीने के लिए। उसका उपयोग यदि उसके

हेतु के लिए, ज्ञानपूर्वक, योग्यरूप से न कर सकें तो मृत हम और मृत वह गुरु ।

सद्‌गुरु का कार्य

गुरु हमें सोने क्यों दे ? कुछ नहीं तो वचन के बाण मार मारकर हमें जगाते हैं । बाण सुनते-सुनते भी जहाँ हम ही कुंद हो जाते हों तो तो फिर हो चुका । ऐसा अनुभव होता हो और जीवनविकास की सच्ची भावना के लिए उसे ज्ञानपूर्वक लगे रहना न होता हो, तो गुरु किये का कुछ ही अर्थ नहीं है । गुरु अपने आप तो कुछ भी करेंगे करवायेंगे नहीं । हमारे में उत्कट से उत्कट तमन्ना जीवन की भावना के सम्बन्ध में जागी हुई होनी चाहिए । बाकी तो हमारी जैसी भूमिका होगी, उस उस अनुसार वह हम में खेला करेगा । वह अर्थात् गुरु, पर यदि सचमुच सच्चा होगा तो तो वैसा गुरु हम में उसके विषय में राग प्रकट करके, उसके आकर्षण द्वारा समझाकर ऊँचे उठाने के लिए हमें प्रयत्न किया करेगा । अपरंपार तामस हो, प्रमाद हो और उस कारण से समय का सदुपयोग न हो सके ऐसा अनुभव से गुरु को लगा हो वैसे **जीव** को जीवनविकास के उत्तम संस्कार प्रकट हो वैसे हेतु के ज्ञान से उसे वे ऐसे कर्म सौंपा करेगा ।

हमारा कार्य

ऐसे सौंपे हुए कर्म को यदि वह **जीव** वे कर्मों प्रेमभक्तिभावना प्रकट करने के लिए मिले हैं, ऐसा उस समय

समझ समझकर, उन कर्म के महत्त्व, रहस्य, खूबी यदि अंतर में अंतर से समझा करने का करे, वैसे मिले हुए कर्म को वह अपने जीवननिर्माण की उत्तम कारामत समझकर, उसे उसके सकल पहलुओं से उत्तम से उत्तम ढंग से आचरण करे, उसे करने में हृदय के सकल आनंद को प्रकट करके, उस आनंद के कर्म का प्रेरकबल के रूप में उपयोग में लाये तो तो वैसा उसे सौंपे हुए कर्म उसे जीवन में प्रकट किया करे । कैसे भी हो तब भी गुरु स्वयं को मिले हुए स्वजनों को एक की एक दशा में पड़े तो रहने ही नहीं देते हैं । वे तो उलटापुलटा करवाया करते हैं । किन्तु उसका योग्य ज्ञानपूर्वक का जीवन में लाभ उठाने के काम फिर हम सब **जीवों** का है वह जानना ।

एक शंका और उसका उत्तर

'हम यद्यपि सचमुच हृदय से ऐसा मानते हों कि हमारा सद्गुरु समर्थ है, तब भी उसका भाव प्रेरणा रूप हम में काम क्यों नहीं कर सकता ? वह हम में तरंग क्यों नहीं प्रकट कर सकता ? वह हमें खींचकर ऊपर क्यों नहीं ले जाता ? ऐसे ऐसे प्रश्न पूछनेवाले **जीवों** को भी जाना है । शाला में शिक्षक तो एक का एक होता है । वह सिखाते होता है तो सबको, पर जो होशियार होता है, वह अधिक सीख लेता है । कोई विद्यार्थी सिखानेवाले के सम्बन्ध में ध्यान नहीं देता है और व्यर्थ झाँका करता हो वैसे को शिक्षक टोका करता है तो सही, परन्तु कुछ देर बाद फिर वह तो वैसा का वैसा । तो वैसा किस तरह से सीख सके ?

सद्‌गुरु के लक्षण

'तो अब गुरु ही सच्चे हैं कि नहीं उसकी परीक्षा कौन कर सके ? हमारे पास तो उसे पहचानने के लिए गज (माप) नहीं है !' ऐसा कहते सुना है, परन्तु वह भी यथार्थ नहीं है । प्रसंग-प्रसंग पर जो उसकी समझ प्रचलित होती है, वह समझ, व्यवहारवर्तन-प्रसंग में वह दूसरों को मार्गदर्शन करती है, वह हकीकत तथा उसके कर्म का कौशल्य, उसका सूक्ष्म विवेक, उसकी जिसमें उसमें सहज स्वेच्छा से तारतम्य खोज लेने की कुशलता, थोड़े भी परिचय में आने पर भी किसी की प्रकृति की योग्य समझ प्रकट होनी तथा उसके (प्रकृति के) आकार प्रकार को वह जितना समझ सकता है, उतने प्रमाण में संसार के व्यवहारकुशल गिनाते **जीव** भी समझ सकते होते नहीं वह हकीकत, प्रसंग को उसकी यथार्थता में समझने की उसकी कलाशक्ति, सर्व **जीवों** को समझने की और उन उनकी यथार्थता में स्वीकार करने की शक्ति, अलग-अलग प्रकृति और स्वभाव के **जीवों** के साथ उसका वर्तनप्रकार का सुमेलभाव और वैसे वैसे **जीवों** के साथ की उसकी सुमेलभावना, वर्तनकला - ऐसा ऐसा अनेक प्रकार का जो सद्‌गुरु में प्रकट होता है, वह यदि उसके योग्य भाव में देखकर उसके (गुरु के) जीवन की यथास्थिति किस प्रकार की हो सके, वह यदि सद्‌भाव से हम से समझी जा सकती हो तो उस भाव से वह (गुरु) सच्ची तरह से परखा जा सके

ऐसा होता है । वृत्ति, विचार, भावना आदि का सूक्ष्म से सूक्ष्म का समतापूर्वक का निरीक्षण, अवलोकन, पृथक्करण कर करके, उस उसका यथास्थान पर क्या क्या यथायोग्यरूप हो सके उसका स्पष्ट हकीकतरूप में वर्णन करके बतलाना, प्रत्येक मनादिकरण के प्राकृतिक धर्म अमुक अमुक कक्षा में कौन कौन और कैसे कैसे हो सके, जीवन की अमुक अमुक स्थिति प्रकट होते उसके क्या क्या मापलक्षण हो सकते हैं, उसका योग्य आकलन करके वह हमें समझाने का हो सकना, उसके जीवन की दूसरी लाक्षणिक आदतें, उससे अनेक प्रकार के अलग-अलग होते रहते अनुभव, उनके संबंध-संपर्क के परिचय से थोड़ी बहुत भी कोई कोई बदलती रहती प्रकृति के उदाहरण आदि आदि सभी से करके उसकी (सद्‌गुरु) यथायोग्यता समझ सके ऐसा होता है ।

गुरु को कसकर स्वीकार करो, पर बाद में हृदय की प्रेमभक्ति ही रखो

सद्‌गुरु को भी परख परखकर स्वीकार करना होता है । स्वीकार करने से पहले जो कुछ अंतर में जानना करना हो, वह बुद्धि, भावना आदि की मदद से जान लेना कर सके, पर एक बार उसे हृदय से स्वीकार करने के बाद उसके साथ खाली खाली चुटकुला करना, उसके साथ बेकार खेल खेलना, वह हमारे लिए थोड़ा भी योग्य नहीं है । उसे अपने जैसा समझने, मानने, जानने में हमारा प्रकृतिदोष रहा हुआ है, यह

निश्चित प्रमानना । अपने जीवन में ज्ञान का अनुभव प्रकट करने, अपने जीवन में उसके सम्बन्ध में सम्मान-आदर, प्रेम, भक्ति आदि भावना की अत्यधिक आवश्यकता रहती है ।

प्रेमभक्ति की आवश्यकता के कारण

प्रेमभक्ति कुछ उसके लिए नहीं रखनी है । उसे ऐसी कोई जरूरत भी नहीं है । वह तो हम उसका जीवन में योग्यरूप से स्वीकार कर सकें ऐसी ग्रहणात्मक जीवन की भूमिका हमारे में प्रकट हुआ करे, वैसे हेतु के ज्ञान के लिए उसके संदर्भ में (प्रेमभक्ति) हमें रखा करनी है । उसके वचन हमारे आधार में हृदय में हृदय से आचरण कर सके उस प्रकार की भूमिका विकसित करने के लिए वैसी वैसी भावना उसके प्रति रखने की आवश्यकता होती है । फिर, उससे भी अधिक उसके हृदय का जीवित भाव ऊपर बतलाये वैसे भावों से रंगे हुए हृदय में उतर सकता होता है । ऐसा उनका भाव उतारने के लिए, प्रकट करने के लिए, अवतरण होने के लिए वह माँग लेता है भूमिका । वैसी अंतर की भूमिका पकती है उसके सम्बन्ध के ऊपर-ऊपर के गुणों का ज्ञानपूर्वक के जीवित अभ्यास से ।

सद्‌गुरु के दूसरे सुलक्षण

हमें प्राप्त हुए गुरु के गुणों की भी खबर हो सकती होती है । उसकी अपार निःस्पृहता और उनकी अपरंपार स्पृहा, उसका हमारे साथ अत्यधिक परवाहपन और उसके साथ साथ

वापिस हमारे साथ उनका बेपरवाहपन, उसका राग और राग की अभावता, प्रसंग में साथ होने पर भी प्रसंग से उठकर उच्च में व्याप्त हो सकना, जो भी कुछ में आरपार उतर जाती उसकी पारदर्शक दृष्टि अपने आप ही जो भी कुछ हुआ करे वही कर्म ऐसी उसकी समझ और वर्तन, कर्म को या संबंध को कभी भी खोजने जाने की थोड़ी भी उसमें वृत्ति ही नहीं जाग सके ऐसी उसकी दशा व्याप्त होती है ।

जैसे जैसे जो होता जाय वैसे वैसे उनकी यथार्थता में उसमें के चेतन के दर्शन-अनुभव को वह पाता रहता है, ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के उसके जीवनअनुभव के पहलुओं को यदि हमारे द्वारा तटस्थता और समता से अवलोकन करने का हो सका, तो तो ऐसे की (सद्गुरु की) यथायोग्यता हमें समझ में आया करे । अधीरता और अस्वस्थता प्रकट हो सके ऐसे प्रसंग में धीरज और स्वस्थता प्रकट हुए जिसमें अनुभव हो सकता है, जिसके द्वारा जीवन में धीरज, हिंमत, सहनशीलता, मतसहिष्णुता, सभी के प्रति सद्भाव और समभाव आदि आदि हम में प्रकट हुए अनुभव कर सकते हैं, जिसके द्वारा हमारे संसारव्यवहारवर्तन, प्रसंग में, प्रसंग के योग्य ऐसी उत्तम प्रकार की समझ हम में प्रकट होती अनुभव हो सकती है, जिसके द्वारा इधरउधर भाग जाते दिल को संकोच पैदा होता, अनुभव होता है, जिसके द्वारा करके अदृष्ट यकायक कहीं किसी के बारे में प्रेरणा मिला करती होती है, मिले हुए कर्म

के क्षेत्र में जिसके द्वारा कल्पना न की जा सके, आशा भी नहीं कर सकते ऐसे बड़े बड़े व्यक्ति की अपनेआप मदद मिला करती अनुभव हो, वह कर्म के क्षेत्र में उपजे हुए जटिल उलझन-प्रश्नों का सहज स्वेच्छा से, सरलता से हल आ मिलना, जिस कर्म के क्षेत्र में हमारे अनुगामिओं से जो हो ही नहीं सकता हो, वह हम से संभव होना, जिसके आधार से कुछ कुछ कर्म की योग्य समझ अपने आप जीवन में प्रकट होती जाती अनुभव होना, ऐसे होते जाते कर्म में जिसकी सूक्ष्म उपस्थिति परोक्ष पर वास्तविक रूप से मानो कि हो ऐसा लगा करना, वैसे कर्म के क्षेत्र में मानो कि वे हमारे साथ हो वैसा सचमुच का भाव उस उस समय अनुभव करना, अनेक प्रकार की सहज स्वेच्छा से सब प्रकार की योग्य सरलताएँ प्रकट हो जानी, उस उस समय जीवन की अमुक दशा में आवश्यक मदद मिला करती हो, उसका (गुरु का) ऐसा ऐसा अनेक के जीवन में अनुभव में आनापन होना तथा वैसे दूसरे अनेक प्रकार के अनुभव होना, वैसा यदि उसका सब हमें बिलकुल वास्तविक लगता हो, वैसे लगने में भी संपूर्ण यथार्थता हो और कहीं भी अतिशयोक्ति का एक शब्द भी न हो, तो फिर ऐसों का हमें स्वीकार करना वह यथायोग्यरूप है, ऐसा मानना और जानना ।

सहज स्वेच्छा से हृदय से उत्तम स्वीकार

गुरु के हृदयभाव को सहज स्वेच्छा से यदि जीवन में हम से स्वीकार हो सकता हो तो वह सबसे उत्तम है ।

तर्कशक्ति से, बुद्धि की मदद से, फिर दूसरी तरह से सोच सोचकर यथायोग्यता की परख देख देखकर के तथा दूसरी ऐसी बाह्य रीतिओं से जाँच जाँचकर के उसे लेने का हुआ हो, वह भी गलत तो नहीं है, परन्तु उससे उत्तम तो अपनेआप अपने हृदय से उसे प्रेमभक्ति से स्वीकार कर सकें हों, तो वह अत्यधिक उत्तम कह सकते हैं ।

सद्‌गुरु के उपयोग का श्रेष्ठ तरीका

सद्‌गुरु के उपयोग के भाव में जितने प्रमाण में गिनती कर करके व्यवहार करने की आदत उनके साथ तौल-तौल करके सोच-सोच करके आचरण करने की पद्धति, जीवन में अमुक-अमुक मान्यता कर बैठी हुई समझ और माप-इससे उसे तौला करने की रीति, उसे अपने जैसा ही काम करनेवाला जैसा मानकर उसके साथ ऐसा व्यवहार करने की रीति, उसे जाँचकर देखने की हमारी आदत, ऐसा ऐसा जितने प्रमाण में कम से कम उस उस समय (उसके साथ के उपयोग के वर्तमानकाल में) उपयोग करना हो वह हमारे लिए उत्तम है । इस बारे में यानी ऊपरोक्त साधन का उपयोग के बारे में निश्चय जितना हो उतना हृदय में पक्का दृढ़ विश्वास से हमें बरतना है । उस आचरण के समय हमारे हृदय के भावों का एकाग्र और केन्द्रित अनुसंधान उसके साथ ही किया करना है ।

हम ही भाव को धकेलकर वापस लौटाते हैं

उसे उपरोक्त तरीके से ज्ञानपूर्वक जीवन में उपयोग करने से उसका भाव काम कर सकने की योग्य भूमिका हम

में वह स्वयं प्राप्त कर सकता है। बाकी उसका भाव तो अनेक बार हम में आ आ करके हमारे ही दोष से वापस चला जाता होता है। ऐसी आध्यात्मिक आंतरिक हकीकत कौन मान सके ऐसा है ? पर यह बिलकुल सत्य हकीकत है। हम सब अपने स्वयं के आड़े आकर स्वच्छंद से व्यवहार करनेवाले **जीव** हैं। इसलिए अभी चेतना हो तो चेत जाना है। हमारे अपने तरीके से, समझ और अहम् से चलनेवाले होने के कारण हम में यथायोग्यता न व्याप्त हो ऐसे अंधापन हम में न प्रकट हो ऐसी सभी प्राप्त स्वजनों से प्रार्थना है।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. १३-४-१९५३

मिट्टी जैसे मुलायम बनो

सद्‌गुरु के हृदय का मूल भाव हम में काम करता हो सके, इसके लिए हमें भी तैयार होने की जरूरत है। बहुत खींचकर पकड़े और बहुत ढीला छोड़े ये दोनों दशाएँ अयोग्य हैं। 'बहुत खींच के पकड़ें' यानी पुरुषार्थ से तंग के तंग रहा करते हों वह, और 'बहुत ढीला छोड़ दें' यानी तो प्रमाद आलस्य और तामस में ही पड़े रहें ऐसी दशा। हमें तो वह भी नहीं होना है और यह भी नहीं होना हैं। हमें तो ज्ञानभक्ति-पूर्वक मिट्टी के लोंदे की तरह मुलायम बना करना है।

सभी कच्चे

प्रभुकृपा से प्राप्त हुए **जीवों** में से कोई **जीव** ऊपर कहे अनुसार मात्र अकेले ज्ञानभक्ति के पराक्रम से पुरुषार्थ में पड़ा

रहा किया हो ऐसा अनुभव में तो नहीं आता । दूसरे सभी तो बस प्रमाद में ही गले तक डूबे अनुभव होता है । किसी को भी किस लिए गुरु को हम चिपके हैं, इसका सही ज्ञानभान दैनिक जीवनव्यवहार में हृदय में हृदय से जागता तो रहता नहीं और फिर दोष देना है गुरु के सिर !

भाव ठीक से न जागने के कारण

'आप यदि महासमर्थ हो तो क्यों भाव जगा नहीं देते ?' ऐसा भी अमुक तो कहते हैं । 'भाई साहब ! उसका उत्तर तो ऊपर दे ही दिया है । हमें तो आप में प्रवेश करने जाने पर आप सभी लात मार-मार करके दुतकार देते हो वैसा क्यों ? इसलिए कृपा करके लगे रहना हो, तो उसके लिए योग्य तैयारी करनी होती है, वह समझो तो उत्तम । तैयारी करने का सामर्थ्य न हो, तो उसके लिए हृदय की जीतीजागती भावनात्मक धारणा जीवन के दैनिक व्यवहारवर्तन में हृदय में हृदय से पलपल जीवित रहा करे, वैसा ज्ञानपूर्वक का अभ्यास विकसित करो । ऐसा करते करते 'भीतर का' जाग जायेगा । किन्तु यदि हृदय की भावना जीवित करके साधना का पुरुषार्थ भी न हो सकता हो, फिर ऐसी भावना भी यदि रह न सकती हो, इसके लिए हृदय का भाव और प्रेम प्राणवान बनाने में जीवन में खबरदारी न रख सकते हों, उसने बतलाये हुए या सौंपे हुए कर्म में हृदय की भावना और इसका हेतु यदि हम चेतनापूर्वक जाग्रत रखने का प्रयत्न ही न किया करते हों, उसने बताये

हुए कर्म करने में हृदय का उल्लास, उमंग, उत्साह, पूरे हुलास के साथ प्रकट हुए अनुभव न कर सकते हो, तो फिर वह बेचारा क्या करे ? वह किस तरह से वहाँ प्रवेश करे सके ?

हम तो वह चाहता है, उससे विपरीत ही दिशा में बरतने का करते हैं और उसकी मदद चाहते हैं, वह तो कैसे हो सकता है ? हमें तो हमारा जो भी सब है, उसे संपूर्ण सँभालकर, इसमें से कहीं कुछ कम न हो जाय, फिर, हमारा वह सब सँभला रहे, उस तरह यदि उसके पास से लाभ उठाने की इच्छा हो, तो हमारा जीवन बस जहाँ है, वहाँ के वहाँ ही रहने का है । हमें तो अभी राग, मोह, काम, लोभ इत्यादि संसार में पूरी तरह है, उसमें से अभी तो हटना नहीं है । इसमें से खिसकना करना कराना नहीं है, जो भी सब व्यवहारवर्ताव सांसारिक तरह ही करना है, ऐसे ऐसे तो हमारे रंगढंग हैं और हमें जो भी सब उड़ेलता है उस पर वह कैसे बननेवाला है भला !'

कृपाकार्य

यद्यपि उसने तो कृपा कर करके हमारी ऐसी **जीव**दशा की हलकी कक्षा होने पर भी हमारी समझ में, वर्तन में और दूसरी तरह से भी ऊँचे आने को उसने कितना अधिक प्रयत्न करवाया है ! दूसरा भी कितना अधिक उसने हम में प्रकट किया है ! इससे जीवन में हमें हुए लाभ भी यदि प्रत्येक **जीव** समझने बैठे तो उसे उसकी यथार्थता समझ में आये बिना नहीं रह सकती है ।

सभी किसी को लाभ ही

तथापि जब **जीव** ने उसे स्वीकार करने का कहा है — मात्र मुँह मुँह से, हृदय से तो नहीं ही — तब कोई ऐसा प्रश्न करे, 'वह तो था बेचारा **जीव**, पर उसने किस आशय से उसे (गुरु को) लिपटने का किया, वह वे (गुरू) तो जानते ही थे, तो फिर उसे उस तरह से आने ही क्यों दिया ?' अरे भला ! उसे क्या है ? उसे तो जो **जीव** अपने पास जिस तरह से आये उस तरह से भले ही आये ! उसके पास आकर के किसी को भी कुछ खोना तो होता नहीं । कुछ न कुछ सीखना ही होता है । भले ही बहुत हलकी कक्षा का **जीव** उसके पास आया हो, तब भी इससे करके उस **जीव** में अनेक प्रकार की आंतरिक समझ प्रकट हुआ करती होती है । दूसरे तरह की भी जानकारी मिलती है । संसारव्यवहारवर्तन की कला में उसकी सूझबूझ बढ़ती वह अनुभव कर सकता है । कर्म को योग्य ढंग से करने की कुशलता भी उसमें प्रकट होती वह अनुभव कर सकता है । इसप्रकार प्रत्येक प्रकार के **जीव** को वैसों के पास आने से अपनी अपनी तरह से लाभ, लाभ और लाभ ही होता है ! इसके अलावा, जीवनविकास में जो गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है, ऐसे गुणों की कीमत और मूल्यांकन समझते **जीव** वैसे बनते हैं ।

वैसे आनेवाले **जीवों** में आंतरिक मंथन जागता है, वह फिर एक अलग बात है ।

नये जिज्ञासु के प्रति सद्‌गुरु का रूख

ऐसे को तो कोई आये तब भी ठीक और कोई न आये तो उसकी भी परवाह नहीं है । कोई आने को करे तो वह क्यों मना करेगा ? वह तो समझता है कि जो **जीव** आयेगा, वह भले ही **जीव** का **जीव** रहे, पर उसमें सत्संग से किसी प्रकार के अच्छे संस्कार तो पड़ेंगे ही न ? किसी दूसरे संसारी **जीव** के समागम से उस (गुरु) के संस्कार जो जो उस **जीव**कक्षावाले **जीव** पर पड़ेंगे और उस **जीव**दशावाले **जीव** के साथ की सुहबत से करके जो जो संस्कार पड़े, वे दो प्रकार के संस्कार में तो सद्‌गुरु के साथ के पड़े हुए संस्कार अधिक उत्तम प्रकार के और बलवानरूप के होंगे, उतनी हकीकत तो निश्चित है । उसको तो कुछ भी किसी के पास से पाना नहीं है । कुछ भी किसी से लूटकर भोगना नहीं है या नहीं कहीं कुछ खोना है । वह आता है उसे आने दे भी सही । जाता हो उसे जाने दे । वह जो जो आते हैं, वे वे सभी को वह स्वीकार कर लेता होता है, ऐसा भी कुछ भी नहीं होता । वह तो जैसे होता है वैसे होता है ।

पर प्रत्येक *जीव* का परिवर्तन तो हुआ ही करेगा

इस मार्ग पर जिसे टिकना है, ऐसा **जीव** किसी भी साधन में मानता हो, कोई भी साधन करता हो, परन्तु वैसे **जीव** को अपने जीवन की परम्पराएँ, स्वच्छंदता से आचरण करने की, चलने की, मानने की, जीने की आदत टालनी ही

पड़ेगी । इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता वैसे **जीव** में यदि समझ ही नहीं होगी, तो फिर क्या कहना और क्या लिखना ? **इस** मार्ग पर जानेवाले **जीव** को प्रमाद, आलस्य को तो जान जानकर त्याग करने की तनदिही रख रखकर आदत डाला करनी है । 'स्वयं जिस गति में हो, उससे अधिक उच्च गति में कैसे प्रकट हों और जीयें ।' उस तरह से उसे आचरण करना है । स्वयं जिस समझ में हों उसमें ही यदि पड़े रहा करें, उसमें से एक इंच भी हटने का दिल न हुआ करता हो, तो फिर ऐसे **जीव** का कोई भी क्या कर सकता है ? **जीव** को जिस प्रकार का चसका लगा है, वैसे चसके के स्वाद के आकर्षण में ही **जीव** को यदि पड़े रहना करना हो, तो उसके द्वारा किये गुरु मिथ्या हैं । ऐसे **जीव** द्वारा किये गुरु वह तो मात्र परंपरा के हैं । ऐसे **जीव** से **इस** मार्ग में अधिक कोई प्रगति हो नहीं सकती ।

नेक दानत का लक्षण

स्वंय जहाँ है उसमें से यदि खिसकने की सचमुच की नेक दानत जिसे प्रकट हो, तो क्या वह कुछ भी बतलाये बिना थोड़े ही रह सकती है ? इसलिए जिस जिस **जीव** को प्रभु के मार्ग पर जाना हो, तो वैसे **जीव** को अपनी सभी नौकाएँ जलाकर नदी में कूदना रहता है । वहाँ डूबके मरेंगे या क्या होगा, ऐसी परवाह या चिंता हमें करनी नहीं है । वह तो करनेवाला जो है, वह करेगा, परन्तु वैसा एकदम **जीव** से

वैसा होना वह भी संभव नहीं है । या तो उसमें धधकती जीवन के संदर्भ की उत्कट तमन्ना प्रकट हुई हो अथवा सद्‌गुरु के संदर्भ में हृदय की भावना की ऐसी उत्कट लगनी प्रकट हुई हो, उसके बिना ऐसे के ऐसे फना हो सकना वह लगभग असंभव है ।

ऐसे तो *इस* मार्ग में लाभ ही

इस मार्ग में जिसे जाना है और सही रूप में जाना है, उन उन सभी **जीवों** की कसौटी-परीक्षा हो जाती होती है । या तो स्वांग पूरा करना होगा, या तो थे वहाँ के वहाँ रहने का होगा । तब भी एक सामान्य **जीव**कक्षा का **जीव**, जो संसार में रचापचा रहा करता होगा और वह दूसरा संसारी **जीव** — जो सचमुच किसी जागी हुई आत्मा के संपर्क में आया हुआ होगा, वैसा — ज्ञानदशा में कोई प्रगति भले न कर सका हो, तब भी वह दोनों प्रकार के **जीव** में उन उनकी **जीव** की दशा व्याप्त होने में भी अवश्य अंतर पड़ेगा ही । सचमुच किसी संतात्मा का **जीव**दशा से आचरित पहलू भी उस तरह से तो उपयोगी होता है, यह भी एक निश्चित हकीकत है । उसमें सच्ची समझ तो इससे यानी कि उस आत्मा के संपर्क से जन्म लेती है तो सही, पर स्वयं की **जीव** प्रकार की कमजोरी के कारण उससे वैसा आचरण नहीं हो सकता है, यह फिर अलग बात है ।

कृपा में माननेवाला प्रार्थना तो करे ही

परन्तु कोई **जीव**, यदि स्वभाववश मात्र पड़े ही रहा करने का दिल रखे और तब भी उसमें से गुरुकृपा ही मात्र उसे पार लगायेगी ऐसा माने, तो वह यथायोग्य नहीं है। ऐसा **जीव** भी, स्वयं जहाँ है वैसे की वैसी दशा में रहा करके, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। उसे समझना तो उपयुक्त है कि अपनी अपरम्पार कमजोरी के कारण **इस** मार्ग में जाने के जो जो तरीके हैं, उस उस प्रकार से उससे आचरण तो हो सके वैसा नहीं है, उसमें से उठने या उठाने के लिए उस प्रकार की भावना उसे न हो, इससे उसे अंतर से उसके संदर्भ में (गुरु के संदर्भ में), उसे जो हृदय का प्रेमभाव थोड़ा बहुत भी हो उसके आधार पर, भावना प्रकट कर करके प्रार्थना की पुकार उसे उसको (सद्गुरु को) लगानी चाहिए। उसे (सद्गुरु की भावना को) अपने दैनिक व्यवहार में जीवित रखा करनी चाहिए।

प्रज्वलितरूप से भावना प्रकट करो

जीवन में यदि ऊँचे आना करना हो, तो अपने दैनिक व्यवहारवर्तन में प्रज्वलितरूप से हृदय की उत्कट भावना प्राणवान अपनी प्रकट करनी रहती है। आजकल तो तुम सत्त्वहीन होकर जीती हो। इससे तुम्हें कुछ हासिल नहीं होगा और नहीं तुम ऊपर आ सकती हो। हमारा साथ करना हो, तो उस प्रकार की नेकदिली, वफादारी, प्रमाणिकता, उसके

संदर्भ की हृदय की संपूर्ण सच्चाई, वैसा भावभरा दिल, फनागीरी की भावना, दैनिक कर्म, व्यवहार, वर्तन, संपर्क, संबंध, विचार, वृत्ति आदि आदि स्थूल और सूक्ष्म हकीकतों में यदि थोड़े भी प्रकट हुए अनुभव हुआ करे तो **जीव** को स्वयं को तो पक्का भरोसा होगा न ?

'पुनित प्रेमगाथा' तथा 'जीवनसोपान'

एक भाई लिखते हैं, "'पुनित प्रेमगाथा' पढ़ता हूँ और मेरा हृदय डोल उठता है । 'जीवनसोपान' पढ़ते-पढ़ते कोई अद्‌भुत बल संचरित होता अनुभव होता है । यह सब आपकी कृपा अनुभव करता हूँ । आप कितने भी दूर होने पर इतने अधिक निकट हो ऐसी श्रद्धा जीवन्त रहती है ।" सूरतवाले पूज्य काका 'जीवनसोपान' के बारे में लिखते हैं कि 'यह पुस्तक पढ़ने में और मनन करने में आनंद आता है । पहले के पढ़ने में और अभी के पढ़ने में बहुत अन्तर है, यह मुझे कबूल करना चाहिए । फल एक ही पर उसके रस में नया नया स्वाद आता है ।' उनके जैसे ऐसा वाचन पढ़ते हैं, यह एक बड़ा बदलाव हुआ है । जीवनविकास के मार्ग पर चढ़े हुए पथिक को भी और उत्तम साधक को भी 'जीवनसोपान' बहुत पसंद हुआ है, ऐसे पत्र भी मिले हैं । इन सभी बातों से तुम्हारी जिम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ जाती है, यह समझना ।

• • •

प्रकृति के कुछ रूपान्तर के उदाहरण

तुम्हें काम करना है, कैसे कैसे **जीवों** के बीच कैसी कैसी प्रकृति स्वभाववाले मनुष्यों के बीच ! प्रत्येक के स्वभाव को सँभाल सँभालकर व्यवहार करना होता है । काम करने से मना करना तुमने स्वयं बंद किया हुआ है । आग जैसा स्वभाव था - और तुम्हारा स्वभाव ऐसा था इस बारे में जो भी सब कहते हैं, 'तुम जल उठो वैसी हो ।' पर यह सब तुमने जानबूझकर कम किया हैं । **काम करते करते शरीर और दूसरे *जीवों* के बोलने-आचरण से मन को भी थकान होती है, तो उसकी परवाह न करने की *इस जीव* की सलाह को तुमने सिर पर चढ़ाया है ।**

कदर की इच्छा रखे उतनी आध्यात्मिक भूख कम

आश्वासन-सहानुभूति के हृदय को दो शब्द-किसी के भी सुनने के तो नहीं होते हैं । ऐसी परिस्थिति में प्रसन्नवदन से जीना और आचरण करना यह कितना कठिन हो सकता है, इसकी मुझे परवाह नहीं ऐसा तो नहीं है । तुम्हारा चित्र ऊपर के वाक्य में लिखा है, उससे भी अधिक तादृशरूप से चित्रण कर सकूँ वैसा हूँ, पर इससे लाभ क्या और इसका अर्थ भी क्या ? हमें किसी की सहानुभूति की, शरण की, ऊष्मा की, दो अच्छे बोल की अब भी हमें यदि मन में भूख जागती हो तो जीवनविकास की सच्ची भूख अभी हमें प्रकट हुई ही नहीं है ऐसा कल्पना करना और मानना ।

(शार्दूलविक्रीडित)

'मागूँ मैं तुम्हारे पास इतना प्रभु ! दो साथ **इस जीव** को,
जिससे जीवन का विकास समग्र साध सकूँ मैं अवश्य,
आवेग कई सारे पड़े जीवन में, उन सभी को टालना,
संसारी मिलते दुःख जीवन में सुख गिनकर जीना ।'

भाव होने पर कविता प्रकट हो

ऐसी तुम से सहज स्वेच्छा से लिखी प्रार्थना मुझे बहुत पसंद आयी है । कविता करने से पहले जिसे न आती हो, उसके हृदय में भाव प्रकट होने पर कविता वह बना सकता है, यह भी एक प्रकार का अनुभव है । भले ऊपर की कविता वह उच्च प्रकार की न हो, पर वह हृदय का भाव व्यक्त करती है इस तरह की तो है ही ।

दिल पिघलाने ही

'आपके अंतिम-अंतिम लिखे हुए पत्र दिल पिघला दे ऐसे हैं । उन्हें पढ़ते पढ़ते आँख से आँसू बहते जाते हैं । उस समय पर ऐसी हृदयभावना जागने पर उसका उपयोग नामस्मरण में करती हूँ ।' यह तुम्हारा वाक्य बिलकुल यथार्थ है । पत्र लिखने का हेतु भी दिल पिघलाने का है । ऐसे पत्र पढ़कर भी किसी का दिल न पिघले और हृदयभावना न प्रकट हो, तो फिर हमें कुछ कहने-कथन करने का रहता ही नहीं है ।

एक द्वारा अनेक को मार्गदर्शन

हमारे पत्रों में जो भी सब लिखने का होता है, वह कहीं किसी एक ही **जीव** को संबोधित होकर होता नहीं है ।

प्रभुकृपा से हमें जीवनविकास की साधना करते करते जो समझ प्रकट हुई है, वह समझ हम तो सभी के लिए पत्र में लिखते हैं । उसमें से जिस **जीव** को समझना हो, वह समझा करे, हमारी मनीषा तो ऐसी सही कि प्रत्येक स्वजन, उसमें से अपना-अपना दिल मथ-मथ के समझने का करके, उस अनुसार व्यवहार का आचारण करे, पूरी तरह से दिल और अंतर का भाव जीवनविकास के योग्य ऐसे आचरण में वह लगाया करे, तो ही वैसे लिखे हुए पत्र की यथार्थता सार्थक होगी ।

कृपा की गूढ़ता

वैसे पत्रों में जो पुरुषार्थ के सम्बन्ध का महत्त्व बतलाया गया है, वह किसी एक ही **जीव** को लक्ष्य करके है, ऐसा कोई माना करे तो वह वैसा नहीं है । जीवन की साधना करनी ही हो तो पुरुषार्थ-स्वप्रयत्न किया करना होगा, इस हकीकत में कमोबेश का भी अंतर नहीं यह जानना । कृपा का स्थान है, पर वह तो हृदय की भावना कैसी कैसी और अपने जीवन निर्माता के साथ कितनी अधिक प्राणवान रहती है, उस पर भी उसका आधार रहता है । फिर, कृपा का स्थान उससे भी स्वतंत्ररूप में है सही । उसे जड़रूप चौखट में बैठ सकें ऐसा कोई नियंत्रित निश्चित नियम नहीं है और हो तो उसका मुझे पता नहीं है । वैसे ही वापस वह (कृपा) हमारे **जीव** की तरह स्वच्छंदीरूप से व्याप्त है, ऐसा भी नहीं है, वह कैसे है यह

तो उसका उपयोग करनेवाला जानें । हम सब उसका न्याय करने बैठें यह तो कैसे अनुकूल होगा ?

सर्वसामान्य तरीका

इसलिए सबसे उत्तम तो यह है कि हमारे हिस्से आया हुआ कर्म हम उत्तम ढंग से प्रभुप्रीत्यर्थ किया करें । ऐसे कर्म के आचरण-वर्तन में उठती द्वंद्वादि वृत्तियाँ जैसे बने वैसे कम से कम हिस्सा लेती हों ऐसा बनता रहे, उस बारे में हमारी सभी प्रकार की चेतनज्ञानयुक्त संपूर्ण जागृति होनी चाहिए । ऐसा यह साधना करने का तरीका है और वह सब पर लागु होता है ।

जिसे जीवनविकास साधना है, वैसे **जीव** को किसी न किसी प्रकार का साधन तो पकड़ना ही पड़ेगा । प्रारंभ में साधक केवल कृपा के साधन से चिपका रहे वैसा वह हो ही नहीं सकता, यह बात भी यथार्थ है । कोई एक जो भी बाबत में अपवाद भी हो सकता है । कोई एक भगवान के उत्तम प्रकार का सच्चा भक्त हो तो वैसा **जीव** उसकी कृपा का साधन पकड़कर बैठा रहे तो वह भी यथार्थ है । कृपा का साधन रखनेवाले **जीव** के कौन-कौन से लक्षण उस बात में होने चाहिए वह 'जीवनसोपान' में स्पष्टरूप से लिखा हुआ है । कृपा भी उसकी उस प्रकार की योग्य भूमिका प्रकट हुए बिना ऐसे के ऐसे मिलती नहीं है । संसारव्यवहारवर्तन में भी जिसकी गरज जागती है, तो उसकी स्पृहा हम कितनी अधिक

रखते होते हैं । उसकी गरज पूरी न हो, वहाँ तक हम में उस **जीव** विषयक जो जो पड़ा हुआ हो और उसका संपर्क और संबंध से जागता हो, वह सब हम सहन करके उसे थोड़ा भी खराब न लग जाय, उसकी तो कितनी और कैसी देखभाल, जागृति हम रखते हैं ! यह बात तो समझ आये ऐसी है । तो फिर इससे अधिक आध्यात्मिक मार्ग तो माँग लेता है अनेकगुनी चेतनज्ञानयुक्त हृदय की जागृति । जीवनविकास की भावना विकसित करने के लिए ही जहाँ हमारे सकल कर्ममात्र है, वहाँ उसे (गुरु को) हम कैसे सींग मार सकते हैं ? तथापि **जीव** हैं और भूल से या अज्ञान से वैसा हो जाय, तो उसका ज्ञानभान जाग जाने पर हमें उसके सम्बन्ध में हृदय में प्रेमभाव हो, तो वह दंश बिना कैसे रह सकता है ? और यदि ऐसा सचमुच दंश दे, तो दुबारा ऐसा होने पर चेत ही जायेंगे न ? यदि ऐसा चेतने का हो सके, तभी जानें कि हमारे हृदय का उसके सम्बन्ध में प्रेमभाव है, नहीं तो वैसा खाली खाली मानना वह मिथ्या है ।

सद्‌गुरु अपना धर्म पालन करते हैं

इस जीव के पत्र दिल पिघला दें ऐसे हैं, यह यदि सचमुच हकीकत हो, तो वह भी उत्तम है । इससे यदि किसी भी **जीव** का दिल पिघल सका, तो वह तो, उस **जीव** की उत्तम सेवा भक्ति है । **हमें तो जहाँ तहाँ से स्वजनों को नहीं सो जाने देना है । किसी न किसी प्रकार से उन्हें जागते**

यदि रख सकते हो तो ही वह हमें पसंद । यह तो हमारे हिस्से आया धर्म वह पालन करवाता है तो हमें उसकी ही कृपा से ही पालन करना रहा है और उसे पालन करने से छुटकारा है ।

हम अपना करें, बाकी का...

तुम्हें जैसे पत्र लिखते हैं, वैसे प्रत्येक **जीव** जो संपर्क में आया, उसे उसे वैसे वैसे पत्र लिखे हुए हैं । हमारे हृदय के भाव को जहाँ वहाँ उस तरह से उड़ेला किया हुआ है । वह कब उगेगा उसकी तो हमें परवाह नहीं है, क्योंकि उसे उगाना या नहीं वह काम उन स्वजनों का है । हमारे हिस्से आये कर्म प्रभु ने हम से करवाया है, इतना हमें पूरा संतोष है ।

स्वीकारात्मक और ग्रहणात्मक भूमिका की आवश्यकता

तो फिर खुजलानेवाली बुद्धिवाले कहेंगे, 'तो क्या आप यदि चेते हुए हो, तो आपका भाव वृथा जायेगा क्या ?' इसका उत्तर हम क्या दें ? चेतन तो अणुअणु में है । जो जो और जिस जिस प्रकार से स्वीकार करे उसका मर्म वहाँ उस तरह से प्रकट होता है । क्या पत्थर में चेतन नहीं है ? क्या वृक्ष में नहीं है ? क्या पानी में नहीं है ? पर प्रत्येक में प्रकट होता चेतन तो उस उसके आकार-प्रकार में ही रहेगा । इसलिए कृपा करके ऐसी गलत भ्रमणा में रहना नहीं कि किसी संतात्मा के पास रहने से या उसका प्रेमभाव हो या वैसा

प्रेमभाव व्याप्त दिखे तो हमारा उद्धार हो जायेगा । उसके भाव की स्वीकारात्मक और ग्रहणात्मक भूमिका जहाँ तक हम में प्रकट नहीं होगी, वहाँ तक उसका भाव कहीं कुछ नहीं कर सकता । वह तो हमें स्पर्श करने, सजीवन करने, चेतनावान प्रकट करने कई कई बार आ आकर हमारे ही कारण से वापिस लौट जाता होता है । ऐसी ठोस वास्तविक हकीकत को कौन समझ सके ऐसा है ? मुझे प्राप्त हुए स्वजन प्रभुकृपा से समझे उस कारण से अनेक तरह से उनको समझाने का किया है और किया करता हूँ । अनेक बार उथलपुथल अलग-अलग तरह से प्रकट की हुई है । सलामत स्थिति में जकड़कर मात्र परम्परा अनुसार जीना न हो, उसकी देखभाल रख करके जीवन में उनको उनको व्याप्त करने का उसने कृपा से करवाया है, तो किया है, परन्तु उसमें स्वजनों के जीवनविकास की भूमिका के लिए ज्ञानभक्तिपूर्वक का हृदय का सहकार और चेतनयुक्त जाग्रति का साथ नहीं मिला है । यह भी हमारी शिकायत नहीं है । हमारी शिकायत तो कहीं किसी के सम्बन्ध में हो सकती ही नहीं । हमें कहीं किसे के बारे में शिकायत करनी भी नहीं है । मात्र हकीकतरूप जो भी सब है वह है । ऐसे लेख को भी जो भी **जीव** अलग-अलग ढंग से ही समझेगा । हमें श्रीप्रभुकृपा से उनमें रहे अंतर्यामी को जगाकर चेताने के लिए अनेक प्रकार के रीतिरिवाज आजमाने के रहते हैं ।

कृपा और पुरुषार्थ का सुमेल है

इससे मेरे कहने का अर्थ तो यह है कि स्वप्रयत्न (और वह भी कैसा ! उसके हेतु के ज्ञानभान की चेतनयुक्त जाग्रति के साथ पलपल प्राणवान गर्जता रहा करे वैसा) और कृपा ऐसे दोनों परस्पर मिलजुलकर रहा करे वैसे हैं। एकदूसरे को सुमेल है। एकदूसरे से वह दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं।

विरोधाभासी सलाह की योग्यता

जिस **जीव** में बिलकुल प्रमाद, आलस्य और भरपूर तामस हो वैसे **जीव** को सतत एकसा पुरुषार्थ में रहा करने की जरूरत है। इसलिए जो **जीव** तामस गुण से भरपूर है, वैसे **जीव** को मर मर के भी पुरुषार्थ करनेपन में अपना जोश बतलाया करना, उसमें उसकी यथार्थता है, ऐसा हमारा दृढ़ मानना है। यह हकीकत किसी भी प्रकार की समझ के पक्षपात या आग्रह से रहित है। फिर कोई रजसप्रधान हो और उससे पुरुषार्थ होता हो तो वैसा **जीव** तंग का तंग न रहा करे वह उसके लिए इष्ट है। पुरुषार्थ करनेवाला **जीव** अपने वैसे करनेपन पर मुस्ताक न रहे, वह उसके लिए अत्यधिक आवश्यक है। इससे कोई गुरु, यदि किसी को पुरुषार्थ करने को कहता है, तो उसमें **जीव** का कल्याण है ऐसा उसे समझना चाहिए, नहीं कि उसे वैसे वचनों की अवगणना करनी है।

जबकि उस रजसप्रधान **जीव**वाले को यदि वही गुरु ऐसा कहे, 'भाई ! कर करके आप क्या कर सकते हो ? थोड़ी

तुम्हारी आग्रहयुक्त खाली खाली दौड़धूप जाने दो । जो भी कुछ परंपरायुक्त ही हो जाकर निष्प्राण न हो जाय इसकी पर्याप्त देखभाल सँभाल रखा करो और अपने से अधिक प्रभु की कृपाशक्ति पर विश्वास दृढ़ करो ।' तो ऐसे गुरु का ऐसा दो अलग-अलग तरह के दो अलग-अलग **जीवों** को कहा हुआ वचन बिलकुल यथार्थरूप से हैं । इस तरह ऐसे भाव से समझने की और उसके कथन को न्याय देने की अभी कितनों के हृदय में सद्भावना प्रकट हुई है, वह कोई गहरा सोचेगा सही क्या ?

सदा ही असंतोष

हमें तो जीवन में सभी बातों में निराग्रही, निरासक्त हुआ ही करना है । आप जितना कर सकते हो, वहाँ उसकी अब हद आ जाती है, ऐसा कदाचित् समझते, जहाँ जितना गए, वहाँ से अभी आगे की बात तो है ही । इससे फिर कोई एक **जीव** तो कहता है कि 'आपकी माँग का तो संतोष हो ही नहीं सकता ।' जो **जीव** ऐसा कहता है वह **जीव** साधना के क्षेत्र की समझ को समझता है कि क्यों उसका हमें दिल में अंदेशा रहता है और अंदेशा होता है भी सही । जितना कुछ हो वह कोई संपूर्णरूप से यथायोग्यतावाला तो होता ही हो न ? इसलिए भी उसमें अभी अत्यधिक न्यूनता हो ही । इससे हमें तो कहना पड़ता है । **हमें तो श्रीभगवान ने भंगी का काम दिया है, वह मैला उठाने का है और उठाया है और**

लिया है । वह आप सभी में है ऐसा पुकारते हैं, तब वे वे **जीव** नाक के सिरे चढ़ाते हैं और कबूल करना तो कहाँ रहा, पर कहने का मर्म भी उलटा कहाँ स्वीकार करते हैं ! इसलिए हम जितनी कुछ मंजिल काटें तब भी **इस जीव** को तो कहने का रहेगा ही यह लक्ष में रखना जी ।

कुचलने-कूटने की तैयारी रखो

वस्तु को ठोस स्वरूप में करके बतलाना है, वह कुछ ऐसे के ऐसे ही तो होनेवाला नहीं है । इसके लिए मेहँदी की तरह पत्थर पर पत्थर से अत्यधिक भार से बारी-बारी से यहाँ से वहाँ कुचलकर नरम लौंदे जैसा हो जाना पड़ेगा । तभी उसमें से रंग प्रकट हो सकता है । ऐसा होने की जिसको उम्मीद न हो, उसके लिए **यह** मार्ग नहीं है वह निश्चय की बात है ।

सदा ही पुकार

हम तो जीवन की पुकार करा ही करेंगे, हमारा तो यह धंधा है । गली में जो कोई बेचने को लेकर आये वह अपने बेचने की चीज की आवाज देगा, इसमें फिर गलत क्या हो सकता है ? जिसे रास आये वह ले, पर उसकी आवाज सुनकर चिढ़ चढ़े यह कैसे चलेगा ?

चलो ! परस्पर को शोभित करें

यदि गुरु हम ने किये तो उसे योग्य तरह से समझने का हमारा धर्म सही या नहीं ? योग्य तरह से और योग्य भाव

से हम उसका यदि सुनने का ही नहीं कर सकते हों तो फिर उसे उस भाव से (गुरुभाव से) रख सकने का भी क्या अर्थ ?

इसलिए परस्पर को शोभित करें ऐसा जीयें, उसमें ही शोभा है । अभी तुम नामस्मरण भी ठीक से कहाँ करती है ?

कृपाप्रपात में पुरुषार्थधारा मिला

यदि इतना भी गुरु के कहे अनुसार नहीं होगा, तो होगा क्या ? अब बाकी के जीवन में करना भी क्या है ? संसार में जी करके यदि सहन किया हो तो अब जो आये वह अत्यधिक प्रेम से, समझकर, स्वीकार करके सहन कर लेना । यह जीवन व्यर्थ खर्च करने, हाहाहीही करने नहीं मिला है । इसका योग्य उपयोग कर लो । दांपत्यजीवन से यह तुम्हारा एकाकी जीवन अति उत्तम है, इसका सच्चा हेतु समझ । परमात्मा ने स्वयं कृपा करके तुम्हारी खबर रखने लगे हैं । परमात्मा ने स्वयं कृपा करके प्रपात बरसाने लगे हैं । उसे पुरुषार्थधारा के साथ मिलाकर बहाओ । ऐसा सरल सहज ज्ञान प्रेम से तुम्हें कौन देगा ? उसने तुम पर कम समय में कितनी अधिक कृपा की है, वह तो सोचो ! इसमें किसी के साथ बराबरी हम से नहीं होगी । हमें तो जिसमें और उसमें अपना ही देखना है ।

आंतरशोध तो प्रसरित होगी ही

'अन्याय होता है वह समझ आता है, पर उसका हेतु खोजने के लिए मंथन करती हूँ ।' ऐसा यदि सचमुच हुआ

करेगा, तो फिर उस प्रकार का अभ्यास कहीं कोई एक ही बात में रुक नहीं जाता है। वह तो प्रसरित होता है सभी में। It percolates. (वह तो पानी की तरह रिसता है।) तुम जैसा लिखती हो वैसी तुम्हारी वृत्ति प्राणवान रह सकती हो, तो वह जागृति दूसरी सभी बातों में क्यों योग्य प्रकार का काम नहीं दे पाती होगी ?

युद्ध करके सत्प्रयत्न में ही रहो

जीवप्रकार के नकारात्मक भाव को पहचानना है तो सही ही। उसके हमले को उसी समय ही, मुड़े उतना मोड़ने का जागृतिपूर्वक सत्प्रयत्न में रहना है। वह वैसा न हो, और न अनुकूल आये तब भी श्रीप्रभु की कृपामदद माँगते-माँगते सत्प्रयत्न को तो हृदय से लगे ही रहना है। ऐसा करते करते हारे, तो उसमें बाधा नहीं है। उस समय प्रार्थना तो हुआ ही करनी चाहिए। तुम्हें ऐसे प्रार्थना करने का दिल हुआ और उस प्रार्थना के भाव द्वारा ऐसी **जीव**स्वभाव से भूल हो जाती है। उसका कारण भी समझ में आया कि 'जिसमें और उसमें मैंपन का अभिमान व्याप्त होने से प्रकृति सामने ही आकर खड़ी होती है; यह बिलकुल सच है। यह तो सब सामने आकर खड़ा रहता है, परन्तु हम झुके तब न ? मन तो बहुत घोड़ों पर चढ़ाता है, पर हम घोड़े पर चढ़ें तब न ? मन या प्रकृति से स्वभाव से, होते दोष या भूल या दोष या नकारात्मक भाव-इन सभी के सामने उस समय, उसके हेतु के ज्ञानभान

के साथ, यदि वैसी जागृति से टक्कर लेने का हुआ, तो ऐसे विकसित प्राणवान अभ्यास से एक ऐसे प्रकार का बल जन्म लेगा कि जिस बल की मदद से बाकी का दूसरा बहुत हम कर सकेंगे । 'टक्कर लेना' अर्थात् **जीव**रूप के भाव का इनकार करना ।

सद्‌गुरु का 'माँ' जैसा काम

माँ को बालक का पालन करना होता है, तो उसके मलमूत्र का उसे संग करना ही पड़ता है । बालक के मूत्र से भीगे हुए में सोना पड़ता है और उसके मल से स्वयं कभी लीपना पड़ता है । बालक का वैसा वैसा सब साफ करना पड़ता है । बालक के प्रति माँ की नैसर्गिक सहज प्रेरणा उसे उस अनुसार करवाती है । उसी तरह सद्‌गुरु का है ।

सद्‌गुरु की कदरभक्ति

'आपके लंबे पत्र जीवन के पलपल कैसे बिताने हैं, यह बतला जाते हैं । पत्र खूब भाववाले, अनुभव के सत्य से भीगे होते हैं । इससे वे असर कर जाते हैं । पढ़ते-पढ़ते दिल द्रवित हो जाता है । हृदय में भाव उभरता है । गद्‌गद हो जाते हैं, ऐसे ऐसे अनेक भाव उभरते हैं, और हृदय को गुरु की अनुभव की वाणी सुनाई देती है । **मोटा** ! आप स्त्री होकर जन्मे नहीं, बहू होकर कुटुंब में रहे नहीं, तब भी कुटुंब में—संयुक्त कुटुंब में—उत्तम से उत्तम किस तरह से जी सकते हैं, उसका जीवित आदर्श बतलाया करते हो ।'

ललित छंद

जीवनसार लुटाकर वीर तुम ने
हो असंग जीया किया सही !
प्रभु ! उदारता क्या अपार यह !
होना अन्य से संभव नहीं जरा । (प्र.उ.)

उपरोक्त सभी **इस जीव** के बारे में लिखकर तुम ने **इस जीव** की जो योग्य कदर की है वह तो मानो ठीक, पर उसने स्वयं अलग-अलग घर के रोट और तमाचे खाया किया है । उसमें से कुछ कुछ कला प्रभुकृपा से सीखा हुआ हूँ, जो स्वजन के चरणकमल में रखा करता हूँ । 'जीवनप्रवेश' में किसी पत्र में उस जीवन को स्पर्श करता एकाध पत्र प्रकाशित हुआ है सही ।

अपने पर आफत मोल लेकर अन्य को उबारे

कांताबहन का आज को आये हुए पत्र में है कि 'एक बार पूज्य बा, सिद्धार्थ आदि के साथ श्रीरंगम से घोड़ागाड़ी में वापस लौटते घोड़ागाड़ी रास्ते में अकस्मात् अलग हो गई, ठीक उसी समय, उसी दिन वे अमहदाबाद शहर में से आश्रम साइकिल पर जाते थे । वे स्वयं, उनका (उनका यानी पूज्य बा आदि का) उस समय पर उनको गाड़ी के प्रत्यक्ष अकस्मात् दृश्य का प्रत्यक्ष ख्याल प्रकट होते वे भी गिर गये थे । उस अकस्मात् की हकीकत हमारे पत्र द्वारा वे जान सके उसके पहले, अकस्मात् हुआ उसी तारीख को वह बाबत कविता के

रूप में और उस कविता की किसी एकाध-दो पंक्ति में वह प्रसंग सूचित किया था ।'

दूसरों का अपने शरीर पर ले लेना

हमारा एक **जीवात्मा** के साथ अति निकट का परिचय था और है । अमुक अमुक **जीव** के शरीर को जो कुछ होता वह, वह **जीवात्मा** के शरीर के होता वह हमने स्वयं अनुभव किया है । वह कोई एक दो बार नहीं हुआ है । नहीं तो फिर कौवे का बैठना और डाल का टूटना उसकी तरह भी लोग गिन लेते, पर यह तो वैसे प्रसंग की परंपरा हुई या बनती अनुभव की है । हमारे मन के मोड़ और भावों को वे परख लेते थे, यह ठोस बात है । वे हम सभी को संसारव्यवहारक्षेत्र की बात में भी उच्च प्रकार की समझ प्रेरति करते थे । संभव हो, उतनी उच्च भावना से जीवन में वर्तन करने की सद्भावपूर्वक की प्रेरणा तो दिया ही करते थे, पर हम सब उस हद तक पहुँच नहीं पाते थे ऐसे उनके कुछ कुछ अनुभव हैं ।

चेतनाशक्ति के प्रसंग

हेमन्तभाई जब उस **जीवात्मा** को मात्र मित्र के रूप में पहचानते थे, उस समय जब वे शिरोही में बीमार होकर रहे हुए थे, तब उनको नवसारी से मिलने जाने का उस **जीव** ने किया था । मात्र वे वहाँ तीन दिन रहे थे । उन तीन दिनों में ही उनके (हेमन्तभाई के) शरीर का वजन डेढ़ सेर बढ़ा था । (और उनके जैसे के लिए डेढ़ सेर बढ़ना वह जैसा तैसा

नहीं है ।) दूसरे एक प्रसंग में उनका शरीर बीमार था । वे दवा लेकर उनके साथ आये थे । बाद में तो दवा लेने का भी नहीं किया और उनके पास मात्र रहने की ही दवा से उनके शरीर का वजन दस सेर बढ़ा था । उनके शरीर की स्थिति इतनी अधिक खराब थी, और कितनी अधिक कमजोरी रहा करती, वह तो स्वयं जानते हैं । आज उनका शरीर पहले की तुलना में अधिक अच्छा है । वे आज पाँच-छः मील तो आराम से चल सकते हैं । पहले तो दो फर्लांग चलना भी संभव नहीं था । १९३८ की साल या उससे पहले उनके पूरे शरीर में बहुत ही खुजली आया करती थी । जब देखो तब उन्हें खुजली करते ही देखा करते ।

उनके इस जीवनविकास के मार्ग के सम्बन्ध के भाव बाद उनके शरीर की वह खुजली तब से गई वह गई है और उनके उस **जीवात्मा** के शरीर में वह चढ़ी हुई है, वह कैसा बड़ा ठोस अनुभव है ! एक समय वे स्वयं बनारस में थे और हेमन्तभाई को खाज की पीड़ा विशेष थी, इसलिए उसने स्वयं हेमन्तभाई के लिए दो तार किये । एक डॉक्टर को और दूसरा अन्य । डॉक्टर ने उनकी सेवा तो की पर पूज्य बड़ी बा ने हेमन्तभाई की दवा की उनको मिटाया, पर उस समय उस **जीवात्मा** के शरीर पर वह पीड़ा वहाँ उद्भव हुई थी, उसका बाकी रहा चिह्न आज भी उनके बायें हाथ की कोहनी के आगे रहा हुआ है । ऐसी घटनाओं की चक्रमाला है । उसने स्वयं

प्रभुकृपा से अपने आपको जिस अनुसार बरतनापन था, वह प्रेमभाव से बरतकर ही बतलाया है । दूसरे **जीवों** के संबंध में भी वैसे वैसे अनुभव हैं ही ।

एक बार वे किरापट्टी में थे (ट्रिचि निकट) । उनके पेट में बहुत दु:खना शुरू हुआ और वह तीन दिन तक रहा । उस समय हमारे मित्र... की पत्नी अ. सौ.... बहन को प्रसव की पीड़ा हुई थी, और वह तीन दिन बाद ठीकठीक हुआ था । तारीख भी समान आयी थी ।

स्वजनों के रोगों का असाधारण इलाज

जो जो **जीव** उनके नजदीक के संबंध में आये हैं, और जिनके साथ का कुछ हृदय के स्वजन के जैसा संबंध हुआ है, उन उन प्रत्येक **जीव** के उनके उनके शरीर की बीमारी और रोग उस **जीवात्मा** के शरीर ने प्रेमभाव से भोगा किया है । वैसे सही और सचमुच के अनुभव उनके अनेक स्वजनों को हुए हैं । कोई उससे मना कर सके ऐसा नहीं है । प्रत्येक के साथ हृदय की सहानुभूतिपूर्वक का तादात्म्य-एकता का भाव सहजता से प्रकट होने पर उनमें वैसा हो जाता रहता है । उसके शरीर में तो ऐसा कितना ही हुआ करता होता है ! कितनी ही बार तो आकर के गुजर जाता है, कितनी ही बार शरीर के आधार में थोड़े समय के लिए वह टिके भी सही ।

सभी पर प्रेमभाव

एक बार... बा के यहाँ वे रहते थे । पीढ़ी में पूज्य मामा और बड़े भाई आदि रहते थे । घर में एक छोटी बेटी, उस

समय तो छोटी, पर रसोई आदि का काम सिखलाना चाहिए उतनी उम्र की तो सही । इससे उसे रोज जल्दी वह उठाये । चूल्हा किस तरह से सुलगाना है यह बतलाये । रसोई उसके पास ही करवाने का होता । सुबह में तो वह जल्दी रसोई करके कुछ खाकर मिशन की कोन्वेन्ट की शाला में चली जाती । इस लिए खाना तो लगभग साढ़े आठ बजे लगभग जल्दी हो जाता और पौने नौ के बाद तो वह बस की राह देखती, बरामदे के पास खड़ी खड़ी या बैठ बैठकर पढ़ती । उस लड़की के पिता रोज दोपहर में सवा बजे पीढ़ी से घर आते । उस बेटी की बा उपस्थित हो तो उसके पिता को रोज गर्म ही खिलाती न ? और साढ़े आठ बजे में खाना हुआ हो, वह कोई सवा या डेढ़ बजे तक गर्म थोड़े ही रह सकता है ? इसलिए दोपहर के पौने ही बजते ही चूल्हे में कोयले डालकर उसे सुलगाकर सारी रसोई गर्म कर ले कि जिससे उनको भोजन गर्म मिल सके ।

वे तो उस **जीवात्मा** को ऐसा ही कहते हैं कि '....! ऐसी तकलीफ आप लेते हो, यह तो बिलकुल अच्छा नहीं लगता, मुझे तो जो भी सब ही अवश्य चलेगा ।' परन्तु उस **जीवात्मा** को तो काम करना था, भावना के खातिर, इससे जो भी **जीव** को उगने जैसा हो तो उगे कि उनके हृदय का प्रेमभाव सब पर कैसा है ! सबके लिए तो वे मथते ही रहते हैं । दूसरे प्रिय और अमुक अप्रिय ऐसा उनमें तो कुछ ही नहीं

है। इससे वे उनको कहते, 'भाई ! कहाँ किसके खातिर करना होता है ? जो भी सब भावना के खातिर ही होता है। हृदय की भावना यदि सच्ची हो तो सब कुछ अपने आप हुआ करे।'

गर्म रसोई का प्रसंग

अब, एक दिन ऐसा हुआ कि पूज्य मामा और बड़ेभाई साढ़े ग्यारह बजे... बा के यहाँ घर पर आये और बातों ही बातों में एक बजने आये और सवा बजे तो वह भाई पीढ़ी से घर आ गये और हम भोजन करने बैठे, पर कोई मानेगा ? रसोई तो ऐसी की ऐसी ही गर्म थी। दाल आदि भी गर्म की गर्म ही थी और वह भी अच्छी खासी गर्म थी। रसोई तो हो गई थी साढ़े आठे बजे में ही। भोजन करने बैठे तो लगभग डेढ़ बजे। चूल्हा तो बिलकुल ठंडा पडा हुआ था। वह स्कूल जाती लड़की संपूर्ण ठंडा करके जाती थी। इतने अधिक घण्टे तक रसोई ऐसे की ऐसी बिना गर्मी के रहने पर भी अच्छी खासी गर्म रही हुई, यह हमारे दोनों के प्रत्यक्ष अनुभव की हकीकत है।

भावना के प्रचंड बल के यह सभी सबूत

इसलिए, भावना का बल प्रचंड होता है। इससे प्रत्येक बार ऐसा ही होगा, ऐसा कोई उसका नियम नहीं होता है। यह तो कुछ कुछ कैसी कैसी संभावनाएँ ऐसे आध्यात्मिक जीवन में पड़ी हुई हैं, यह समझने के लिए बतलाया है। ऐसी हकीकत मात्र कल्पना नहीं होती इतना तो निश्चित है। भावना

की उत्कटता के कारण ऐसी हकीकत संपूर्ण वास्तविकता रूप से उसकी ठोसता में सचमुच बनती होती है ।

एक *जीव* को प्रकट हुई एक धुनता की मंत्रमुग्धता की दशा

एक स्थान पर किसी एक **जीव** को मौनएकांत चलता था, एक दिन संध्या के समय के बाद भाई कुमार को यहाँ मौन के कमरे के आगे, उन्होंने जप करने का सूचित किया । उसके बाद उस भाई का, उस कमरे के आगे, दसेक मिनट जप करने का हुआ । उसके बाद तो उनको ऐसा भाव जागा हुआ कि रास्ते में घर जाते जाते जप बोलते बोलते वे गये । घर जाने के बाद भी आधे पौने घण्टे तक एक धुनता की मंत्रमुग्ध दशा में वे रहा करते थे । **यह जीव** भी उनके पीछे पीछे उनके घर जाकर के उनकी स्थिति देख आया था, पर उनको उस हकीकत का पता नहीं था ।

एक *जीव* को विचारशून्य दशा का अनुभव

एक बार एक पूज्य बुजुर्ग की एक ऐसे प्रकार की दशा प्रकट हुई थी कि एक विचार तक भी मन में नहीं आ सकता था ।

उच्च भूमिका का भरोसा, पर फिर...

यों, जो जो **जीव** उनके संबंध में आये हुए हैं, उन्हें उन्हें किस तरह से ऐसे अनुभव हुए हैं कि जिससे उन्हें अपनी **जीव**दशा से किसी उच्चतर से उच्चतर भूमिकाएँ हैं ही, ऐसा

निश्चित यकीन से उनके दिल में दृढ़ता से बस जाय। यदि ऐसे **जीव** प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त भाव से जीवनविकास की भावना के साधन में जाग्रतरूप से उनके दैनिक व्यवहारवर्तन में जीवित रह सके होते तो उन्हें **इस** मार्ग की कुछ अधिक सूझबूझ आ गई होती।

• • •

कुंभकोणम्   हरिः ॐ   ता. १५-४-१९५३

मिले हुए *जीवों* में पर्याप्त योग्य साफदिली नहीं है

तुम पर लिखे हुए पत्रों द्वारा सभी स्वजनों को **यह जीव** संबोधित कर रहा है। प्रभु की कृपा हो, तो किसी को भी शांति से, चैन से बैठने ही न दूँ। श्रीहरि के प्रेमभावयुक्त, मुग्ध कर दे ऐसे स्मरणभाव बिना कहीं भी चैन न पड़ने दूँ। किन्तु **इस जीव** का उसमें कुछ चलता नहीं है। वैसे वैसे स्वजन के दिल का भी उस उस बात में सचमुच का साथ हृदय के उत्साहभरा, थिरकते आतुरतावाला कहाँ मिला करता है ? अभी तो वैसी खुजली मात्र भी थोड़ी बहुत प्रकट हुई हो तो प्रकट हुई हो। **इस जीव** का यदि प्रभुकृपा से चल सकता हो, तो तो प्रत्येक स्वजन से इस संदर्भ का जो कुछ कहना करने जैसा होता है, उस बात का इतना तो स्पष्ट दर्शन प्रभुकृपा से उन्हें बतला दे सकते हैं कि जिससे वे स्वयं अपना स्पष्ट दर्शन कर ले और मानो कि वैसा उनके बोलने में उनकी प्रकृति-स्वभाव का जोश कितना है और कैसे प्राण उनके उस बोलने रूप में रहा

हुआ है ! वह उनका बोल जीभ का है, गले का है या हृदय का है, वह सभी उन्हें उन्हें बतला दे सकते हैं ।

वचनपालन इस भाव से होना चाहिए

ऐसा भी संभव है कि जिस **जीव** का जिस समय में जैसा मन का भाव हो, वैसा वह बोलता हो, और उस समय पर्याप्त उसके मन का जो भाव उसे सानुकूल उसका बोलनापन हो और उस समय पर्याप्त वह यथार्थतावाला भी हो । इसलिए वह असत्य बोलता हो ऐसा न भी हो, परंतु जीवनविकास के आदर्श से यदि जीवन को बिताना हो तो उस प्रकार के व्यवहारवर्तन से उस मार्ग में चल सके वैसा नहीं है । **स्वयं जो जो बोले हों, उसे मृत्यु को स्वीकार करके भी, योग्य आचरण में प्रकट करके,** पूरा पालन करने का हम में उत्साह पैदा होना चाहिए । फिर, ऐसा वचनपालन करने में और आचरण करने में हमारे किसी भी करण की दशा सख्त से सखत, तंग से तंग नहीं होनी चाहिए । उलटा वह वचन को आकार देने के समय में स्वयं अपना ऋण चुकाया करता है, ऐसा ज्ञानभान प्रकट होता यदि प्रत्यक्ष जीवन्त रहे, तो हम अत्यधिक हलके होते चले जायेंगे । उस पल में वैसा होता अनुभव न कर सके, वैसा हुआ करते समय में यदि कहीं भी कुछ भार लगा या अशांति हो या कचवाट खड़ा हो, कुछ नापसंदगी होती लगे, कुछ अकुलाहट अनुभव होती हो, कोई घबड़ाहट या खराब लगे तो जानना कि वचन के पालन में

हृदय की भावना की प्राणचेतना उसकी यथार्थता में बिलकुल प्रकट नहीं हुई है ।

कर्म से तो शुद्ध आनंद मिले

इसप्रकार, कैसा भी कष्ट उठाकर लाखों मन कर्म किया करें, पर जिस कर्म में हृदय का उत्साहभरा आनंद न प्रकट हो, न स्फुरित हो तो वैसे करोड़ों खांडी* कर्म से जीवन का कभी निर्माण नहीं हो सकता । कर्ममात्र तो जीवन के गढ़न लिए है । इसलिए हमें सोचना चाहिए कि हमें जो भी कर्म करते करते उसमें जीवन के लिए का, उसके हेतु लिए का योग्य ज्ञानभान जीवित रहता कि नहीं ? यदि जीवित रहता हो तो उस कर्म में आनंद, भावना प्रकट हुआ करते हैं कि नहीं यह हमें समझना होगा ।

बलपूर्वक कर्म करने से तो *जीव*दशा अधिक ठोस होगी

केवल प्रथा की रीति से,, एक चक्रमाला की रीति से, सुबह से लेकर शाम तक एक चालू कार्य की चक्रमाला मानो पार उतारा करते हों उस तरह से, कर्म किया करने में सार नहीं है । कर्म करते करते संताप, मुश्किल से लगने का अनुभव हो, त्रास अनुभव हो, अशांति लगे, घबड़ाहट, क्लेश, संताप, अकुलाहट, व्यग्रता आदि आदि सब लगे तो उस तरह से होते जाते कर्म तो बिलकुल मिथ्या हैं और उलटा **जीव** को **जीव** की दशा में उस तरह से होते जाते कर्म अधिक दृढ़ता से जकड़नेवाले होते हैं यह निश्चित समझना ।

---

* बीस (कच्चे) मन का एक तौल

हमारे कर्म 'उलटे बंधनकारक' होने के कारण

हम कर्ममात्र जो किया करते हैं, वैसा कर्म तो **जीव**कक्षा को उलटा अधिक दृढ़ीभूत करनेवाला होता है । हम जो जो कुछ करते हैं, वह आघातप्रत्याघात से प्रेरित होकर करते होते हैं और आघातप्रत्याघात की भूमिका यानी तो किसी न किसी प्रकार की क्षुब्धता की दशा और ऐसी दशा तो **जीव** को अधिक बाँधनेवाली होती है । यह हकीकत समझ में आये ऐसी है । **रागद्वेषादि द्वन्द्वों से मुक्त प्राप्त हुई दशा से जो कर्म हो वह सही रूप से तो कर्म गिन सकते है । जो कर्म जीवनविकास के हेतु के ज्ञान से और उस भावना से आचरित होते हैं, वैसे कर्म स्वयं ही यज्ञनारायण स्वरूप में प्रकट हो करके वैसे कर्म शक्तिप्रेरक जीवन में हो सकते हैं ।** ऐसे शक्तिप्रेरक कर्म वही सच्चे ढंग से जीवन को पलटनेवाले हो सकते हैं । उस प्रकार के कर्म वे मात्र स्थूल कर्म नहीं होते, पर जीवन में शक्ति को प्रकट करनेवाले संगीन आधाररूप से हो जाते हैं और अंत में तो ऐसे कर्म वही शक्ति है ।

भोगने की इच्छा भी बंधनकारक

फिर, उसी तरह कर्म के परिणामों को जो **जीव** की भोगने की वृत्ति रहा करे, कर्म करते करते उसे भोगने में ही, जिस **जीव** की दृष्टि, वृत्ति, भाव रहा करते हैं, कर्म को मात्र भोगने की जिसे लालसा और मजा आती है, वैसे **जीव** को तो वह वह कर्म उस उस ढंग से बंधनकारक हैं ।

योग्य कर्म के माप

कर्म कितने भी उत्तम प्रकार के हो, तब भी कर्म में कर्म के प्रकार का मात्र जड़ भान होना, वह जीवनविकास के लिए अयोग्य है । कर्म में कर्म के क्षेत्र का ज्ञानभान होना करने से कर्म करनेपन का मूल आशय और उसे आचरण करते समय ज्ञानयुक्त भावना प्रकट हुई होनी चाहिए । तथा शांति, समता, प्रसन्नता, धीरज विवेक आदि वह वह कर्म आचरण करते समय हम में प्रकट हुए हों और समझपूर्वक के वे कर्म हुए करते हों, तो वैसे कर्म जीवनविकास के लिए तो खास आवश्यक हैं । जीवन का कोई भी सच्चा अभ्यासी है, जीवन का योग्य जानकार है, वह उपरोक्त हकीकत से मना नहीं कर सकता है ।

सुस्त ढंग के कर्म से लाभ नहीं है

बाकी, **जीव**प्रकार की वृत्ति से होते कर्म तो जीवन को उलटा अधिक कुचल देते हैं, यह निश्चित जानें । इस तरह से तो कर्म को हम कभी न करें । हमें जीवन को तो सुलझाना है कि जीवन को अधिक से अधिक जटिल, वक्र, उलझा हुआ, व्यग्रतावाला और ऐसा ऐसा बनाना है ? अरे ! साधना की बात ही जाने दो न ! पर यदि जिसे जीवन में एकमात्र शांति ही अनुभव करनी हो तो उस प्रकार के **जीव** को भी कर्म को मात्र सुस्त ढंग से करने से कुछ भी लाभ नहीं है । उलटा उससे तो जीवन को अधिक विपरीत ढंग से अस्वीकार करने का होता है ।

सेवाकार्य की यथार्थता

मेरी तो ह्रदय की प्रार्थना है कि हम सभी जो **जीव** सेवा के क्षेत्रे में पड़े हुए हैं, ऐसे **जीव** भी कर्म का रहस्य, कर्म का महत्त्व और कर्म करने की कला आदि के बारे में, कर्म करने से करके जीवन में विकास की योग्यता प्रकट हो, उस तरह से कर्म को समझें, यह अत्यधिक आवश्यक है । कर्म को आचरण करते समय पर जीवनविकास के योग्य प्रकार की जीवन्त भावना जीवित रख सके, तो यह भी एक जीवन्त कला है । सेवा के कर्म से भी यदि हमारे जीवन का या दूसरों के जीवन का विकास होते किसी न किसी ढंग से न अनुभव कर सकें तो फिर कर्म कितना भी उत्तम हो, तब भी वह यथार्थ नहीं ही है । सेवा के कर्म किसलिए ? जिसके द्वारा हमारे जीवन के रागद्वेष फीके हों, जीवन हमारा निम्नगामी वृत्तिओं की पकड़ से मुक्त होते जाये, जीवन में शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता, धीरज, विवेक आदि गुणों की प्रेरणात्मक प्राणवान संचालकता की शक्ति उस उस कर्म करते समय में प्रकट होती जाती हम अनुभव कर सकें, तो तो वैसे कर्म यथार्थ प्रकार के हैं ।

कर्म से कर्म का उत्तम योग्य ज्ञान भी प्रकट होता हुआ अनुभव कर सकते होना चाहिए । जीवन के लिए कर्म है, कर्म केवल कर्म के लिए नहीं है । कर्म कहीं किसी दूसरे के उद्धार के लिए नहीं है । कर्म तो अपने जीवन के उद्धार के लिए है,

वैसी भावना प्रधानतः कर्म के आचरण में ज्ञानपूर्वक हमारे में जीवन्त प्रकट हुई होनी चाहिए । सेवा के क्षेत्र में पड़े हुए हम सब **जीव** वर्षों के वर्ष तक उसमें पड़े हुए हैं । वैसे **जीवों** में से ऐसे कितने हैं कि जो हृदय पर हाथ रखकर कहें कि वे रागद्वेष से फीके पड़े हुए हैं ? कर्म करते करते उपर बतलाये हैं, ऐसे गुणों की शक्ति कितनों ने स्वयं में प्रकट हुई अनुभव की है ? फिर, सेवा का कर्म वह गांधीजी ने बतलाये मार्ग का ही कोई न कोई एक प्रकार का कर्म करते हों तो ही वह कर्म सेवा का गिना जायेगा ऐसा तो कुछ भी नहीं है ।

जो कर्म हमारे जीवन की सच्ची सेवा कर सके वैसा हो, तो वैसे कर्म से दूसरों की भी सेवा हो सकती है । मेरा हेतु सेवा न करने का नहीं है । वह तो करनी चाहिए । पर सेवा किसलिए, किस हेतु के लिए, वैसे उसके करने के हेतु का प्राणवान ज्ञानभान हम में पूरी तरह से प्रकट हुआ होना चाहिए । जीवन को अधिक उदात्त, अधिक विशाल, अधिक उच्चतम कक्षा का प्रकट करने के लिए वैसे वैसे कर्म हैं । जीवन के **जीव**प्रकार के भाव टला करें, यानी कि द्वन्द्वादि वृत्ति बिलकुल फीकी हुआ करे, द्वन्द्व ही अन्त में तो हट जाय, वैसा प्राणवान हेतु और उसका प्राणवान प्रत्येक कर्म करते समय पर हमें झनकार और चुनौती देते हुए ज्ञानभान प्रकट हुए होने चाहिए ।

सेवा करनेवालों का भ्रमणात्मक आत्मसंतोष

अंत में अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा भी रागद्वेष की मुक्ति के बिना कभी भी नहीं हो सकती है, यह निश्चयरूप से मानना और समझना । 'अहिंसा' 'अहिंसा' करने से कुछ अहिंसा कभी प्रकट नहीं होगी । अहिंसा प्रकट होने और प्रकट करवाने के लिए भी भूमिका की आवश्यकता रहती है । **इस जीव** ने बीस बीस वर्ष सेवा के क्षेत्र में ज्ञानपूर्वक बिलकुल मौन रहकर काम किया हुआ है । सेवा का कर्म भी स्वयं के जीवन के लिए है, अपने जीवनविकास के लिए है । सेवा के क्षेत्र के कर्म को करनेवाले **जीवों** के बहुत वर्षों के पूरे सहवास के बाद, श्रीप्रभुकृपा से कहने की आज हिंमत करता हूँ कि वैसे **जीवों** को जीवन क्या और फिर जीवन का उद्धार क्या, ऐसी कुछ भी पड़ी नहीं होती है । ऐसे तो बिलकुल कर्म के मात्र चौखट के अनुसार ही कर्म किया करते होते हैं । ऐसे कर्म से प्राणचेतना किस तरह से प्रकट हो सकती है ? हाँ ! अवश्य कर्म हुआ करते हैं, ऐसा एक प्रकार का गलत आत्मसंतोष प्रकट हुआ करता है, जिससे सभी छला करते हैं । बीस बीस वर्ष की सेवावाले सेवकों जीवन को प्रमाणिकता से जाँचे कि स्वयं अपने जीवन में कितनी शांति, समता, प्रसन्नचित्तता, विवेक आदि गुणों की जीवन्त शक्ति प्रकट कर सके हुए हैं ? हाँ, अवश्य ऐसे तो कुछ होंगें ही, उसकी ना नहीं है, परन्तु अधिकतर लोगों को जीवन की पड़ी हो ऐसा लगता नहीं है ।

कर्म का हेतु जीवन को पार लगाना है

सेवा के कर्म तो सब किसी को करने होते हैं, उसमें भी जीवनविकास की भावना प्रकट करने चाहते **जीव** को तो, सकल होते रहते कर्म ज्ञानभक्तिपूर्वक के ज्ञानभान के साथ प्रभु-प्रीत्यर्थ ही किया करने होते हैं । फिर भले उस कर्म में अपने व्यक्ति समाहित हो या दूसरे **जीव** जुड़े हुए हो ।

हमारे कर्मों द्वारा यदि जीवन के रागद्वेष फीके कर सकें और दूसरों को वैसा करने में मददरूप प्रभुकृपा से यदि हो सकें, और कर्ममात्र का मूल हेतु जीवन को किसी न किसी तरह से ऊपर उठाने में रहा हुआ है, उसके बिना कर्म का कोई जीवित हेतु ही नहीं हो सके । ऐसी समझ और उस अनुसार का जीवनव्यवहार कर सके, तो ऐसे कर्म यज्ञभाव से करने करवाने में यदि हम थोड़ेसे भी उनकी कृपा से उपयोगी सिद्ध हो सके तो क्या वैसे कर्म 'सेवा' नहीं हैं ?

सेवा के कर्म तो हलके होने के लिए हैं

कर्म में कर्म के उदय अनुसार और उसके हेतु के लिए वे फलित हुआ करे, और कर्म में से कर्म आचरण करने की योग्य उत्तम कला प्रकट हुआ करे वह हमें समझते रहना है ।

जो स्वयं ही ऐसे कर्मों से यदि हलके नहीं हो सकते, तो फिर वैसे **जीव** दूसरों को क्या हलका कर सकते हैं ? हाँ, अवश्य 'हल्ला' हुआ करे और प्रचार भी हुआ करे, पर वह सब ऊपर ऊपर से । रागद्वेष बढ़ेंगे, घटनेवाले तो नहीं हैं ।

अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा

अहिंसा की सच्ची, जीवन्त प्राणप्रतिष्ठा तो रागद्वेष की मुक्ति के प्रदेश की हकीकत है । इससे हमें यदि यथार्थ अहिंसा की जीवन में प्राणप्रतिष्ठा करनी हो, तो जीवन के वर्तन, व्यवहार समय में हम से द्वन्द्ववृत्ति कैसे हटा करे, उस पर हमारी सारी दृष्टि, वृत्ति, भाव जीवित रहने चाहिए । सकल कर्म द्वन्द्वादि पाश से मुक्ति पाने के लिए हैं, उसका प्राणवान ज्ञानभान हम से होते जाते प्रत्येक कर्म में प्रकट करते रहें, तो ही वे वैसे हो सकते हैं । रागद्वेष टालने के सम्बन्ध का महत्त्व ही हमारे लोगों के जीवन में जीवन्त प्रमाण का जहाँ समानरूप प्रकट हुआ दिखता न हो, वहाँ वैसे हम कर्म आचरण के समय उसका (रागद्वेष टालने का) ज्ञानभान तो किस तरह से रख सकनेवाले थे ? ऐसी किसको पड़ी है ? जीवन की कक्षा को आमूलाग्र रूप से परिवर्तन कर सके और जीवन में सचमुच काम दे सकें, तो वैसी अहिंसा वास्तविक रूप से सच्ची हकीकत है, पर उस प्रकार की चेतनयुक्त अहिंसा कुछ तुम्हारे मेरे जीवन में जो है, उसे अहिंसा कहना वही हमारा तो निरा अज्ञान सूचित करता है । सही रूप में शक्तिप्रेरक अहिंसा विकसित करना ही सच्चा ज्ञानभान भाग्य से ही किसी में प्रकट हुआ अनुभव होता है ।

सेवा अपने जीवन उद्धार के लिए

इसलिए सेवा के कर्म अवश्य करने हैं, पर जिससे हम भी यथार्थ शिक्षित होते रहें, वही महत्त्व का मूल हेतु प्राणवान

हम से होते रहते सेवा के कर्म में रहा करता हो, **कर्ममात्र दूसरों के उद्धार या सेवा के लिए नहीं है, पर अपने उद्धार या सेवा के लिए हैं, ऐसा प्रचंडरूप से महत्त्व उत्कट ज्ञानभान के साथ यदि प्रकट हुआ रहा करे, तो तो हम स्वयं चेते हुए प्रभुकृपा से रह सकते हैं।** आप सभी में से ही **यह जीव** भी एक है। सेवा किस लिए ? क्या करने को ? इसका हेतु क्या ? ऐसी सेवा कैसे कैसे गुणों को जीवन में स्थापन होने से उत्तम ढंग से हो सके। ऐसे गुण विकसित करने के लिए किस तरह के कर्म करने चाहिए ? यह हम सबको सोचना है और सीखना है।

ज्ञानपूर्वक होती सेवा से प्रकट होते गुण

इस तरह से यदि सेवाकर्म की योग्य साधना हुआ करती रहे, तो हम में अपने आप ही मतसहिष्णुता, परस्पर के लिए योग्य प्रकार की सहानुभूति, परस्पर को योग्य ढंग से समझने की शक्ति, परस्पर को योग्य न्याय देने की प्रमाणिकता और वफादारी, हमारे अपने जीवन की नकारात्मकता को उसके सभी पहलुओं से समूल उन्नयन करने की शक्ति, हमारे क्षेत्र से दूसरे ढंग कर्म करनेवाले के आदर्श को योग्य तरह से समझकर उसका भी सच्चा मूल्यांकन करने की दृष्टि आदि गुण हमें प्राप्त हो। सेवा की मूल भावना में तो त्याग, बलिदान, समर्पण का यज्ञ सहज चला ही करता होता है, इसमें तो **जीव**प्रकार की सारी वृत्ति ज्ञानपूर्वक होम हुआ करती हो, स्वयं निष्कामी बनते

उसमें से ज्ञानशक्ति का प्रकट होना, ऐसा ऐसा सब हमारे जीवन में विकसित होते जाते अनुभव कर सकेंगे ।

यदि ऐसा हुआ होगा तो तो हमारे सेवा के संघ में और वैसे कार्यो में सुमेल, संवादिता, प्राणचेतना, एकराग, तादात्म्य, एकभाव प्रकट हुआ करेंगे । बाकी तो कोई एक चेतनवान प्राणचेतनायुक्त आत्मा की बांग (हृदय की पुकार) जहाँ तक पुकाराती होगी, वहाँ तक उसे और उसके आसपास समूह की तरह हम सभी चिपके रहा करेंगे ।

अहिंसा की सेवाभक्ति का महत्त्व

स्वतंत्ररूप से जीवन के प्रश्न को आमूलचूल सोचने की जीवन्त शक्ति कितनों में है ? इसलिए हम सबको सेवा करनी हो, और वह अहिंसा के द्वारा करनी हो, तो अहिंसा जीवन को सच्ची, और उसके योग्य अर्थ में विकसित करें इस तरह से काम दे सकें ऐसी होने के लिए, उसकी (अहिंसा की) सेवाभक्ति जीवन में किस तरह से आचरण करनी हो, उसकी साधनाकला भी पूरी तरह से जान लेनी चाहिए । अहिंसा के प्रकार और अहिंसा की चेतनात्मक शक्ति जीवन के अलग-अलग तबके में और जीवन की अलग अलग कक्षाओं में अलग अलग प्रकार की व्याप्त होती है ।

सेवा के क्षेत्र में काम करनेवाले संसार के दूसरे क्षेत्र के कर्मचारिओं को उन उनके जीवन के कुछ कुछ अवगुणों को (उदा. के रूप में व्यापारी वर्ग या ऐसे इतर प्रकार के **जीवों**

के दोषों को) बतलाया करता है, यह हकीकत में भले सच हो, पर इससे रागद्वेष घटनेवाले नहीं हैं, उलटा बढ़नेवाले हैं, यह निश्चित जानना जी ।

स्वसुधारणा के द्वारा होती उत्तम सेवा

पर उससे अच्छा हम स्वयं अपने आपके ही जीवन के अवगुणों और दोषों को चुनचुनकर उसका मूलच्छेद करने में लीन रहा करें, तो वह उत्तम से उत्तम सेवा है । हम सब हमारी अपनी पंचायत से दूसरों की पंचायत में अधिक पड़ गये हैं । सेवा करने का सच्चा, सही, उत्कट उत्साह हम में से कितनों में प्रकट हुआ है ?

अपने आचरण द्वारा ही समाजसुधार हो

जीवन के आदर्श को कर्म द्वारा जीवन में प्रकट करनेवाले **जीव** ही वैसे आदर्श को उसकी भावना को दूसरों में जन्म देने को शक्तिवान हो सकते हैं । आदर्श की भावना केवल मुँह से बोलने से चेतनावान होते कभी अनुभव नहीं किया है । वह तो हृदय द्वारा ही प्रकट हो सकती है । रागद्वेष से मुक्त होते जाते हृदय का प्रकट होना होता है । जिस आदर्श और उसकी भावना को समाज में किसी ने प्रकट किया हो, उन्हें चेतनवान तो तभी रख सकेंगे कि जब ऐसे आदर्श को और उसकी भावना को सांगोपांग, अधिक से अधिक प्रमाण में, जितने **जीव** जीवन में प्राणवान होकर उस अनुसार कर्म का आचरण करें, उतने और वैसे ही **जीव** उस आदर्श को जीवित रख पाने में समर्थ हो सकते हैं ।

कभी काल भगवान ही वैसा करवाते हैं

बाकी तो आदर्श ऐसे महान आत्मा के जीवन द्वारा प्रकट होकर उसे योग्य ढंग से झेलनेवाले, स्वीकार करनेवाले और ग्रहण करनेवाले कोई नहीं होने से, कुछ काल व्यतीत होने पर वह अपनेआप लय हो जाता है । अमुक समय पर **काल** भगवान, निमित्त प्रकार की आत्मा को प्रकट करके समाज के चक्र जो जैसा चलाना कराता होता है, उस ढंग से **जीवों** को प्रेरित कराता रहता है, यह भी एक समझने जैसी हकीकत है ।

यह लिखने का हेतु

ये सब हकीकत किसी पर टिकारूप से नहीं लिखी हुई हैं । सब एक ही रथ में बैठे हुए **जीवों** में से **यह जीव** भी एक है । हम सभी अपने जीवनआदर्श की बात में यथार्थ जीवित बनें और हम अधिक गहराई से जीवन का विवेक से, सूक्ष्मता से, तटस्थता-समता से, शांति से, पूरा योग्य पृथक्करण कर करके, हमारे जीवनआदर्श को जीवन के सर्व पहलुओं में प्रकट करके उसी अनुसार जीने के लिए कृतनिश्चयी होकर, उसके लिए ही जीवन है ऐसा दृढ़ मरजिया निर्धारण प्रकट करके, उसी लिए ही जो भी सब है ऐसा समझकर ही जो भी व्यवहारवर्तन करते रहें, तो ही जी सकतें हैं । नहीं तो मुर्दे जैसे हम किस तरह से जी सकेंगे ? हम यदि मुर्दे जैसे होंगे, तो वैसे हम समाज को नवचेतनवान किस तरह से करनेवाले हैं ?

कालानुसार वर्तन करके शुभ भविष्य को शीघ्रता से फलित करो

किन्तु **काल** भगवान समाज का निर्माण करना चाहते हैं, और हमारा समाज कठिनाईओं से गुजरते हुए, टकराता, कुचलता, पछड़ाता, लंगड़ाता-लंगड़ाता आगे बढ़नेवाला ही है । हम भी, **काल** भगवान जैसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं, उनके लक्षण पहचान करके, उस अनुसार निर्माण के लिए हृदय के उत्साह के साथ तैयार होते जायें तो हम काल को भी संक्षिप्त कर सकें वह अवश्य समझना । यह सब प्रकरण तो जीवन के योग्य विकास होने के लिए कर्म करना चाहिए उस पर से लिखा गया वैसे लिखता गया हूँ ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. १७-४-१९५३

संत का संग करते *जीवों* के तीन प्रकार

अलग-अलग प्रकार के **जीव** अलग-अलग भाव से और अलग अलग कामना-आशा से संतात्मा के पास जाते रहते हैं । जीवनविकास की भावना प्रकट करने के उत्कट हेतु से जाना हो वही उत्तम स्थिति होती है । इसके बिना दूसरे किसी प्रकार का रस हित-उसके साथ के समागम का तो नहीं होना चाहिए, परन्तु कोई **जीव** इतनी और ऐसी उत्कट भावना से और वह भी जीवनविकास की अकेली मात्र शुद्ध भावना से, संतात्मा के संदर्भ में न मुड़ा हो, वह उसमें **जीव** प्रकार

का कोई न कोई रस तो होगा ही । इस तरह फिर जो पहले प्रकार के **जीव** साधना के प्राण अपने जीवन के दैनिक व्यवहारवर्तन में प्रकट करने के एकमात्र शुद्ध हेतु से भले मिले हो, परन्तु उनमें अभी **जीव**पन होने से वैसे उनके हेतु में भी संपूर्ण कक्षा का शुद्ध होनापन भी तो जीवित हुआ नहीं होता है । बहुत हुआ तो उस काल के वैसे उस **जीव** के mood-मनोदशा, घुमाव और भाव हो, और उस समय उसमें उस प्रकार की भावना हो वैसा पर्याप्त संभव हो । बाकी शायद ही किसी **जीव** में ज्वालामुखी के जैसी धधकती तमन्ना प्रकट हुई होती है । ऐसे प्रकार के **जीव** में उसकी साधना के होते रहते पुरुषार्थ से वैसे **जीव** की उस प्रकार की भावना भी पता चलती रहती है ।

अपने गुरु के पास से ही समझ लेनी अच्छी

सच्ची वस्तु और उसका हार्द समझने के लिए हम जिसे जीवन के गुरु समझे हुए हैं, उसकी और हमारे बीच में कोई अंतर नहीं होना चाहिए । जो भी सब उसके पास से ही समझ लेना हो वही योग्य है । किसी दूसरे के पास से जानने का या समझ लेने का बने तो उसमें अनुचित तो कुछ भी नहीं हो और उसमें संपूर्ण यथार्थता मान लो कि हो तब भी समझ समझ में कक्षाभेद तो रहनेवाला है । मानो कि हमारा गुरु हम कुछ समझने चाहते हों, उस उस समय ही समझाने का न करते हो, तो उसका यथायोग्य कारण भी होना संभव होता है । इसलिए

हमें उस समय पर धीरज रखनी चाहिए । जब उनके पास से ही वह समझना या जानना हो, वह उत्तम है । ऐसा भी संभव है कि उस समय के दौरान हम ही पूछने या समझने चाहते हों, वह अपनेआप हमें समझ में भी आ जाये, परन्तु उसके साथ साथ कहीं कुछ संदेह या शंका के स्वरूप में तो मन में कुछ भी पड़े रहने नहीं देना है । उसका तो योग्य समाधान कर लेना बिलकुल योग्य है ।

हृदय की बात तो हृदय में ही

दूसरे किसी **जीव** के साथ हृदय का संपूर्ण, उत्तम प्रकार का सात्त्विक प्रेमभावयुक्त सुमेल जम गया हो और जीवनविकास की भावना की जिसे सूझबूझ हो, और वह और हम एकमार्गी हों, तो वहाँ वैसी जीवन विषयक बात होने में बाधा नहीं हो, परन्तु हृदय की बात हृदय में ही हो वही इष्ट है । एक तो उसे यथार्थ रूप में हम समझते न हों, फिर, जीवन में श्रेय की भावना प्रकट करने में वह (हमारे अनुभवों की बात) हमें जितनी प्रेरणात्मक हो सकती है, इसके अलावा हमारी जितनी श्रद्धा, विश्वास, प्रेमभक्ति हृदयभाव और जीवन का निर्माण करनेवाले के संदर्भ का हमारा जिस प्रकार का भाव आदि सब जो होता है, वह वह सब उतना और वैसे प्रकार का दूसरे **जीव** में हो ही ऐसा कैसे जान सकते हैं ? फिर, किसी **जीव** में भी उन सभी में उच्चतम कक्षा का होना भी संभव है ।

साधना की बात के योग्य पात्र

फिर, हमारी बात करने के हेतु में भी शुद्धता कितनी है उसका भी किसको पता होगा ? बात करने करने में भी अंतर होता है न ? बात का हृदय परस्पर में एकमात्र शुद्ध सत्संग के हेतु से प्रकट हुआ रहा करता हो, तो वह उत्तम से उत्तम है । उसमें फिर किसी प्रकार के दूसरे **जीव**प्रकार की वृत्ति, विचार, भाव आदि प्रकट न हुए हों, तो वह भी विशेष उत्तम । परस्पर की योग्य प्रकार की समझ के बारे में जीवन में अधिक योग्य प्रकार की प्रेरणा मिलती अनुभव हो, जो अभ्यास विकसित करने की धारणा रखते हों उसमें वैसे समागम से अधिक उत्कटता प्रकट हो अथवा अधिक चेतनता स्फुरित होती अनुभव हो, इसके अलावा उसका अनुभव होते हमें वे **जीवों** या **जीव** योग्य ढंग से समझ सकें ऐसा है कि नहीं अथवा समागम होते योग्य प्रकार से समझ लेते हैं कि नहीं, वह सब भी हमारी समझ में आ जाना चाहिए । हमारी हकीकत योग्य प्रकार से समझाने की संपूर्ण जहाँ संभावना हो, और हृदय का ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक का सद्‌भावयुक्त परस्पर सुमेल प्रकट हुआ हो, वहाँ तो सहज स्वेच्छा से ही हृदय खुलता है । इससे हमारे में उच्च प्रकार की विवेक बुद्धि प्रकट हुई हो तो ही किसके साथ साधना की बात करनी है यह समझ में आता है । इसलिए हमें तो साधारणता से मौन रखना उत्तम है ।

योग्य व्यवहार की एक समझ

'कल एक विचार ऐसा भी आया कि किसी के लिए आंतरमानस में विरोध पड़ा हो और बाह्य वर्तन सुधारने जाये, पर वह अंतर का विरोध तो पुनः पुनः अजागृति का लाभ उठा लेगा। किसी के लिए आंतर-बाह्य अलग भाव हो तो उसे दंभ नहीं कहेंगे क्या ? पहले तो आंतरप्रेमयुक्त सद्भाव पूरा अंतर का अंदर से जागेगा, तो फिर बाह्य वर्तन में अपने आप परिवर्तन होंगे। अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि अंदर जल्दी से परिवर्तन न हो, वहाँ तक बाह्य वर्तन उद्धत बतलाना यह भी योग्य नहीं लगता है। बाह्य वर्तन तो प्रेमभावयुक्त ही रखना होगा। उस प्रेमभाव, सद्भाव के पीछे का हेतु तो योग्य प्रकार का आंतर परिवर्तन प्रकट करने का होना चाहिए। समझ रखने पर भी योग्यरूप से वर्तन नहीं हो पाता है। यद्यपि वहाँ भी समझपूर्वक के हेतु के लक्ष को रखकर एक बाड़ा बाँध लेना चाहिए ।'

यह तुम्हारी उपरोक्त लिखी सब हकीकत और समझ तो सच्ची है ।

समझ के प्रकार

अनेक **जीवों** में योग्य प्रकार की समझ अनुभव में आयी हुई है, पर वर्तन उस प्रकार का होते जाता नहीं है ।' समझ हो तो किसी काल में वर्तन वैसा होगा' इस बात में पर्याप्त योग्य प्रकार की यथार्थता नहीं है। समझ समझ के भी

प्रकार होते हैं । अमुक प्रकार की उत्कट समझ हो तो वर्तन में वह प्रकट हो सकती है । समझ का मध्यम प्रकार हो या कनिष्ठ प्रकार हो तो वह समझ वैसे के वैसे ही उलझी पड़ी रहेगी । समझ बिलकुल ऊपर ऊपर के स्तर की भी हो और खाली दिखलाने को भी हो । समझ में भी एक प्रकार का दंभ प्रकट हो सकता है । अमुक ही समझ अहम् के प्रकार से भी उद्भवित होती है । जीवनविकास के लिए की भावना प्रचंडरूप से प्रकट हुई हो, वैसी भावना की उत्कटता के बारे में तथा वैसी भावना को वर्तन में लाने के लिए कृपायुक्त स्वप्रयत्न से जैसे जैसे व्यवहार हुआ करता है, उसमें से जीवन के संदर्भ में तथा प्रसंगों के संदर्भ में कैसे कैसे व्यवहार करने से जीवन की भावना का प्राबल्य प्रकट हुआ करे वैसी बाबत की उस उस समय में समझ आया करती है ऐसी समझ, और दूसरी एक — जीवन के संदर्भ की उस प्रकार की मात्र अभिरुचि के कारण प्रकट होती समझ — वह दोनों प्रकार की समझ में आकाश-पाताल का अन्तर होता है ।

अंतर से उगी हुई समझ से विवेक प्रकट होता है

जीवन में भावना प्रकट करने के लिए ज्ञानभक्तियुक्त पुरुषार्थ से प्रकट होती जीवन की समझ का प्रकार कुछ अनोखा ही होता है । ऐसी समझ में योग्य विवेक प्रकट हुआ रहा करता है । ऐसी समझ से प्रकट होती भावना से वह **जीव** खींच या बह जा सकता नहीं । उसमें से प्रकट होते वैसे वेसे

विचार, वृत्ति या भाव का वह ज्ञानपूर्वक उपयोग कर सकता होता है। इससे करके दूसरे संसारी **जीवों** की तरह उसके पीछे का उसका हेतु कोई दाँवपेचवाला नहीं होता या प्रपंच का नहीं होता है। उसमें खाली खाली बातें करनी नहीं होती हैं। समझ की कक्षा किस प्रकार की है, उसकी समझ भी साधक **जीव** को प्रकट हुई होनी चाहिए। कहाँ मौन रखना है और कहाँ मौन नहीं रखना, इसका सूक्ष्म विवेक जड़ नियमों से नहीं बना सकते हैं। यह तो सच्चे साधक **जीव** को अपने-आप सूझा करेगा। हमारी समझ से, सामनेवाले **जीव** का योग्य प्रकार का होनापन अनुभव की समझ से लगे, तो उसमें मौन रखना योग्य न भी हो।

इसमें एक ही पंथ नहीं है

'मौन से होते लाभ समझ आते हैं, पर मुझ से मौन नहीं लिया जाता इस कारण से मुझे दुःख होता है, ऐसा उस विषय में जो भी सभी का मेरे संदर्भ का ख्याल क्या गलत नहीं है? पहले मुझे असंतोष था, पर अब ऐसा कुछ नहीं है। मौन लेने से आनंद अवश्य हो, पर उसके सम्बन्ध का मेरे असंतोष को समझपूर्वक दूर करने के लिए प्रयत्नशील हूँ। मानवजीवन में साधना के लिए मौन जरूरी है, एकांतवास की आवश्यकता है। इससे नम्र भी हो सकते हैं, पर वह तो उतने काल तक ही न? तब आपके पत्र ऐसी भावना बढ़ाने के लिए क्या साधन नहीं है? मौन तो महीना दो महीना ले सकते हैं, जब

कि पत्र तो सात-सात महीने सतत चालू ही रहा करते हैं, तब प्रभुपंथ पर जाने के लिए यह साधन क्या श्रेष्ठ नहीं है ? एक ही पथ से अथवा एक ही साधन से साध्य पाया जा सके ऐसा सही ? मुझे सात सात महीने जो लाभ मिलता है, यह क्या सब से कम है ? उलटा वह लाभ कम नहीं है । इतना ही नहीं, पर वह कोई जैसा तैसा लाभ नहीं है ऐसा मुझे तो लगता है । उलटा आपका स्मरण इस तरह से भी विशेष रहता है । इसलिए मौन लेनेवालों से मेरी स्थिति उतरती है ऐसा मैं नहीं मानती हूँ ।'

इस प्रकार का पत्रव्यवहार मौन-अनुष्ठान की तैयारी

'और मौन नहीं ही ले सकते हैं ऐसा कौन कह सकता है ? किसी भी समय पर उसका सुयोग प्राप्त हो सकता है यह तो निश्चित है । और वहाँ तक मैं मौन की आवश्यकता, मौन की गंभीरता और उसका महत्त्व, मौन का रहस्य, मौन से होते लाभ, मौन से होते जीवनविकास की भावना का उत्कर्ष ऐसा ऐसा सब जान लूँ, तो जब मौन लेने का सुयोग प्रभुकृपा से प्राप्त हो, तब वह सब मुझे अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा । मैं ऐसा क्यों न मानूँ कि मेरे जीवन की यह अवधि मौनएकांत के यज्ञ की तैयारी का, और उस भाव में प्रकट होने के लिए उस प्रकार उनकी कृपा से जीया जा रहा हुआ है ?'

प्रसंगों के सम्बन्ध में पत्रों से रचनात्मक भाव की समझ

'और आपने अनेक पत्रों में क्या ऐसा नहीं कहा है कि जैसे जैसे प्रसंग प्राप्त हों, उस प्रसंग में से **जीव** को उस उस

भाव से बरतना है ? उसमें से योग्य आत्मसंतोष प्रकट हुआ करे, उस प्रकार का रचनात्मक भाव स्वीकार करने में **जीव** का योग्य सूक्ष्म विवेक रहा हुआ है । अकारण अर्थ बिना का असंतोष प्रकट करने से या उसमें खींचने या बहा करने में तो सही जीवन का उलटा हम स्वयं ही हाथों से मृत्यु करते रहते हैं । ऐसे गलत असंतोष से करके, अनेक प्रकार की अशांति, कुढ़न, संताप, क्लेश, टकराहट, कलह आदि मन में उपजते हैं । इसलिए जो प्रसंग मुझे मिला करते हैं, उसमें से किस तरह से जीवन को उठाना इसकी रचनात्मक प्रेरणा आपके पत्रों से तो मिला ही करती है । अभी उस अनुसार पूरा जीना ही कहाँ हो पाता है ? पर उन पत्रों से नित्य नित्य आपकी स्मरणभावना के बल से जीवन में कुछ जागृति रखा करने का थोड़ासा भी होता है, वह तो हकीकत है । आपके सहवास में आये हुए दूसरे सभी **जीव** मौनएकांत ले सकें और मुझ से नहीं लिया जा सकता ऐसा मनस्ताप रखा करने से क्या लाभ ? मुझे ऐसा अरमान अब नहीं रहता है ।'

पत्रव्यवहार भी साधना ही

'प्रभुकृपा से जब जैसे संयोग मिला करेंगे, उसमें आपके पत्रों के भावानुसार जीवन में बरतने का सूझा करे यही प्रार्थना है । मुझे कई बार मौन के बारे में अथवा दूसरा मुझे जानने जैसा कुछ हो, तो भाई के पत्रों से मुझे जानना मिलता है, इससे मुझे जानने जैसा कुछ हो, तो वे मुझे कहे या लिखे वैसा उनको

लिखना । उन लोगों को कुछ संतोष होता रहता है । किसी की कुछ पूँजी हो, तो किसी के पास दूसरी कोई हो । ऐसा सतत पत्रव्यवहार–उसे भाव से पढ़ना । भाव से उतारा करें यह भी क्या एक प्रकार की सच्ची पूँजी नहीं है ? मूल से प्रारंभ में आपके तीन या चार ही पत्र आये होंगे, वह मुझे लिख लेने की इच्छा हुई वह भी मेरे सद्भाव और सौभाग्य की बात है । आपने लिखा है कि, 'वर्तमान में तो तुम्हें ही ऐसे पत्र लिखता हूँ । महत्त्व तुम खोजना ।'

उपरोक्त हकीकत में से उसका उत्तर मिल जाता है । पत्र द्वारा मेरी भावना आप पर बढ़े और उस तरह से आपके उतर रहे हुए कृपाभाव को मुझे जीवन में पकड़ना है । इसके अलावा आपकी ओर भाव बढ़ाने के अमूल्य साधन दूसरा है भी क्या ? नहीं मुझसे मैं चाहूँ वहाँ दौड़ आऊँ ऐसे संयोग, नहीं प्रत्यक्ष रोज का सहवास मिले वैसे संयोग, नहीं मौन ले सकूँ वैसे संयोग । इसलिए अरसपरस का पत्रव्यवहार वह भी अच्छे से अच्छा भाव प्रकट करने और बढ़ाने का साधन है । इसलिए मुझे जो मिले उसमें संतोष है । मुझे जो मिले उसका लाभ मैं उठाऊँ और दूसरों को जो मिले उसका लाभ वे उठायें । आप मुझे निमित्त बनाकर पत्र लिखा करते हो, इसका कारण मुझे तो यह समझ में आया है । अमुक बार तो पत्र लिखते समय ही समझ के पर्दे खुलते जाते हैं, वह भी एक आश्चर्य ही है न ? इसलिए जिसे जिसे जो जो आवश्यकता हो वह भगवान पूरी करते हैं ।'

दूसरों के आचरण से चिढ़ें नहीं

उपरोक्त लिखी हुई तुम्हारी समझ बिलकुल यथार्थ प्रकार की है, इससे **इस जीव** को आनंद हुआ है, परन्तु वह मौन का पत्र तुम्हें न देने में हेतु तो शुभ ही था। तुमसे मौन नहीं रखा जाता — अर्थात् तुम्हारे वैसे संयोग नहीं हैं — और उपरोक्त समझ तुमने जो पत्र में लिखी है वैसी योग्य प्रकार की उस हकीकत के बारे में (मौनएकांत के यज्ञ विषयक) समाधानपूर्वक की समझ प्रकट हो गयी हुई है, ऐसा वे वे **जीव** किस तरह से समझ सकेंगे ? इससे उनके किसी कर्म से या वैसे किसी विचार से तुम्हें दुःख पहुँचाने का हो तो वह उनको अच्छा नहीं लगेगा वह भी समझ में आये ऐसा है। हमें कुछ कहीं किसी का ऐसा या वैसा आचरण से चिढ़कर हमारी पुरानी आदत को तो संपूर्ण तिलांजलि देनी है।

भूमिका के कारण से समझ की समर्थता में अंतर

हमारे प्रत्येक प्रकार की समझ में—उसके मूल में ज्ञानप्रकार की यथायोग्यता सचमुच प्रकट हुई है कि क्यों उसका ठीक पृथक्करण करते रहने की अत्यधिक जरूरत है। अमुक समय **जीव** को, स्वयं दूसरे **जीवों** से किसी भी प्रकार से कम नहीं, इस प्रकार का अहम्पन भी उसे इस प्रकार की समझ में प्रेरित कर सकता है। एक ही प्रकार की समझ कुछ कुछ अलग-अलग भूमिका से प्रकट होती है, और वह समझ एक ही प्रकार की होने पर भी उस समझ की समर्थता और

उससे जीवन में प्रकट होते बल, उत्साह, उमंग, उल्लास आदि कितने और कैसे जीवन्तरूप में प्रकट हुए रहा करते हैं, उसका उस पर से सच्चा मूल्यांकन पा जा सकता है, यह जानना ।

अहम् की समझ के भी प्रकार

अहम् के प्रकार से उठी समझ तो मृगतृष्णा के जल जैसी है और शेखचिल्ली के तरंग जैसी है । उसमें से कुछ बल प्रकट न हो सके । यद्यपि अहम् के प्रकार अमुक बार उच्च भूमिका के भी हो सके । उच्च भूमिका में बिलकुल अहम् होता ही नहीं ऐसा तो नहीं है । **जीव**दशा में जिस प्रकार का अहम् हो उसके घायल होने पर भी स्वयं सबकी बराबरी में है अथवा सवाये है इस प्रकार की एक समझ प्रकट होती है । तब आध्यात्मिक क्षेत्र की उच्चतम कक्षा में जो सात्त्विक प्रकार का अहम् होता है, उसमें से जो समझ प्रकट होती है उसका प्रकार भी अलग है । साधक **जीव** स्वयं अंत:करण से ऐसा समझता है कि अकारण जिससे कुछ भी अर्थ तो निकलता नहीं है, ऐसे असंतोष को पोषा करने से तो उलटा वह (असंतोष) अधिक अशांत बनानेवाला, अधिक अकुलानेवाला, अधिक **जीव** को उबालनेवाला, अधिक क्लेश करानेवाला, अधिक जलन जगानेवाला आदि ऐसा ऐसा गुमराह करानेवाला होता है । इससे उसे तो तिलांजलि देनी ही योग्य है ।

प्रसंग का उपयोग वही बड़ा साधन

जीवन में इस प्रकार के असंतोष से सचमुच पछताकर उसमें से जो बच गया है और उबर गया है जो जो प्रसंग

मिलता है वह वह जीवन के योग्य विकास के लिए यथास्थान पर यथायोग्य रूप से है ऐसी समझ जिसके गले पूरी तरह से उतर गयी हुई है और इससे नयी चेतनवान समझ की भावना से जिसने जीवन का निर्माण करने का निश्चयपूर्वक स्वीकार क्रिया है, उसके जीवन की समझ में तो एक प्रकार का समाधानपूर्वक का योग्य संतोष व्याप्त हुआ वह अनुभव कर सकता है सही ! प्रसंग तो जीवन के निर्माण के लिए है, इस प्रकार की ज्ञानयुक्त भावना वैसे वैसे प्रसंग में जीवन्त रखकर जो **जीव** प्रसंग को उस भाव से स्वीकार करके आचरण किया करता है, उसे दूसरे किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं रहती है । मौनएकांत का यज्ञ भी वैसी चेतनयुक्त समझ और जागृति प्रकट करने के लिए हैं यह जानना । तुम्हारी समझ के लिए अवश्य मान पैदा होता है और तुम्हारी समझ जीवन में तुझे योग्यरूप से निर्माण के लिए प्रभुकृपा से ऐसी प्रकट हुआ करे यही प्रार्थना है ।

*जीव*दशा के असंतोष को टालो

कहीं भी किसी परिस्थिति के **जीव**दशा के असंतोष को स्थान ही न देना ऐसे असंतोष से तो जीवन भयानक हो जाता है । यद्यपि ऐसे जागे हुए असंतोष से जलते **जीव** को वैसा वैसा उस प्रकार का भान भी जागता होता नहीं है । **जीव**प्रकार की दशा में से प्रकट हुआ असंतोष तो एकदम परख में आ जाता होता है । इससे तो **जीव** कुहराम मचा देता है । इससे

कुछ कुछ **जीव** तो चिड़चिड़े भी हो जाते हैं । अमुक प्रकार के मानसिक असंतोष के परिणाम से अलग अलग रोग के भोग भी अमुक हो जाते हैं । **जीव**दशा में से प्रकट होते असंतोष के रावण के सिर काटो उतने वापस नये नये प्रकट होते हैं । यह असंतोष अलग अलग ढंग से प्रकट हुआ करता है । और जीवन में न तो अपने को शांति होने दे और न तो जो अपने साथ जुड़े हुए हों उसे शांति होने दे । स्वयं ही अशांत हुआ करे और स्वयं द्वारा अपने साथ में रहे हुओं को भी अशांत बनाते हैं । बाद में कोई अशांत न हो वह फिर अलग बात है । ऐसा असंतोष जिस **जीव** में है, उसे प्रसन्नता कहाँ से हो, तो उसे फिर शांति कहाँ से हो ? उनमें फिर रहने का स्थान क्या हो ? ऐसे **जीव**वाले की दशा से उत्तम प्रकार की समझ प्रकट हो भी किस तरह से ? इस प्रकार के असंतोष से पीड़ित **जीव** तो मर्मवचन कहने में भी या सुनाने में भी पीछे नहीं रहेंगे । स्वयं उससे जलते हो और दूसरों को भी जलाने के लिए उसका उस प्रकार का असंतोष उसे आवेश में लाता है । इसलिए तुम्हारी मौन के बारे में समझ (उस उस प्रकार के असंतोष में से किसी किसी **जीव** की ईर्ष्या - डाह भी पैदा होती है) बिलकुल ऊपर के प्रकार की तरह के असंतोष से प्रकट हुई है, ऐसा तो नहीं है । जीवन में प्रकट हुई दशा में उस दशा का ज्ञानपूर्वक समाधान प्रकट करके जीने में, बरतने में सयानापन रहा हुआ है ।

*जीव*दशा का असंतोष और साधना की उत्कंठा

जीवविकास की भावना बलवानरूप में प्रकट हो, उसके लिए योग्य साधन हो वह यदि हम से लिया जा सके तो योग्य ऐसे प्रकार की उत्कंठा हृदय में जीवित व्याप्त रहा करे तो वह बिलकुल यथार्थ है । इस प्रकार की जो उत्कंठा है, उसमें अति अधीरता हो, और **जीव**दशा से प्रकट हुआ असंतोष और उसमें रही हुई अधीरता – इन दोनों प्रकार की अधीरता में आकाशजमीन का अन्तर है । दोनों की भूमिका ही अलग अलग दिशा की है । इससे उनके बीच समानता का तो स्थान ही नहीं है । योग्य स्थिति होने के लिए साधन के अभ्यास से होती अनुभवदशा के लिए उत्कट आतुरता, उत्कंठा, सद्भावपूर्वक हम में हो यह तो अत्यधिक आवश्यक है । इस प्रकार की धधकती उत्कंठा से करके कितने ही संतभक्तों ने अपना सर्वस्व क्षणभर में समर्पण कर दिया है और श्रीभगवान के चरणकमल में दौड़ गये हैं ।

प्रतिकूल संयोगों के संदर्भ में भाव

वैसा न हो सके वैसे संयोग हों, तो उससे मायूस होने की जरूरत नहीं है, एवं नाउम्मीद हो जाने की भी जरूरत नहीं । धीरज तो पर्याप्त रखना है । ऐसी उत्कंठा से जागी हुई भावना से जीवन के चालू वर्तमान संयोगों में प्रभुस्मरणभावना को प्रकट करने योग्य ढंग से प्रयत्न करने को जीवित रहा करें, तो वैसी जागी हुई उत्कंठा का योग्य उपयोग हुआ गिना जायेगा

अथवा हमें जो साधन मिला हुआ हो, उससे जीवन को उठाने के लिए संपूर्ण प्राणवान प्रयत्न उसकी कृपा से करते रहें, तो ही वह प्राप्त हुआ है, उससे अवश्य कृतार्थ होते रहें वह सत्य हकीकत है और उसकी निश्चितता में थोड़ा भी फर्क नहीं है ।

समर्थ की मदद का प्रचंड आत्मविश्वास

स्वयं को समर्थ मिल गया हुआ है ऐसा जिसे आत्मविश्वास प्रकट हो गया हुआ है, ऐसे **जीव** को साधन मिल ही चुके हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक समझना और मानना । ऐसा हृदय का प्रकट हुआ आत्मविश्वास जबरदस्त परिणाम प्रकट कर सकता है । **इस जीव** के बारे में तुम्हारा अपना सचमुच के अनुभव का ठोस भरोसा आये बिना ऐसे के ऐसे ही तुम्हें कुछ भी मान नहीं लेना ऐसी मेरी तुम्हें बारबार सलाह है । ऐसे तुम्हें अनुभव हो तो तो फिर एक और पूरा जगत सामने हो और दूसरी तुम अकेली ही खड़ी हो तब भी तुम तुम्हारे निर्धारण में से पीछे हट न सको तो तुम्हारा अनुभव सच्चा अनुभव में से प्रकट हुई समझ ऐसी चेतनवान दृढ़ता को प्रेरित करता है ऐसा **इस जीव** का चेतनवान अनुभव है ।

सच्चा दुःख तो गतिप्रेरक और चेतनाप्रेरक

साधक **जीव** से भूल, दोष, अपराध, अनुचित आदि तो होगा, पर प्रत्येक उस प्रकार के कर्म विषयक उसे वह अच्छी तरह और योग्य भाव में चुभना होता हो तो प्रत्येक वैसे **जीव**स्वभाव के अनुसार (जीवनविकास की भावना को

अयोग्यरूप से) आचरण होने पर, उसे अधिक से अधिक चुभा करता है, ऐसे चुभने और दुःख की मात्रा बढ़ा करती अनुभव हो, तो ऐसा करते करते उसकी जागृति भी विशेष बढ़ेगी । जो जो कुछ जिसे उत्कटता से चुभे, उसमें से पराङ्मुख भी हो सकता होता है । दुःख हमें जगाये और गति में प्रेरित करे, तो वह दुःख सच्चा । दुःख यदि सचमुच का होता हो, तो जिस बात का दुःख होता हो, उसमें ही वह हमें कभी भी पड़े नहीं रहने देगा । दुःख जिस अर्थ से लगे, उस अर्थ के हेतु में ले जाने को हमें संघर्षशील रखेगा ।

जो दुःख अखरता है वह सच्ची समझ प्रेरित करता है । 'दुःख की साधना' नामक पुस्तक तुम्हें पढ़ जाने योग्य है । 'जीवनकदम' में वह है और अलग से भी प्रकाशित है । भावना को प्रकट करने के लिए अथवा जीवनविकास की भावना से अयोग्यरूप से आचरण करने से जो दुःख प्रकट होता है, वह तो दुःख चेतानेवाला होता है । दुःख तो प्रेरित करनेवाला है । दुःख **जीव** को समझ के घर में प्रकट कर देता है, सही तरीके से हुआ दुःख तो जीवन को नयी भावना में प्रेरित करता है । दुःख यह निरा कोई दुःख नहीं है, पर नया प्रकट करने के लिए की आरंभ की भूमिका है । **दुःख से जो चेतकर बरतता है, वह दुःख से लाभ उठा सकता है । दुःख के हार्द को जो समझता है, उसके लिए दुःख आशीर्वाद है ।** दुःख से जो योग्य तरह से जागेंगे, तो वह सच्ची तरह

से जीना सीखाता है । दु:ख जिसे अंतर में लगता है, उसे तो नये प्राण देता है, नयी जिन्दगी देता है, नयी दृष्टि और नयी समझ उसमें वह प्रकट करता होता है ।

इससे जो **जीव** दु:ख को प्रेमभाव से, जीवन में भावना विकसित करने के लिए ज्ञान के हेतु से स्वीकार कर सकता है, वैसे **जीव** को दु:ख वह दु:ख नहीं है । वैसे **जीव** को वह दु:ख तो कल्याणकारी होता है, उसमें वह कभी भी डूब नहीं सकता है । वह तो उस पर तैरता रह सकता है । दु:ख से दब जाये, उसे हृदय से जीवन को की सच्ची भावना अभी प्रकट हुई नहीं ऐसा समझना । दु:ख तो तैरने के लिए है । **दु:ख तो प्रभु की प्रसादी है ।** दु:ख तो उबरने के लिए, कसौटी और परीक्षारूप है । मानवी आत्मा कितनी निर्मित है, उसकी सद्भावना उसका समत्व और उसके हृदय का प्रेमभाव-वे सभी दु:ख में कैसे टिकते हैं, वह जीवन में दूसरे किस प्रसंग से जान सकनेवाला है ? **दु:ख अपने को जानने, समझने के लिए योग्य दर्पण है । हम कैसे हैं, वह दु:ख में हम से किस तरह से आचरण होता है, उस पर से हम ठीक से समझ सकते हैं ।**

दु:ख का स्वागत करके प्रार्थना करो

इससे दु:ख आ पड़े उसका स्वागत करो । उससे कभी आघात लगकर डूब तो नहीं ही जाना है । ऐसी कड़ी निगरानी रख के प्रभुकृपा से उस अनुसार जो भी करके हमें दु:ख में जीवन को तारना है । अयोग्यरूप से कुछ हम से हुए की जान

होने से दुःख हो वह यथार्थ है । वैसा अयोग्यपन होते, तब हृदय में प्रार्थना कर करके प्रभु को पुकारना । जिसमें और उसमें प्रार्थना के भाव का उपयोग करते रहना है । प्रार्थना के महत्त्व की बात में तो अत्यधिक तुम्हें लिखा हुआ है ।

स्वजनों की विषप्रसादी

पर सब **जीव** उसका आश्रय ही कहाँ लेते होते हैं ? जो भी मुझे ही उलाहना देना करते हैं । धन्य है उनकी लीला को ! कहे अनुसार, संपूर्णरूप से हृदय से आचरण करके दिखाने की पूरी उत्कट उत्कंठा किसी को प्रकट हुई नहीं होती और मुझे फाँसी की लकड़ी पर चढ़ाना करना है ! हाँ, वह भी कबूल है । वह भी प्रिय स्वजनों के चरणकमल की प्रेमप्रसादी है, उसे प्रेम से स्वीकार करना चाहिए । कोई अकेले सोक्रेटीस ने जहर पीया था ऐसा थोड़ा ही है ? ऐसा जहर तो अनेक बार पीना पड़ता है । उसमें किसी पर दुःख लगाने का कारण नहीं है कि बुरा लगाना भी नहीं है ।

धीरजयुक्त अधीरता की आवश्यकता

जो जैसा है वह वैसे का वैसा है, ऐसा तो कुछ ही नहीं है । सब किसी की गति हुआ ही करती है, तो हमारी क्यों न हो ? इसलिए हमें सभान अवस्था में रहना है । दुःख के लगे बैन बेकार तो नहीं जा सकते । इसलिए लगा हुआ कार्य लग सके । तभी वह हमारे लिए तो काम का है । हमें तो कोई भी जल्दबाजी नहीं है । पर जो जैसा होना चाहता है वैसा होने

के लिए उसमें तो धीरजयुक्त अधीरता प्रकट होनी चाहिए। तभी वह उसमें विकास कर सकता है।

स्व केन्द्रित रहो

हम अपने आप में हैं, वैसे ही दूसरों में भी हैं। इसलिए हम मात्र अपने में ही पहले रहा करें और दूसरों में से ज्ञानपूर्वक सूक्ष्मरूप से हट जाये तो वह उत्तम है। जो जो कुछ करना है वह हमारे अपने लिए करना है।

आज्ञा तो पालन के लिए ही

हमें तो किसी को हुक्म नहीं करना है। कभी ऐसा किया नहीं है। कुछ कहना हो वह भी वैसा निमित्त आने पर सूक्ष्मरूप से कहना हुआ करता है, जिसे बहुत हुआ तो सूचना कर सकते हैं। ऐसा तो कितने ही स्वजनों को कहा हुआ है, पर उसे किस **जीव** ने प्रेमभक्तिपूर्वक जीवन को योग्यरूप से मठारने आचरण करने का किया हुआ है ? हुक्म या आज्ञा यदि उसके असली स्वरूप में श्रीप्रभुकृपा से छूटे तो हम सभी से वह पालन करने का हुआ करेगा ही–भले ही फिर कितना ही और कितना भी वैसा विरोध हमारे में भरा पड़ा हो ! भले ही फिर वह आज्ञा का पालन करनेपन में हमे अरुचि हो या फिर कुछ भी हो पर वह तो पालन हुआ ही करे।

सद्गुरु में एकाग्रता और केन्द्रितता–सर्वश्रेष्ठ साधन

यह बात कोई नयी नहीं कही है। प्रत्येक यदि कोई कहने कथन करने में आये, उन सभी में जब उसकी संपूर्ण

सचमुच की यथार्थता हमें समझ में आया करे, तब जानना और मानना कि उसके (गुरु के) संदर्भ की हमारी आधार की भूमिका पक्व होने की नोक पर है । उस समय हमें प्रत्यक्ष होकर सद्‌गुरु की भावना की धारणा में, जीवनविकास की भावना को शक्तिस्वरूप में प्रकट करने के लिए पलपल चेतनयुक्त जागृति से एकाग्र और केन्द्रित रहा करें तो जो मिले वह अनुपम है ऐसा अनुभव है ।

दूसरी साधना में भी गुरु-चेतनास्मरण से लाभ

जो साधन करें या करते हो, उसमें भी उस उस समय हृदय में सद्‌गुरु की भावना की चेतनात्मक धारणा जीवित रखा करे, तो साधन के अभ्यास से प्राण शीघ्र प्रकट होते हैं ऐसा भी **इस जीव** का अनुभव है । इसलिए तुम्हें ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के उपाय बतलाये हैं, उसका तुम प्रयोग किया करके अनुभव प्राप्त करोगी तभी काम का है न ? प्रयोग में लिये बिना सच क्या समझ में आ सकता है ?

हृदय के एकराग की परमावश्यकता

संसारव्यवहार में भी यदि शांति, सुमेल से काम करना होता है, तो जो भी सबके साथ एकराग हुआ होता है, तभी वैसा हो सकता है । उस तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में सद्‌गुरु के साथ किसी न किसी तरह और भाव से हृदय का एकराग तो जीवित प्रकट हो जाना चाहिए न ? उसके बिना हमारा काम कैसे करके आगे बढ़नेवाला है ? संसारव्यवहारवर्तन में जो जो

जीव हमें मिले हैं, उनके साथ जैसा एकराग होता है, वैसा और उतने प्रकार का एकराग यहाँ नहीं चल सकेगा वह भी ठोस हकीकत है । हम कहते हैं कि जीवनविकास के लिए मिले हुए स्वजनों का इतना और ऐसा हृदय का एकराग भी हमें अभी मिला हुआ नहीं है, और सब प्रेरणा की ऐसी ऐसी खाली बातें किया करते हैं, यह हमें सच नहीं लगता है । तथापि जो अनुभव मिले हुए स्वजनों को हुए हैं, उसकी भी वे ना कह सके वैसा नहीं है। स्वयं के धनदौलत, मालमिलकत, पत्नीबच्चे, प्रतिष्ठा, कीर्ति, अपनी समझ, मान्यताएँ, आग्रह, आदत आदि के सम्बन्ध में **जीव** को जितना राग है, उतना भी हृदय का राग सद्‌गुरु के सम्बन्ध में यदि पूरा सच्चा और सचमुच हृदय से जगा हुआ हो, तो उस राग से जीवन में सचमुच का चिपके रहने का काम आ सकता है । इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि स्वजनों ने **इस जीव** को मदद की नहीं, पर ऐसी मदद तो प्रभुकृपा से **इस जीव** को मिल ही गई होती ।

मुझे तो हृदय चाहिए

मैं तो माँगता हूँ उन उनके हृदय को । हृदय मिला हो और दूसरा न मिला हो तो वह चल सकता है । सब स्वजनों ने काम भी किया है, पर उस काम में कहाँ उन्होंने प्राणवान चेतनयुक्त हृदय की भावना रखी हुई होती है ? और **इस जीव** ने तो पुकार पुकार कर कहा है कि जिस कर्म में, अंतर की भावना, हेतु के ज्ञानभान के साथ, यदि जीवित रही हुई न हो

तो वैसे कर्म से कुछ मिलनेवाला नहीं है। मेरे लिए तो सभी काम का है - यदि उसमें से उठने का होता हो तो ।

चेत ! चेत ! चेत !

इसलिए तुम करती कराती हो जाओ, तभी काम की है। बाकी बेकार बेकार निकम्मा है ऐसा ही मानने का न ? 'घुमे वह चरेगा और करेगा वह पायेगा' ऐसी कहावत भी है। उसमें यथार्थता भी है। प्रभु कृपा करे और तुम अधिक से अधिक सजग बनो ! प्रभु तुम्हारे हृदय में जागृत हो ऐसी प्रार्थना है। चेते बिना का सब बेकार है। एक कर्म उत्तम किया हो पर चेते बिना की दशा में वह किया हुआ हो, और एक कर्म उत्तम हो और चेत गये की दशा में वह किया हो तो वह दो किये हुए कर्म एक ही प्रकार के होने पर भी वैसे कर्म के परिणाम अलग अलग होंगे। इसलिए जिसमें और उसमें चेतकर बरतना वह उत्तम है। इसलिए चेतो, चेतो और चेतो। यही सब को प्रार्थना है।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. १८-४-१९५३

कुछ न कुछ साधन में लग जाओ

इस मार्ग में स्वच्छंदता तो बिलकुल चलनेवाली नहीं है, पर वह एकदम छूटकर छूट नहीं सकता, यह हमारी कैसी लाचारी ! अरे, मैं कहता हूँ कि हम जो लाचारी, पामरता की बात सब करते हैं, वह मिथ्या है और भ्रमणा है, अज्ञानता की

वह बात है । सही मूल वह बात है कि अभी हमें कुछ सही पूरा लगा नहीं है, लगे तो कैसे अनचीते होकर उठते हैं ! और लग भी कुछ ऐसे के ऐसे जाता नहीं है । उसके लिए भी साधन का कोई न कोई प्रकार का अभ्यास होना चाहिए, वह साधन फिर भले ही भावना के प्रकार का हो या दूसरे ढंग का हो । इसलिए हमें अपने आपको नित्य ही ठीक से जाँचते रहा करना है कि, 'भले **जीव** ! तुमने कितना और किस तरह का साधन किया है ?' दैनिक संसारव्यवहारवर्तन में **जीव** को जागते हुए सज्ज होकर साधना के भाव में पिरोने का हुआ करे वह अति आवश्यक है ।

साधना के अभ्यास बिना नया जीवन प्रकट नहीं होगा

इसके बिना नयी दृष्टि, वृत्ति, भाव जीवन में कभी भी प्रकट नहीं हो सकते हैं, यह निश्चित रूप से जान लो । आलस्य से भाग्योदय नहीं होगा । यह तो उठकर काम करते करते पूरा हो सकनेवाला है । उठकर जो करने लगता है, वह आखिर में तो निपट सकता होता है । ऐसे के ऐसे मुँह खोलकर बैठे रहने से कभी पार नहीं आ सकने का है । कहाँ तक अभी उलझे रहना है ? कहाँ तक टकराहट में भटकते रहना है ? यदि हृदय की सच्ची भावना से ज्ञानभाव से किसी को पकड़ना हुआ हो तो हमारा **जीव** उसमें कितना रहता है, उसकी सूझबूझ हमें नहीं हो सकती क्या ?

जीवनविकास के लिए ही सब मिला है

प्रभुकृपा से हमें मिले स्वजनों की स्मरणभावना फीकी फीकी देखकर हमें तो चैन, शान्ति, दु:ख दूर नहीं होते हैं । सभी जो भी 'प्रेम प्रेम' की बातें करते हैं, पर हमें वह सही लगती नहीं है। प्रेम तो एकभाव से जिसमें वह लगता है, उसमें उसे पिरो देता है । प्रेम का वैसा मापलक्षण है । हमें तो जो भी सब जीवनविकास के उपयोग के लिए ही उपयोगी है । सद्‌गुरु का उपयोग भी इसके लिए ही है। वैसे यह प्राप्त हुआ शरीर, उसके करण, प्रभुकृपा से मिला हुआ यह संसार, सगेसंबंधी-वे सभी जीवनविकास की भावना उन उन सभी से गढ़े, विकसित हो, सुन्दर आकार लेकर प्रकट होती बन जाये, उसके लिए ही सभी है । बाकी तो इसका दूसरा कोई अर्थ ही नहीं है ।

स्वयं की वेदना से स्वजन की याद

यहाँ पैरों की पिंडली में होनेवाली पीड़ा अत्यधिक हो रही है । कितने ही दिनों से रात को पूज्य बड़ी बा, काशी-बा दबाती है, तब भी वह मिटता नहीं । बा ने मुझे रोज रात को पैरों में कपड़ा बाँधने को बतलाया है, वह बाँधता हूँ। तब भी पिंडली का दर्द तो चालू ही है । तब स्वजन अत्यधिक याद आया करें कि उसे वह कैसा होता होगा ! मुझे तो प्रभुकृपा से कोई न कोई सेवा करनेवाला मिल जाता होता है । पर उसे वहाँ वैसा होने पर कौन क्या कर सकता है ? और पिंडली

की पीड़ा भी कैसी ! बाम भी लगाया था, पर पाँच मिनट ठीक, फिर वापस वैसे का वैसा ।

ऐसा जीया हुआ काम का

तुम्हारे में जिस समझ का उदय होता अनुभव करता हूँ, उस पर से यदि तुम पर्याप्त जागकर जीवन के साधन के अभ्यास में पूरी तरह लगकर यत्न करोगी, तो तुम कैसी उत्तम प्रकार की बन सकती हो ! ऐसा तुम्हारा संस्कारयुक्त चेतनयुक्त बना हुआ चित्र देखना हमें तो अत्यधिक सुमधुर लगता है । हमें तो जैसा बनना है, उसमें ही समग्रता, एकाग्रता, केन्द्रितता ध्यान-लक्ष पिरो - पिरोकर उस भावनानुसार जीया करें तो ही शोभायमान और उपयोगी है । बाकी तो जीया वह जीया बेकार है ।

कथावार्ता

कथावार्ता संसार में अमुक जगह होती अनुभव होती है । उसे सुनने जाते अमुक के मन में शांति अनुभव हो सकती है । संसारव्यवहार की धमाल, मुठभेड़, क्लेश, संताप आदि प्रकार के वातावरण से उतने समय तक मुक्ति मिले और मन खुल्लापन अनुभव करता है यह सच है, पर बहुतों को इससे विशेष लाभ कुछ होता नहीं है । वे कथावार्ता की योग्य समझ और भावना जीवन के प्रत्यक्ष व्यवहारवर्तन में तो उतरती होती नहीं । इससे कथा सुननेवाले **जीव** तो जैसे होते हैं वैसे के वैसे ही रहते होते हैं । इससे वैसी कथा सुना करने से जीवन का सचमुच, संपूर्ण, सच्चा उद्धार होने की संभावना नहीं है । इसमें से जागने के लिए प्रयत्नशील **जीव** को जरूर कुछ मिल सकता होता है,

वह अनुभव की बात है। **इस जीव** का वैसा प्रत्यक्ष अनुभव है। कभी-कभी नडियाद में श्रीसंतराम महाराज के मंदिर में कथाप्रसंग में जाने का श्रीप्रभुकृपा से होता था।

धर्म का पालन है ही कहाँ ?

कथावार्ता भी आजकल तो एक प्रकार की प्रथा ही है। उसमें कोई चेतनयुक्त प्राण रहे हुए नहीं हैं। जिसे लोग 'धर्म धर्म' कहा करते हैं, वह सही रूप में धर्म तो नहीं है। धर्म के यथार्थ पालनवर्तन से तो **जीव** ठीक सीधा खड़ा रहता है और स्वयं मर्द बनता होता है। शौर्य, साहस, धीरज, हिंमत आदि सात्त्विक गुणों का सामर्थ्य उसमें प्रकट होता जाता वह अनुभव कर सकता है। धर्म से जीवन में दृढ़ता और शक्ति प्रकट होती अनुभव होती है। यह जो हम कहते हैं कि धर्म का पालन यथार्थरूप से सर्वसामान्य रूप से कोई करता नहीं है, फिर भले बड़े बड़े साधु, संन्यासी, विद्वान जहाँ तहाँ कथा करते दिखते हो, यह कोई किसी की निंदा करने के लिए नहीं लिखा है, परन्तु जीवन के प्रत्यक्ष आचरण में धर्मभावना जब व्याप्त होती है, तब वह किस स्वरूप में हो सकती है, वह तुम्हें समझ प्रकट करने के लिए लिखा है। अखा* ने तो लिखा है कि -

'कथा सुन सुन के फूटे कान,
तब भी न आया ब्रह्मज्ञान।'

---

* गुजराती भाषा के एक कवि

कथा का निर्दोष आनंद और लाभ

हमें किसी की निंदा नहीं करनी है। किसी की अवगणना नहीं करनी है । कथा सुनने जाने की शुभ भावना जिस **जीव** में प्रकट हुई होती है, उसे उससे अवश्य लाभ होता रहता है, परन्तु समाज का बड़ा हिस्सा तो मात्र गडरिया प्रवाह की तरह हिस्सा लेता होता है। ऐसी ऐसी कथा भी यदि किसी सद्‌भावी आत्मा द्वारा होती हो, तो समाज में धर्म की भावना कुछ अंश में भी जीती रखने के लिए वह आवश्यक है। बचपन में हम सभी रामायण–महाभारत की माणभट्ट की कथा सुनने जाते थे। उसमें देर रात तक जागना होता था। एकध्यान से वह सुनने में रस पड़ता था। ऐसा निर्दोष आनंद आज कहीं मिलता लगता नहीं है। ऐसी कथा का लाभ सभी—धनवान और गरीब—एकसमान रूप से ले सकते थे। इससे मन को ताजगी मिला करती थी। अनेक श्रमजीवी लोग वह सुन सुनकर अपनी थकान वहाँ उतार सकते थे। समाज ऐसे निर्दोष आनंद का साधन आज खो बैठा है, क्योंकि ऐसे लोगों का भरणपोषण इसमें से नहीं निकल सका ऐसा तो नहीं पर उसे योग्यरूप से उत्तेजित करनेवाला कोई मिला नहीं। **समाज के अधिकतर बड़े हिस्से को सिनेमा आदि प्रकार का छंद लग गया और पैसा खर्च करके जीवन की बरबादी को मोल लेने का उसने किया हुआ है, जिसका हमें सच्चा भान भी प्रकट नहीं हुआ है।**

सिनेमा से समाज में नये प्राणचेतना आ सके ऐसा उसका उपयोग अवश्य हो सके ऐसा है, किन्तु आज तो उसका उपयोग मात्र पैसे किस तरह से कमा सकते हैं, ऐसे ही एकमात्र उद्देश से जो भी सब उसमें पड़े हैं । इसलिए जो **जीव** कथावार्ता का निर्दोष आनंद ले सके ऐसी भावनावाला हो, उनको उसके लिए वह अत्यधिक श्रेयस्कर है । फिर, उसमें जिस तिस सभी के लिए उसके द्वार खुले होते हैं और कहीं कुछ भी खर्च करना नहीं होता है । कोई एक भक्तजन वह कथा बिठाये और लाभ लेते हैं सभी, यह प्रथा उत्तम है, पर सुननेवाले के दिल में कथा का रस प्रकट करने या प्रकट होने का आधार कथा कहनेवाले पर अधिकतर भाग से रहता होता है । अमुक कथाकार तो सभा को मंत्रमुग्ध कर सके ऐसे होते हैं । कथा में से जीवन को सम्मुख रख करके कथा में प्रसंग ऐसे ऐसे वे लोग रखते होते हैं कि जो हमें अचूक लागू होते रहते हैं, और अमुक को तो वे अवश्य दिल में चिपक जाते हैं । कथा करनेवाले का हृदय चेतना से जीताजागता हो, ऐसी कथा की उपयोगिता की तो बात ही क्या करनी ?

रामायण - महाभारत की कथा

रामायण–महाभारत की कथा ने तो समाज को जीवित रखा है । रामायण उत्तर हिंद में अभी जीवित है । उत्तर में तुलसीकृत रामायण अधिकतर लोगों के घर रहती है, और शाम के समय निवृत्त होकर बहुत से लोग पढ़ते हैं । तुलसीकृत

रामायण के दोहे–चौपाई सुनते सुनते मन एकदम रस से सराबोर हो जाता होता है। हरद्वार में गंगा के घाट पर दो प्रवाहों के बीच पत्थर से बाँधी हुई एक बड़ी जगह 'हरि की पैड़ी' के सामने है। वहाँ संध्या के समय जो रामायण के दोहे और चौपाई सुनी है, उसका स्मरण होते ही कान में उसका सुमधुर, मन को मुग्ध कर दे ऐसी आवाज, झनकार देती आज भी अनुभव होती है।

कथा में एकदम शांति

पहले के समय में बच्चे, स्त्रियाँ, पुरुष, जवान, बुजुर्ग, अनेक प्रकार की कक्षा और ज्ञाति के लोग कथा सुनने आते थे, और संख्या भी अधिक होती थी, पर एकदम शांति व्याप्त रहा करती थी। इसका अर्थ तो यह है कि कथा में सभी को रस था। आज भी जो कथावार्ता चलती है, वहाँ शांति होती है। कथा में बोल नहीं सकते, आपस में बातचीत तो नहीं हो सकती, ऐसा पुराना प्रचलित संस्कार है और कथा में तो शांति बनाये रखनी चाहिए ऐसा भी संस्कार होता है। इससे वहाँ शांति बनी रहती है। अमुक जगह तो कथा करनेवाले के प्रभाव से और कथा कहने की उत्तम प्रकार की शैली से कथा सुननेवालों में रस आता प्रकट होता होने से भी कथा में शांति व्याप्त अनुभव होती है, यद्यपि वर्तमान में तो कथा में वैसे रूढ़ संस्कार का अति भंग होता भी अनुभव होता है।

रामलीला गई और बदले में कुछ न आया

रामलीला आदि पहले के समय में जो खेली जाती थी वह भी मुफ्त थी। जो भी सभी देख सकते थे। उसमें अलग बैठकर हरिजन भी लाभ उठा सकते थे। रात होने पर निर्दोष आनंद प्राप्त करने के ये सभी साधन थे। आज वह सब कुछ नहीं दिखाई देता है। इससे समाज ने खोया है, इसके बदले में, वह समूहगत निर्दोष आनंद प्राप्त करने के लिए कुछ नया तो उपजा नहीं सका है। जो पुराना था उसमें नया समाज और नये काल को सानुकूल हो उसमें ऐसी प्राणचेतना प्रकट कर करके उसे (पुराने को) नये प्राणस्वरूप में प्रकट करने की जरूरत थी। यह किसी ने भी नहीं किया, इसमें दोष हमारे समाज का है।

आज भी अभी साधु-संन्यासियों की कथावार्ता चलती है सही पर उसमें धर्म की भावना की समग्रता से स्पर्श करने का प्राणवान प्रयत्न होता नहीं है। धर्म की भावना जीवन के दैनिक व्यवहार में काम करती हो सके, उस अनुसार की भावना की समझ प्रकट करने के लिए आज तो वैसी वैसी कथाओं में उसकी यथार्थतावाला होता नहीं है।

उपनिषदादि कथा

अमुक जगह पर हमारे शास्त्र जैसे कि उपनिषद, गीता आदि की कथा अमुक विद्वान साधु-संन्यासी करते हैं, वह

सुनने जैसी होती है, क्योंकि हम अकेले स्वयं ही तो उपनिषद, गीता आदि का अभ्यास कर सके ऐसी संभावना तो नहीं है। इससे ऐसी कथा में जाने से वह सब समझा जा सके ऐसा होता है। हिन्दुधर्म की संस्कृति को यदि मात्र समझने की भी इच्छा हो तो उपनिषद, गीता आदि का अभ्यास अति आवश्यक है। उपनिषद में तो अलग अलग साधन–पद्धति की साधना से जो जो अनुभव जैसे जैसे मिला करे वैसे वैसे उसे उन्होंने उन्होंने अलग अलग तरह से उनकी उनकी अनुभवभाषा में रखा है। इसलिए कथा में जानेवालों की आजकल हँसी उड़ाने का जिसे तिसे दिल हुआ करता है, पर वह बिलकुल अयोग्य है। जिस तिस के स्थान में जो भी कुछ यथास्थान पर है। समझ से जिसमें उसमें प्रवेश करने का करते हैं, तो उसमें से लाभ मिलता है। इसलिए हमारे लिए तो जिसमें और उसमें समझ जीवित रहे वह सबसे बड़ी बात है, यह लक्ष में रखना।

जहाँ वहाँ से बोध सीखो

जिसमें और उसमें से हमें क्या बोध लेना है, वही बारबार मन के सामने प्रकट किया करना है, यह जानना। यदि दिल जगा होता है, तो कोई बात करता होता है तो उसकी बातचीत में से किसी वाक्य से हमें नया जानने को मिल जाता है, इतना ही नहीं, पर हमारी उस समय की व्याप्त उलझन, कठिनाई आदि का हल निकल जाता है, ऐसा अनुभव अनेक बार **इस जीव** को प्रभुकृपा से हुआ करता है।

अपने जीवनप्रसंग उद्धृत करने का हेतु

पत्र में तुमने संयम के बारे में कुछ लिखा था, उसकी तो क्या बात लिखूँ ? कहने से या लिखने से उस बात में तो कुछ मिलता नहीं है। **इस जीव** की क्या बात कहूँ और लिखूँ ? किसी स्वजन को संपूर्ण उस अनुसार सद्भाव से आचरण करते अनुभव कर सकूँ तो **इस जीव** का दिल खुल कर और फूल ही जायेगा । तब ऐसा कोई कहे कि 'अब आप अपने जीवन की कुछ कुछ हकीकत लिखने लगे हो । तो क्या कोई स्वजन उस अनुसार सद्भाव से आचरण करता हो गया होगा ?' नहीं भाई नहीं ! हमने वैसा अनुभव नहीं किया है, पर यह तो स्वजनभक्ति हमें वैसा करने के लिए प्रेरित करती है कि, अपना उदाहरण देने से भी यदि ये **जीव** प्रेमभावना के मारे वैसा करने को उद्यत तो हो । हमारी कथनी कहने का हमें शौक नहीं है, कभी हुआ नहीं है । यह तो स्वजन को वैसा कहने से उत्साह या जोश चढ़ना हो वह यदि चढ़े तो उत्तम, वैसे हेतु की समझ से जो भी लिखा हुआ है। इसलिए कृपा करके सबको बिनती है कि उसे योग्य अर्थ में समझने की कृपा करो ।

स्वजन घूँसे लगाते हैं

जीव की शरारत का तो मानो पार नहीं है। जीवनविकास के लिए जो जो स्वजन प्राप्त हुए हैं, वे तो अब भी **इस जीव** के बारे में कुछ कुछ सोचकर अन्याय कर रहे हुए हैं, और अभी भी घूँसे लगाते हैं । उसमें उन्हें कुछ लाभ नहीं है । वे

कहेंगे कि, 'भाई ! वह कुछ हमारे हाथ की बात है ? यह तो ऐसे ही हो जाता होता है, उसको हम क्या करें ? आप ही रोक सको, तो वह रोको न ! हम से तो वैसा ही होगा ।' हमें अब क्या कहना ? भले भाई ! जैसा तुम्हें बरतना हो वैसा बरतने का करो, पर ऐसे स्वच्छंद से आचरण करने से कभी भी किसी का जीवनविकास हुआ नहीं है, और होनेवाला नहीं है, वह भी निश्चयपूर्वक के अनुभव की बात कहता हूँ ।

साधन के प्रति स्निग्ध भावना रखो

जीव को यदि जीवनविकास करना हो तो स्वयं अपनी स्वच्छंदता छोड़नी ही पड़ेगी, यह निःसंदेह अनुभव की बात है । सद्भाव से प्रेरित, प्रेमभक्तियुक्त, मुग्ध और स्निग्ध भावना हृदय में हृदय से हमारी जुड़ी हुई न हो अथवा ऐसी शिक्षा के संदर्भ का ज्ञानभान जागा हुआ न हो और हम हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में मनस्विता से ही आचरण करना हो, तो उसमें किसी की भी मदद मिल सकनेवाली नहीं है ।

एकाग्रभावनापूर्ण स्मरण की असर

अमुक को पत्र लिखते-लिखते समझ की परत खुलती जाती अनुभव होती हैं, 'उसके अमुक कारणों में से एक महत्त्व का कारण तो यह भी होता है कि उस समय पर वह **जीव** लिखनेवाले व्यक्ति के भाव में एकाग्रता से सराबोर बना हुआ होता है, और वैसे उसके स्पर्श से उसे वैसा होता है । **इस जीव** को तो कुछ ऐसे पत्र तो लिखने होते नहीं हैं, परन्तु जीवन की

साधना में कुछ कुछ उलझन, कठिनाई प्रकट हुई थी, उस उस समय कुछ कुछ उपाय प्रभुकृपा से सूझा करते थे। उसे उपयोग में लिया करता था। उसमें एक मुख्य साधन तो श्रीसद्गुरु की भावना की धारणा हृदय में हृदय से एकाग्र किया करके साधना में प्रकट हुई उलझन, कठिनाई आदि के हल के लिए उस समय पर प्रार्थना किया करने का करता था। ऐसी प्रार्थना से मुझे उसका उसका उसकी कृपा से हल भी मिला करता अनुभव किया है।

प्रश्न और उत्तर

तो कोई कहेगा, 'हमें तो अमुक अमुक अनुभव होते ही जाते हैं, और हमने तो कुछ किया नहीं है, तो उसका कैसे ? तो उसके कारण में एक तो यह समझ आता है कि वैसे **जीव** की भूमिका उस प्रकार के भावना के व्यवहार में रखा हो अथवा सद्गुरु की भावना भी जड़ जैसे **जीव** में भी कभी कभी तो वैसे प्रकट होती जाती अनुभव की है। **इस जीव** का उसकी शुरू शुरू की साधना में वैसा अनुभव है। मुझे स्वयं वैसे अनुभव होते थे, इससे मगरूरी से बड़ा मानने का किया करता था। वैसे 'मैंपन' भी प्रकट हुआ था, परन्तु श्रीभगवान कृपालु हैं। उसने तो लथाड़ मारकर सभी छिलके उखड़ जाये ऐसा प्रचंड भान प्रेरित करके **इस जीव** की हलकट मूर्खता को खोलकर उसे वापस सीधे मार्ग पर मोड़ा करा था।

हमारे सामर्थ्य के अलावा अनुभव करानेवाले के प्रति बारी जाओ

यदि **जीव** की उस प्रकार की साधना की भावना के अनुशीलन, परिशीलन के वैसे जीवित अभ्यास से कोई एक अनुभव हुआ करता हो, तो वैसे होते रहते अभ्यास की भावना के भी प्रत्यक्ष लक्षण होते हैं । इसलिए हमें अपने आपको जाँचते रहना और जाँचते जाँचते लगे कि साधना के मार्ग के सम्बन्ध में अनुभव होने के लिए, आधार में योग्य भूमिका प्रकट नहीं हुई है और अनुभव तो होता है वह वास्तविक है, यदि वह सच्चा हो तो वह किसी के स्पर्शभाव से वैसा होता है, तो उसके सम्बन्ध में हमें कितना अधिक भाव प्रकट होना चाहिए, वह सोच सोच करके उसके साथ हृदय से बरत सकते हो तो जानना कि उससे हमें जो अनुभव हुए हैं, उसकी भावना हम में उतरी है सही ।

अनुभव पसरते ही हैं

अनुभव हुआ करते हैं वह हकीकत यदि सच हो, तो अनुभव से समझ भी निर्मित होनी चाहिए न ? अनुभव तो कुछ स्थितिस्थापक नहीं हैं । उसका लाक्षणिक धर्म तो प्रसार हुआ करने का है । क्रोध, दया, प्रेम, करुणा, अपेक्षा या ऐसी भावना होते ही वह शरीर और मन में प्रकट होती अनुभव होती है, और वह पसरती रहती है, तो अनुभव क्यों नहीं पसरता हो ? उसका तो लक्षण ही पसरनेपन का है । इसलिए जिसमें और

उसमें समझ समझकर, सोच सोचकर, माप निकालते रहना है, वह निश्चित जानना। जैसे तैसे सारा कूट मारकर कुछ मिलनेवाला नहीं है । जिसमें और उसमें समझ प्रेरित कर करके हमें तो आचरण करना है। भावना की समझ से योग्य बरता हुआ ऐसा जीवन को उगानेवाला है ।

पत्रव्यवहार की साधना

ऐसे पत्रव्यवहार की भावना की कथा द्वारा तुम्हारे साथ का जीवनसंबंध विकसित करने का यह एक प्रकार का तरीका है। यदि उसका सदुपयोग होता अनुभव नहीं हुआ, तो तो फिर वैसा भाव उस तरह से काम करता अवश्य रुक जायेगा, यह कोई भय बतलाने के लिए नहीं लिखा है। ऐसी उसकी योग्य हकीकत और वास्तविकता है। पत्र आया करे तो उसका उत्तर तो आज भी सबको देता हूँ, पर उसका इतना और ऐसा विस्तार नहीं होता । ऐसा विस्तृत विवरण द्वारा लिखने से पढ़नेवाले को लाभ होना हो तो हो और कोई भी **जीव** उससे समझ की कक्षा में प्रकट हो, तो वह भी प्रभुभक्तिसेवा है ऐसा मानकर किये जाता हूँ। 'जीवनपगडंडी' 'जीवनप्रारंभ' 'जीवनसोपान'- इसे प्रत्येक पढ़नेवाला प्रशंसा करता है। ऐसे ऐसे उसकी कदर करते पत्र भी आये हैं। उसमें अंतर का भाव उड़ेला है। उसमें लिखा हुआ जो जो पढ़ता है, उसे उसे स्पर्श करता होता है ।

साधन तो इस्तेमाल करने से ही लाभ

पत्रव्यवहार यह कोई अनंत काल का खेल नहीं है, वह भी साधनरूप से है । अमुक काल तक उसकी मर्यादा योग्य

है । बाद में उसकी महत्ता भी साधक के दिल से कम होती जाती अनुभव होती है । जो भी साधन का सच्चा महत्त्व तो उसे भाव से स्वीकार करके उसे अपने जीवन की योग्यता में प्रकट किया करना, उसमें रहा हुआ है । इस्तेमाल किये बिना साधन भी भोथरा हो जाता है । साधन का उपयोग योग्य ढंग से इस्तेमाल करने से तेजस्विता आया करती है । इस्तेमाल करने से साधन की योग्यता जीवित रहा करती है । उसकी उपयोगिता भी संभली रहती है । पड़ा पड़ा तो जंग लग जाता है और वैसा होने पर उपयोग में तो बिलकुल नहीं आ सकता है । इसलिए साधन यदि लिया हो, तो उसे योग्य तरीके से ज्ञानपूर्वक इस्तेमाल करने में ही सयानापन और विवेक है ।

साधन की अनिवार्यता

साधन के बिना कुछ भी नहीं होता है। संसारव्यवहारवर्तन में भी वैसा ही है न ? कहीं भी किसी में साधन बिना क्या हो सके वैसा है ? साधन द्वारा ही सब कुछ होता है । ऐसे साधन की तो भारी महिमा है । साधन का तो ऐसा प्रत्यक्ष प्रकट रूप है । उसे प्रकट बनाने जैसा कुछ नहीं रहा है । उसे सच्चे ढंग से—सच्चे, सही, पूर्ण ढंग से और उस भाव से हृदय में हृदय से समझकर उसका सही उपयोग जो किया करता है, उसके दिल में साधन की चोट लगती होती है । ऐसे **जीव** बाद में कभी भी वैसे लिये हुए साधन को और उपयोग में व्याप्त साधन को छोड़ नहीं सकते हैं, यह भी अनुभव की हकीकत है, वह जानना ।

प्रबल भावना प्रकट करो

अभी थोड़े ही दिन की बात है । दातुन खलास हो गये थे । आश्रम की जमीन में पिछले साल कंबोय (एक वनस्पति) देखी थी । इससे 'वह यदि हो तो वहाँ से काटकर ले आऊँ' ऐसा सोचकर चाकू लेकर वहाँ जाने के लिए निकला, साथ में इन्दुबा भी आयी थी । हरि आदि बच्चे जिस स्थान पर खेलते थे, उस स्थान से यह जगह लगभग चार सौ फूट दूर होगी । इन्दुबा को कहा 'हरि रो रहा है और वह गिर गया है ।' तो वह कहे, 'नहीं, नहीं मुझे किसी के रोने की आवाज नहीं सुनाई दे रही है ।' फिर तो हम दातुन काटकर आये, तो हरि तो रो रहा था और वह गिर गया था, वह हकीकत सच निकली । यह लिखने का भावार्थ तो यह है कि जिसमें हमारी सचमुच की सच्ची, वास्तविकतायुक्त हृदय की उत्कट भावना पिरोयी होती है, उसे हमारे समक्ष प्रकट होने में कितनी देर लगेगी ? इसलिए हम हृदय में हृदय की सचमुच की वैसी भावना प्रकट करने का सीखें, वह हमारे लिए उत्तम हकीकत है । भावना का प्राबल्य कोई जैसा तैसा नहीं है । वह तो उसके उस प्रकार के अनेक प्रयोग करके देखने से सच्ची समझ पड़े न ?

भावना और कल्पना

भावना में कोरी कल्पना होती है ऐसा कितने ही मानते हैं, वह सच नहीं है । कल्पना अलग बात है और भावना अलग बात है । भावना में वास्तविकता होती है । कुछ भी आसमान

में नहीं होता । नींव या आधार बिना की वह नहीं हो सकती है । जब कि कल्पना में कोई एक बार वास्तविकता हो भी सही और वह न भी हो । अधिकतर तो वास्तविकता उसमें कम होती है । साधरणतः कल्पना में तो खाली खाली तरंगों का बेकार यद्वातद्वारूप से उड्डयन होता है । जीवनविकास की भावना के निर्माण में केवल कोरी कल्पना निरुपयोगी होती है । तब भी कोई एक बार सचमुच कोई साधक **जीव** को ऐसी कल्पना से भी कुछ मिल जाता अनुभव होता है । जब हम जीवन की प्रखर साधना के महाभाव में प्रकट हुए हो, उस भाव से वैसे प्रत्यक्ष प्राणवान हो चुके होते हैं, उस समय कल्पना में से भी वास्तविकता प्रकट होती अनुभव होती है ।

भावनाप्राबल्य प्रकट होते

यह सच्ची अनुभव की बात है । उसे किस तरह से समझा सकें वह समझ में नहीं आता । भावना का प्राबल्य जीवन में प्रकट होते जीवन के आकार और प्रकार बिलकुल नये ही प्रकट होते जाते हैं । जिसमें और उसमें नये दर्शन और नया भाव अनुभव हुआ करता है । ऐसों को प्रकृति में मात्र प्रकृति का दर्शन नहीं होता, पर उसमें उसे अंतरंगपन से भाव-लीला का खेल अनुभव होता है । ऐसे जीवन में भाव में भाव से एकाकार होते और भाव का समग्ररूप से विस्तार होता रहता अनुभव होते, वैसा प्रखर साधक प्रकृति का उपयोग भी कर सकता होता है ।

तभी साधन की धन्यता

हमें तो लिखना है वह चेताने के लिए । उस अनुसार स्वजन जीवन में आचरण करने की भावना प्रकट किया करे वैसा प्रस्तुत लिखने के पीछे हमारा प्राणवान उद्देश है । बाकी तो लिख लिख किया करने से कोई सार नहीं है । जीवन में जीवन से कोई खड़ा हो, तब हमें खुमारी प्रकट होती है । हमारी आँख में नशे का सुरमा अंजन होता अनुभव होता है । हमारी धन्यता और कृतार्थता वैसे वैसे **जीवों** के जीवन में खड़े होनेपन में रहा करते हैं और खुशी एवं संतोष पाने का तो वही एकमात्र सच्चा उपाय है । इसके बिना तो सब फुसलानेवाला है वह जानना । इस तरह उसे खुश करके जो जीता है, वह जीना जानता है, बाकी के तो जो भीगे नहीं और पके नहीं जैसे रहा करेंगे वह जानना ।

बालक जैसे निर्दोष बनो

बारबार इस पत्र लिखने की प्रवृत्ति में हरि आकर कुछ कुछ करने का कहकर हमें अंतराय डालने का किया करता है, पर वैसा बिलकुल नहीं लगता है, क्योंकि उसके पीछे की उसकी प्रवृत्ति में एकमात्र खेल की, निर्दोष आनंद के खेल की, लीला की भावना ही प्रकट होती हुई रहती है । उस तरह स्वजन की ओर से जो विघ्न और त्रास हुआ करते हैं, उसमें वैसा निर्दोष रूप प्रकट हुआ हो, तो वह हमें त्रास या दुःखरूप कभी नहीं होगें । हमें होते रहते त्रास और दुःख की हकीकत

भी सभी स्वजनों को अभी उसकी वैसी यथार्थता में समझ में नहीं आयी है। यह भी एक आश्चर्यकारक घटना है न ? अभी मौनएकांत में भाई, श्रीमद् राजचन्द्रजी के लिखे हुए पत्र की छोटी पुस्तक रोज घंटे घंटे पढ़ते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी को भी उन्हें स्वीकार करनेवाले स्वजनों से ऐसा होता था उस पुस्तक में है। श्रीअरविन्द के वैसे पत्रों में वैसा आया है कि नहीं वह नहीं जानता हूँ। दूसरे अनुभवियों को भी अवश्य ऐसा होता होगा।

कुछ दिनों से पेचिश जैसा हुआ है। फिर सिर तो ऐसा फट रहा है कि न पूछो बात।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. १८-४-१९५३

'पत्र लिखते समय समझ आ जाती होती है।' उस बारे में ऐसा कैसे होता है, उस बारे में तुम्हें मैं पिछले दिन के पत्र में लिख चुका हूँ। 'समझ आ गया इससे क्या हुआ ? बुद्धि को कोरी समझ से प्रत्यक्ष भावनापूर्वक का वर्तन का आनंद तो अलग ही होगा न ?' ऐसा तुम्हारा लिखना बिलकुल योग्य है। तुम्हें हुए अनुभव की हकीकत भी सच्ची है।

साधकों की अजाग्रति

''मैनें अभी हेमन्तभाई से भी पूछा था कि '.....' हमारे अत्यधिक विचार कह देते हैं। अरे ! अमुक बार तो वहाँ से लिखने के बाद, विचार पैदा हो या प्रसंग पैदा होता है। तो उस समय पर '.....' की उपस्थिति हमारे पास होती है तो पूरे

समय '.....' हमारे पास ही है, ऐसी ज्ञानपूर्वक की जागृति क्यों नहीं रहती है ?'' तब उन्होंने कहा था कि 'वही हमारे अंदर रहा दोष है।' मुझे तो यह प्रश्न अनेक बार उठता है कि 'ऐसा जाग्रत भान हमें क्यों नहीं रहता है ? और ऐसा भान रहेगा, तभी आगे बढ़ पायेंगे।'

प्रभुकृपा का भान तत्काल होना चाहिए

फिर, तुम लिखती हो कि 'अमुक प्रसंग में तो प्रभु ने ही सहायता की थी, पर सही ढंग से सभी प्रसंगों में उसका ही हाथ, उसका ही हेतु होता है, परन्तु उस उस समय प्रसंग में उसका वैसा प्रत्यक्ष ज्ञानभान रहता नहीं है। यदि ऐसी सब हकीकत जीवन में प्रत्यक्ष उस उस समय पर काम करती हो जाय, या काम देती हो जाय, तो जीवन पकने ही लग जाय।

अन्याय-दुःख द्वारा विकास की समझ

'अन्याय और दुःख के लिए तीन-चार दिन से एक विचार बारबार उठता है। वह यह है कि मुझे जो दुःख या अन्याय लगता है, वही प्रसंग या कर्म दूसरे को सुखकारी लगता है। अब यदि हमें जिसमें दुःख लगे, वह दूसरे को यदि सुखकारी लगता हो तो वह करने में हमें आनंद ही प्रकट होना चाहिए। दूसरे को दुःख लगता हो और हमें यदि सुख लगे तब वह हमें कैसा अच्छा लगता है ! तो संसार में जहाँ बहुत से **जीवों** के साथ में रहना होता है, वहाँ तो ऐसा ही क्रम लगभग चालू होता है, तो हम से दूसरे यदि सुखी होते हो और

उस तरह से भी श्रीप्रभु की सेवाभक्ति कर सकते हैं, तो वैसे अन्याय और दु:ख एक शब्द भी बोले बिना, प्रेमभक्ति के आनंद से, तपस्याभाव से सहन करने में ही विकास है ।'

प्रभु की सेवाभक्ति समझकर ही कर्म

यह तुम्हारा विचार उत्तम है । इसका संपूर्ण अमल प्रभुकृपाबल से ज्ञानभक्तिपूर्वक व्यवहार में किया करना है । इसके योग्य पालनवर्तन से जीवन में जीवन की सच्ची प्राणप्रतिष्ठा होनेवाली है, और इसमें से तुम्हें बल मिलता अनुभव कर सकती हो । अलग-अलग **जीवों** के सम्बन्ध के जो इधरउधर के संस्कार पड़े होंगे, वे उस तरह के और उस भावना करके जीवन के योग्य पालनवर्तन से निर्मूल होते जायेंगे । **ममता टाले बिना मोह नष्ट हो सकेगा नहीं । हमें तो कर्म जो करने हैं, वे किसी संसार की अमुक किसी व्यक्ति के लिए तो करने ही नहीं हैं न ? फिर कर्म में से व्यक्ति का छेद तो समूल टल जाता होता है । कर्ममात्र हमें तो जीवनविकास की भावना के निर्माण के लिए और श्रीप्रभु की सेवाभक्ति के लिए समझकर ही किया करना है ।** यदि वे वे कर्म रागद्वेष रहित हुआ करे, तो तो इससे करके श्रीप्रभु की प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं, यह जानना । 'जीवनप्रवेश' के १९१ से १९५ तक के पन्नें तुम पढ़ जाना । कर्म में से यदि व्यक्ति का छेद ही उड़ा दें, तो सभी **जीवों** के सम्बन्ध में कहीं कुछ हमारे दिल में तो उठ ही न सके न ?

दुर्लभता की सीढ़ी

चेतन में प्रकट हुए उच्चात्मा में **जीव** का मोह हो, राग हो, ममता हो, आसक्ति हो, तो वह वह सब हमारा किसी **जीव** के साथ होना हो, उससे अधिक उच्चात्मा में वैसा हो, तो उसके परिणाम **जीव** साथ के राग, मोह, ममता, आसक्ति जो रखे हों उससे अधिक तो अलग होता है । वैसी आत्मा एक तो मिलनी दुर्लभ होती है । होती है तो उसकी सच्ची पहचान होनी दुर्लभ होती है । प्रभुकृपा से वैसा प्राप्त हो और ज्ञात हो, तब भी उन पर मोह, राग, ममता, आसक्ति होना वह भी कठिन हकीकत है ।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. १९-४-१९५३

अहम्प्रेरित समझ को चाबुक से मारो

हमारी समझ का अभिमान पहले तो थोड़ासा नरम भले पड़ा हो, पर वह तो समूल से ही जाना चाहिए । साधक **जीव** स्वयं जो समझता हो, उसके मापतौल से समझे, माने, गिने, स्वीकार करे, अनुभव करे-वह सब प्रयत्न कर करके छोड़ा करने की ज्ञानपूर्वक की आदत विकसित करने की रहती है, यह जानना । किसी भी प्रकार की ऐसे या वैसे जो समझ रखा करनी होती है, उसमें अहम् भी बड़ा हिस्सा निभाता रहता है । **इससे अहम् को बारबार चाबुक पड़े ऐसी स्थिति में जान-बूझकर रखने का साधक को कभी कभी तो करना चाहिए । अत्यधिक क्रोध आये ऐसा किसी का अपमान मोल लेना**

भी स्वयं ज्ञानपूर्वक करना चाहिए । वैसा अपमान मोल लेने के प्रसंग के समय यह निर्माण का प्रसंग है, ऐसा ज्ञानपूर्वक समझकर वह सहन करने में यदि हृदय के भाव और आनंद प्रकट हो, तो वैसा सहन करने में उत्तम प्रकार की यथार्थता भी प्रकट हो सके । इस प्रकार के प्रसंग तो *इस जीव* ने तो समझ-समझकर जान-बूझकर मोल लिये हैं । हमारे अहम् को तो ज्ञानपूर्वक चाबुक मारने की अत्यधिक जरूरत है ।

यह भी अहम् ही

हमें कोई कुछ करने को कहे तो तुरन्त ही हम उसमें उस पर सुधार या सुचनाएँ देना शुरू कर देते है, तो भले ही फिर हमारी वैसी सूचना उस कर्म की उत्तमता के लिए योग्य प्रकार की हो, पर हमारे लिए वैसा टपक पड़ना उत्तम नहीं है, यह जानना । ऐसे के ऐसे ही, दूसरे के काम में भी यदि कुछ थोड़ा ऐसे या वैसे प्रवेश करने का हुआ, तो उसमें हम से जाने अनजाने कुछ सूचना देने का हो जाता है । ऐसा सूचना देने का होना यह भी एक प्रकार का हमारा अहम् ही है । पहले से इसमें हमारी मात्रा हलकी कम हुई हो इतना हुआ हो तो हुआ हो ।

किसी भी साधन से सूक्ष्म व्यवहारों में भी 'अंदरूनी' जगाओ

तथापि मन में तो वह वापस प्रकट हुआ करता है और कभी कभी बाहर वह टपक नहीं पड़ता, तब भी स्थूल में वह

बंद कराकर उसका हेतु तो मन में भी वह प्रकट होता रुके उस प्रकार का है । इसलिए मन, बुद्धि, प्राण के अंदर के व्यवहारों में सूक्ष्मता प्रकट करके उसमें चेतनयुक्त जाग्रति प्रकट हो और वहाँ शांति, तटस्थता, समता, प्रसन्नता, धीरज, सहिष्णुता आदि आदि सँभला करे यह अत्यधिक आवश्यक है । इसप्रकार यदि ज्ञानपूर्वक का जीवित अभ्यास हुआ करे तो 'अंदरूनी' जाग जाने में देर ही नहीं लगेगी । इसलिए किसी भी साधन से ज्ञानभक्तिपूर्वक एकसा पकड़ करके जीवन में वैसा किये बिना जीवन का अंत नहीं आ सकेगा, यह निश्चितरूप से जानना है ।

जागृति की थर

जागृति, जागृति की भी थर होती है और कक्षा होती है । एक प्रकार की जागृति मात्र सतह पर की होती है, जो प्रकृति की बाह्य प्रवृत्ति में रमा करती होती है । इससे गहरी दूसरे प्रकार की भी जागृति होती है, और इससे भी गहरी जागृति होती है । वैसी वैसी अलग प्रकार की कक्षा में अलग अलग प्रकार की समझ प्रकट होती रहती है ।

कर्म की उत्तमता का नया माप

हम से सूचना देने का एकदम होता है, इसका अर्थ तो यह है कि उसके संदर्भ की हमारी उस प्रकार की समझ को सिर खड़ा करने का अत्यधिक दिल रहा करता है । हम में प्रकट होती रही हुई समझ की उत्तमता विषयक भान अभी हमें

रहा हुआ है ही, और वह भी समूल जाना चाहिए। मात्र स्थूल व्यवहार आदि की बात में वह आवश्यक हो, तब भी उसकी उत्तमता का ख्याल मन में भरा रहा करता हो तो वह जाना ही चाहिए । उसकी उस प्रकार की योग्यता के लिए संसारव्यवहारवर्तन का क्षेत्र भले आवश्यक हो, पर हमें तो जो योग्यता जीवन में प्रकट करनी है, उसके ही संदर्भ में हमारा एकमात्र प्राणवान लक्ष रहना चाहिए। कर्ममात्र यदि श्रीप्रभु को रिझाना श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ की ज्ञानपूर्वक की भावना से हुआ करता हो तो फिर वह जैसा करवायेगा वैसा हुआ करना चाहिए न ?

कर्म *उसे* सौंपो, *वह* कब्जा लेगा

यद्यपि प्रारंभ में तो कर्म में वैसा स्वभाव, प्रकृति अनुसार ही प्रकट हुआ करता है। परन्तु उस उसमें जैसे जैसे ज्ञानपूर्वक की अंतर की वैसी वैसी जागृति हम रखा करने का अभ्यास करते रहेंगे, और उसे ही सौंपा करके वे वे सभी कर्म उसके लिए ही किया करने की हृदय की भावना वह आचरण के समय पर जीवित रखा करते होंगे, वैसे वैसे वह हमारा कब्जा लेते रहेंगे, यह अनुभव की हकीकत है। ऐसी भावना से और इस तरह साधना करनेवाले को वैसे अनुभव प्रकट हुए हैं । हम तो जो भी करते समय वह वह उसे सौंपा करने की भावना मन में जाग्रतरूप से रखा करनी है ।

जीवन की अखंड अविरत साधना

इसप्रकार, इस मार्ग की साधना तो जिसमें और उसमें अखंडरूप से जीवित व्याप्त रहे इस प्रकार की है। सतत दैनिक

व्यवहारवर्तन में उसका भाव उपयोगी होकर जैसे जैसे प्रवेश करता हो सके उतना वह उत्तम है । इसलिए जो भी कुछ करें, उसमें हृदय में गहरे उतर करके अंतर का भाव प्रकट कर करके वह किया करने की अत्यधिक आवश्यकता है । इसके लिए योग्य भूमिका तैयार हो जाये, इसके लिए हमारे आधार में संपूर्ण समतायुक्त शांति और तटस्थापूर्वक का ज्ञानयुक्त साक्षीभाव विकसित होता जाय तो वह उत्तम है । वैसे यदि ठीक उसके योग्य तरीके और उसके योग्य भाव से होता जाय, तो 'अंदरूनी' को जाग जाने में कितनी देर ? साधना में गहरे सही प्राण प्रकट करने के लिए उपरोक्त आचरण अत्यधिक आवश्यक है, यह जानना जी ।

प्रभु पर ही भार रख करके साधना

फिर, साधना के भाव का महत्त्व बहुत बहुत अधिक समझपूर्वक का जागा करे, वह तो आवश्यक होता ही है । अभी हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में स्वभाव, प्रकृति और हमारी प्रकृति के ही रीति-रिवाज, नियम, समझ आदि आदि व्याप्त हुआ करते हैं, वह हमारे लिए अनिष्ट है, यह जानना जी । बुद्धि में सच्ची समझ ला लाकर के उसे साधना की अधिक से अधिक गरज लगाने की जरूरत है । साधना उस (प्रभु) पर जितना अधिक भार देकर हुआ करे उतना उत्तम है ।

मैं नहीं, आंतरचेतन

यह जीव सूचना सलाह माँगा करता है, तब वह आनंद से वैसा करना । वह पल वह 'मैं वैसा करता हूँ' वैसा नहीं

जानना, पर 'मेरे में रहा हुआ चेतन वैसा करवाता है तो वैसा करता हूँ ।' ऐसी प्रत्यक्ष प्राणवान चेतनापूर्वक की जागृति प्रत्यक्ष वह वह पल में रखा करे, तो वह अधिक उत्तम ।

श्रद्धा बढ़ाने की रीति

अभी भी मोह, राग, ममता इत्यादि झाँकते हुए काम करते नजर आ रहे हैं । तो आप तो कहोगे कि 'मुझे आपको उस उस समय टोकना' पर वह संभव नहीं है, और वैसा मैं कर भी नहीं सकता हूँ । उसे तो ऐसे कुछ कोई जड़ नियम नहीं है कि अमुक समय पर वह ऐसा ही आचरण करे और अमुक समय पर वह वैसा ही आचरण करेगा । कोई कहे या सूचन करे वैसे कुछ उसी अनुसार आचरण करना न भी हो सके । फिर पहले किसी की जो फिर सूचना सलाह तुरन्त मानता हो, पर अब फिर उसकी समझ की गुत्थी और अहम् को तोड़ने के कारण से उसका कहना आदि वह न भी मानता हो । ऐसा करने में उसका ज्ञानपूर्वक का गहरा हेतु भी हो । इसलिए उसने जो कहा हुआ हो या किया हो वह यथार्थ है ऐसा अंतर में जागृतिपूर्वक स्वीकार करके उसमें जितना योग्य विवेक प्रकट करके, चेत करके योग्य प्रकार का जीना और बरतना जितना हो उतना वह उत्तम है । तेजी को तो टकोरा ही काफी है ।

गरज जागनी चाहिए

हृदय के राम को हमें यदि प्रकट करना हो, तो हमें जिसमें और उसमें उसे आगे करना रहता है । जो काम हमें

करना रहता है, वही किया करते हैं, ऐसा क्या अनुभव नहीं किया है ? तो हमें अब जो काम करना है, उसे आगे क्यों नहीं रख सकते हैं ? इसका क्या कारण हो सकता है ? इसका हमें दिल से पूरा विचार करना चाहिए । हमें स्वयं को संपूर्ण जाँचना चाहिए कि उसमें हमारी संपूर्ण वफादारी, प्रामाणिकता, नेकदिली, सच्चाई और उसके लिए प्राण भी समर्पण करने की नेक दानत आदि आदि सभी हमारे वैसे निश्चय में प्रकट हुए हैं या नहीं ? यदि वैसी संपूर्ण जीवन की गरज नहीं जागी होगी तो हम से कुछ भी **इस** मार्ग का हो सकने का नहीं है ।

ज्ञानात्मक प्रेमभक्ति वही श्रेष्ठ साधन

कोई न कोई साधन कुछ वैसे का वैसा वह कैसे करके पकड़ में आ सकता है ? या तो सद्गुरु में संपूर्ण श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा, प्रेमभाव, ज्ञानात्मक भक्ति आदि आदि जीवित प्रमाण में प्रकट हो गये हों और जीवनविकास के हेतु के ज्ञानभान के साथ दैनिक व्यवहारवर्तन में उनका उपयोग करने के लिए यदि उनकी भावना की धारणा हृदय में हृदय से रहा करती हो, तो वैसा अकेला साधन भी काफी है और उत्तम है । किसी न किसी सतत एकसा साधन का विकसित किया हुआ विस्तृत संपूर्ण जीवित अभ्यास के बिना हमारा अंत नहीं होगा, यह निश्चित जानना ।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २०-४-१९५३

अभिमान निर्मूल होने के उपाय

जीवन में अनेक प्रकार के अभिमान होते हैं । समझ का अभिमान, बुद्धि का अभिमान, कुशलता का अभिमान, अपनी शक्ति का अभिमान, धन का अभिमान, गर्व का अभिमान, सयानापन का अभिमान, वैभवविलास का अभिमान, रूप का अभिमान, व्यवहारकुशलता का अभिमान, यों अनेक प्रकार के अभिमान होते हैं । ये सब अभिमान हमारे जीवन में से निर्मूल होने चाहिए । वे कोई अपने आप तो थोड़े ही निर्मूल हो जाते हैं ? यह तो हमें जिस मार्ग पर जाना है, उसमें वे सचमुच विघ्नरूप हैं, ऐसा सचमुच का विघ्नरूप प्रत्यक्ष जीवन में जो अनुभव होते हैं और उसकी अपरंपार हृदय में उत्कट वेदना अनुभव हो, और वैसे वैसे समय पर प्रभु को उससे मुक्त करवाने प्रार्थना हुआ करे तो वह वैसा हो भी सकता है । ऐसे सब प्रकार के अभिमान में अहम् सबसे बड़ा भाग अदा करता है । उसके द्वारा ही तो अभिमान अभिमान रूप में जीवित रहता है ।

अहम् पर चाबुक पड़े तब दशा की कसौटी

इससे अहम् पर चाबुक पड़े उस समय जिस **जीव** को अत्यधिक आनंद प्रकट होता है, वैसे **जीव** से उस सब से कभी तो अवश्य मुक्त हो सकने का है, ऐसा निश्चितरूप से जानना । अहम् को चाबुक पड़े उस समय जिस **जीव** को

आनंद बिना दूसरा कुछ **जीव** प्रकार का लगता होता है, और जिससे करके उस **जीव** के मन को अशांति, क्लेश, संताप, त्रास, आकुलता आदि लगते हैं, तो अवश्य जानना कि अभी वह **जीव** तो अत्यधिक कच्चा है ।

प्रार्थनाभाव के साथ खास तो 'सूक्ष्म' दो

इस जीव का कुछ भी किसी के द्वारा किसी को भी क्षुब्ध करने जैसा **इस जीव** का हेतु नहीं है । श्रीप्रभुकृपा से सर्व किसी को जगाने का हेतु है । उसे तो सब कुछ हर लेने का दिल है, पर वह बलात् ही हर नहीं लिया जाता है । **जीव** की वैसी वैसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की हृदय की सहकारपूर्वक की भूमिका प्रकट होनी चाहिए । उसे देने की विधि जाननी चाहिए । दिया करने का हृदय का उत्साह और वैसा ज्ञानपूर्वक का भाव उसमें उस समय प्रकट हुए होने चाहिए । जो जो कुछ दो, उसमें वह वह सब अपने जीवन को मुक्त होने के लिए के हेतु का निश्चित ज्ञानभान उसमें प्रकट कर करके वह दिया करना है । स्थूल देने का तो कुछ भी हिसाब में नहीं है । सूक्ष्म ही सही तो दिया करना हो । उसका सभी कब्जा हमें उसे प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक समझ समझकर, जिस जिस समय वैसा वैसा उगे उस उस समय उसका योग्य ज्ञानभान प्रकट कर करके, उसे वह वह सौंपा करो । वह सौंपते समय उससे मुक्त होने के लिए हृदय में हृदय से प्रार्थना किया करो ।

• • •

दैनिक प्रार्थना

सुबह-शाम लोग प्रार्थना आदि करते हैं, वह तो मात्र प्रथा अनुसार की होती है। जो कुछ भी कोई न करते हैं, उससे अच्छा वैसी प्रार्थना भी जो करते हो, वह ठीक है। इससे दिन का जितना भी समय **जीव** चाहे वैसी दूसरी किसी क्षुल्लक बात में समय बिताये, इससे अच्छा इस प्रकार की प्रार्थना के भाव आदि में समय बिताये तो वह इष्ट होगा ।

प्रतिकूल वातावरण में अखंड शांति, समता, प्रसन्नचित्तता आदि आदि गुण जीवित रह सके तभी उसकी सही कीमत है न ?

चेतन स्वरूप में अनुभव हो तो...

इस जीव से भूल नहीं ही होगी ऐसा मानने का कोई कारण नहीं होगा। **इस जीव** में जो हो वह भले हो। परन्तु वह भी मानवी है। सभी किसी को चेतन प्रकार से तो कौन अनुभव कर सकता है ? किसी को उस भाव से अनुभव करके कोई जान जाये, तो उसकी दृष्टि, वृत्ति, भाव अवश्य ही बदल जायेंगे ।

राग का लक्षण

तुम्हें आये स्वप्न की हकीकत पढ़ी, किसी **जीव** के बारबार स्वप्न अनेक प्रकार के आयें, उसमें बार बार उसका मननचिंतन हुआ करे, बार बार उसके विचार प्रकट हुआ करे,

बार बार उसके लिए भाव जागा करे, बार बार ह्रदय में ऊष्मा प्रकट हो, तो जानना कि उन पर राग होने लगा है । उसके बिना राग हुआ नहीं है ऐसा जानना ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिःॐ   ता. २२-४-१९५३

उत्तमता की आशा साधक से प्रत्येक व्यक्ति रखेगा

किसी के साथ तुम्हारा क्रोध, दुःख आदि भावना से युक्त वर्तन के बारे में हमें लज्जित होना पड़े उसकी भी अहो बलिहारी है ।

हम जहाँ तक दूसरे **जीवों** जैसे थे, वहाँ तक हमारे पास कोई अधिक आशा नहीं रखता था, पर थोड़ासा भी **इस** (भगवान के) मार्ग पर जाने का किया कि लोग हमारे पास अधिक से अधिक उत्तमता की आशा की धारणा रखते होते हैं । उनको ऐसा पता नहीं रहता कि कोई कुछ एकदम प्रकृति या स्वभाव थोड़े ही सुधार सकता होता है ? परन्तु इस पर से हमें समझने का मिलता है कि अब हम से यद्वातद्वा व्यवहार करके नहीं निभ सकता है । तथापि फिर हमें कुछ लोगों के लिए जीना नहीं है । लोग तो बेपेंदी के लोटे जैसे हैं । आज एक बोले तो कल दूसरा भी बोले । जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसकी निंदा भी करते हैं । इसलिए उनके संदर्भ में हमारा मुँह, नजर और ह्रदय हमें कभी नहीं रखने हैं । तथापि उनकी अवगणना तो कभी भूलचूक से भी हम से नहीं हो सके । लोगों

में भी हमारा प्रिय खेल रहा है । उसके द्वारा वे हमें चेतावनी भी देते हो । इस तरह से हमें तो लोगों के बोलने में से सीखना भी होता है । यद्यपि लोग और वह (भगवान) दोनों एक नहीं हैं, उस हकीकत का जीवित ख्याल हमें रखना है । **लोगों में भगवान हैं, पर लोग भगवान नहीं हैं ।**

तटस्थता से स्वयं को जाँचो

अभी हमारा परम्परानुसार का जो जीना चल रहा हुआ है, वही का वही यदि चला करना हो तो हमें उबरने का कभी भी अन्त नहीं आ सकता, यह निश्चित जानना । जिस तरह से जीया करें, उसका प्रकार, उसकी समझ, उसका हेतु, उसकी धारणा, उसकी उस प्रकार की कौशल्ययुक्त भावना ये सभी हमारे में उस उस प्रसंग में थोड़े बहुत भी अनुभव होते हों, तो पर्याप्त आशा है ऐसा जरूर प्रमानना । हमारे पहले के जीने के रहन-सहन और अभी के जीने के रहन-सहन में इन दोनों के बीच हमारा बदलाव आचरण में अनुभव होता हो तो पर्याप्त आशा है । इस तरह से हमें स्वयं को कभी—कभार तटस्थतापूर्वक पूरी तरह से जाँचते रहना चाहिए । ऐसा काम अति आवश्यक है । कुछ भी अँधेरे में न ही होने दें ।

ज्ञानी की सूक्ष्म नजर

ज्ञानी और अनुभवी पुरुष अपनी आँख के आगे से अव्यवस्थित रूप में, यद्वातद्वा रूप से कुछ भी गुजरने नहीं देते हैं । उसकी विवेकभरी योग्य जाँच वे सहजता से कर लेते होते

हैं और इसमें कुछ भी गलत नहीं है । अनेक बार तो वे बोलते होते नहीं वह फिर अलग हकीकत है । हमारा बोलना, हमारा वर्तन–आचरण, हमारी प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार आदि तथा हमारी प्रकृति के भाव—ये सब उससे अनजान रहते होते हैं ऐसा तो कुछ भी नहीं है ।

ज्ञानी का गूढ़ वर्तन

उसके हमारे साथ के बरताव में भी अलग अलग वर्तन के प्रकार का हेतु होता है । उसने अमुक किया, इसलिए वह अमुक के लिए ही किया ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं । उसकी धारणा और हमारी धारणा उन दोनों में जमीन आसमान का अंतर होता है । इसलिए ऐसों को मेरे तेरे जैसा समझकर भूलचूक से भी बरतने का करेंगे, तो उसमें उसका तो कुछ भी नहीं है, पर नुकसान हमारे हिस्से आता होता है ।

अब हम से ऐसा तो जीया जायेगा ?

सर्व किसी को, उस उसके स्थान की समझपूर्वक की योग्यता हम से विवेकपूर्वक यदि दी जाती होती है, तो वही यथार्थ है । जैसे कि माता पिता हों, उनके साथ अघटित रूप से बरतने का तो इससे मातापिता तो मन में बुरा नहीं लगायेंगे, पर इसमें हमारी क्या शोभा ? हम कैसे तुच्छ गिने जायेंगे ! इसलिए हम जिस ढंग से अभी जी रहे हैं, वह अयोग्य प्रकार का है और जो जीवन प्रकट करना चाहते हैं, उसके प्रमाण में तो वह त्याज्य ही है, ऐसी जीवित समझ जीवन में जाग गये

बिना, और उसके सम्बन्ध में हमारा पर्याप्त योग्य ध्यान प्रकट हुए बिना, हम से जिस तरह से जीया जा रहा हो और आचरण हुआ करता हो उससे दूसरी उच्च तरह की समझ से और दूसरे उच्च प्रकार के हेतु के ज्ञानभान से जी सकना संभव नहीं है, यह निश्चित जानना । इसलिए अभी हम से जीए जाते जीवन की कक्षा और समझने के तरीके के बारे में पूरा सोचना चाहिए । फिर समझना चाहिए कि जो जीवन हम जीने का सोचा है, वह इस प्रकार के जीवन जीने से प्रकट हो सकनेवाला है कि क्या ? जीवनविकास के मार्ग में बुद्धि की इस तरह की मदद ज्ञानपूर्वक लिया ही करनी है ।

मौन लेना - पर ऐसा

जितना कम से कम बोला जाय उतना उत्तम है । सप्ताह में एक दो दिन मौन लिया जाय तो उत्तम । मौन लेना किन्तु वह बलपूर्वक नहीं, पर मौन का पालन करने से दिल को अधिक शांति, आनंद मिला करता अनुभव हो तो ही वैसा करना । प्रारंभ में कुछ दोष जैसा लगेगा, इसलिए दृढ़ता से निश्चय करना और वह ठीक से पालन करना । मौन में जाप नामस्मरण हो सके । बारंबार कुछ मन में ग्लानि लगने या ऐसा ऐसा लगने पर प्रभु की कृपामदद के लिए प्रार्थना किया ही करनी है, वह ध्यान में रखना । ऐसा किया करने से अधिक सच्ची समझ आयेगी, और ऐसे अनुभव से जो समझ मिलती है, वही सच्ची रीति से अधिक टिकी रहती है ।

वैराग्य के प्रकार

हम अभी जो जीवन जी रहे हैं, वैसा जीना हमें बिलकुल रुचता न हो ऐसा हो सकता है, उस समय से ऐसे जीने में हमारी समझ और हेतु बिलकुल अलग ही प्रकार के हो जायेंगे। इस प्रकार के भाव को एक प्रकार का वैराग्य भी कह सकते हैं। हमें जो सचमुच में करना है, उससे दूसरी किसी बात में हमारे मनादिकरण दृष्टिगत होने का दिल न करे, उसे भी वैराग्य की भावना अवश्य कह सकते हैं और वह उत्तम प्रकार की है। वैराग्य को और जीवन के प्राप्त हुए धर्म्य कर्तव्य को कहीं भी विरोध नहीं है।

जागो, जीओ और अनुभव करो

पर अब तुम जाग करके, बैठी हो कर ज्ञानभक्तिभाव से जीवन में जीवन का प्रयोग करती करती जीने का रखो, तो तुम्हें ऐसा ऐसा अनुभव मिला करे, कि जिससे तुम में श्रद्धा, विश्वास अधिक जीवन्त प्रमाण में प्रकट हो सके। इसलिए तुम्हें हम पर कृपा करनी है ! **हमारे स्वजन जीवनविकास की भावना प्रकट करने के लिए जीवित रहकर जीने का करे वही हमें तो पसंद है। वही हमारी सच्ची गुरुदक्षिणा है।** इसलिए वह दिया करने का दिल प्रेरित करना।

कार्य के पीछे का भाव

कृत्रिम रीति से पकाये हुए फलों का स्वाद और कुदरती रीति से पके हुए फलों का स्वाद–इन दोनों प्रकार के स्वाद

में अत्यधिक अन्तर रहता है । इस तरह अपने–आप आनंद से समझ के हेतु से जो किया करें और करना ही पड़ता हो और किये बिना छुटकारा ही नहीं है, इस तरह से वही का वही कर्म किया करते हों तो उन दोनों के परिणाम में भी भेद होता है । हमें तो जो भी आनंद से, जीवन के विकास के हेतु का जीवन्त ख्याल पैदा कर करके किया करना है । करने से पहले भी उसे हृदय में आमन्त्रण दें, ऐसा करने के बाद उसे वह सब सौंप कर करके निश्चिंत हुआ करें । इस अनुसार जीया करना है, यह लक्ष में तुम रखना ।

स्वजन के लिए प्रार्थना

श्रीभगवान कृपा करके **इस** शरीर में ऐसा उपजाये, कि जिससे प्राप्त स्वजनों का लक्ष जीवन के संदर्भ में अधिक चेतन प्रकार की जागृतिवाला रहा करे ! हे प्रभु ! हे दयासागर ! हे करुणानिधान ! हे कृपासिंधु ! हे पतितपावन ! हे पतितोद्धारक ! हे शरणागतवत्सल प्रभु ! दया करो, कृपा करो ! कोई भी किसी तरह से हमें मिले स्वजनों के दिल में गहरा दर्द प्रकट हो, इस तरह से जीवन में व्याप्त करके तुम्हारे चरणकमल में वे जीवन्त बना करे ऐसी तुम्हें हे भगवान ! बारंबार हृदय की प्रार्थना है । जिस हेतु के लिए वे मिले, उस हेतु को ही वे याद रखते नहीं हैं और जीवित रहने नहीं देते हैं, बाद में तुम भी क्या करो ! इसलिए हे प्रभु ! तुम कृपा करो कि जिससे वे अपने जीवन के हेतु का ज्ञानभान ठीक से जागता रख सकें । यदि

इतना ही हो जाय तो तो उन्हें जावित रहने में बाद में देर नहीं होगी ।

इसलिए हे दीनानाथ ! हे दीनबंधु ! हे प्रभु ! हम से अभी जिस तरह का जीवन जिया जाता है, वह तुम्हें पाने के लिए यथार्थतावाला नहीं है, ऐसा उसका गहरा गहरा प्रचंड अंतर में जला करता असंतोष तुम प्रकट करना । इस तरह का जीने में हमें कहीं भी चैन न मिले, कहीं सुख न मिले, कहीं सूझ न मिले, ऐसा तुम हमें कराना । हम में आपकी भावना न प्रकट हो सके ऐसा जो जो कुछ हो, उसके संदर्भ में गहरी गहरी अति अरुचि पैदा करो । हे प्रभु ! हम ने जिस हेतु के लिए सद्‌गुरु को जीवन में मिलने का किया था, वह किस तरह से फलीभूत हो सके हम ही जहाँ गलत ही जीते हों वहाँ ? हम अपने दैनिक व्यवहारवर्तन में तो तुम्हें पूरी तरह ही भूलकर, मानो कि तुम हो ही नहीं ऐसे सिर पर वस्त्र ओढ़कर अदृश्य रहा जाय — धोखा देते आचरण करते हैं। फिर दोष तो मात्र हमारा ही है। वैसे दोष का भी हमें तो संपूर्ण, योग्य प्रकार का भान जागता नहीं है, ऐसे हम पामर प्राणी है ।

इसलिए हे प्रभु ! कुछ करके हमारे सामने देख, हमें तुम जगाओ, जगाओ और बस जगाओ । धिक्कार है हमें कि तुम्हें पाने के हेतु के लिए साथ लगे तो रहे, पर वही हम, तुम्हें भूल गये । तुम्हें पाने के लिए तो जीवन में उस तरह का जीने का आचरण हो । उसके लिए योग्य समझ प्रकट हो, उसके लिए तो गुरु प्राप्त किये । गुरु के संदर्भ की सद्‌भावना भी न किसी

में रखने का किया या न उसकी सूचना अनुसार ज्ञानभक्तिपूर्वक जीने का किया । प्रभु ! हम तो ऐसे हैं । फिर हमारी प्रार्थना में भी बल कहाँ से हो ? कहाँ से, किस तरह से प्रकट हो ? कारण कि अभी जी रहे हुए जीवन का अभी गहरा गहरा लगता दर्द तो हमें होता नहीं ! तो फिर हम ऐसे जीवन का अभी गहराई से हो रहे दर्द का तो हमें लग नहीं रहा ! तो फिर हम ऐसे जीवन से किस तरह से भिन्न तरह से जी सकते हैं ! तो प्रभु ! तो हमें अभी वैसे जीनेपन में, तुम गहरा वेदनाभरा दर्द प्रकट करना । हे प्रभु ! हम तो बिलकुल गलत निकले हैं तो हे प्रभु ! हम तो जैसे हैं वैसे हैं, तब भी तुम ही हमारे तारणहार हो । तुम ही हमारे सहायक हो । तुम ही हमारे सच्चे रक्षक हो । तो हे प्रभु ! 'हम झूठे जगदीश ! लज्जा मेरी रखने से रहेगी ।'

स्वजन - प्रभु को प्रार्थना

ऐसी-ऐसी प्रार्थना आज तो सुबह से ही किया करता हूँ । प्रभु को तो कुछ कहा थोड़े ही जाता है ? उसे तो जब सुनना हो तब भले वह सुने, पर स्वजनों के दिल में मेरा जो प्रभु पड़ा हुआ है, वह यदि कृपा करके सुने तो कहूँ कि,

'हे प्रिय स्वजनों ! आप तो दया करना, कृपा करना और जागना । जिस हेतु के लिए मिले थे, उस हेतु के बारे में सोचना, और उस हेतु को योग्य जीने का करोगे तो बड़ा उपकार होगा । यह एक दिल की, प्रेमयुक्त, दर्दभरी विनती है ।'

• • •

टि्रचि हरि:ॐ ता. २४-४-१९५३

प्रभुसहाय का एक जीवनप्रसंग

इस जीव के शरीर को बताने के लिए यहाँ आना हुआ है । इस सद्‌भावी डॉक्टर के साथ का **इस जीव** का संबंध जानने जैसा है और रसिक है ।

एक बार हेमन्तभाई और **यह जीव** दोनों चोरवाड गये थे। चोरवाड काठियावाड (सौराष्ट्र) में है। वह तो तुम जानती होगी। वहाँ एक सद्‌भावी सज्जन श्री हरखचंदभाई हैं। वे श्री जीवणलाल एल्युमिनियमवाले के सगे भाई हुए। बहुत सेवाभावी और गांधीजी की आदर्शभावना से जीवन में रंगे हुए हैं । पूज्यश्री ठक्करबापा के लिए उनको अत्यधिक प्रेमभाव और भक्ति थी। स्वर्गस्थ श्री अमृतलाल पढियार, जिन्होंने 'स्वर्ग की सीढ़ी' आदि प्रकार की अनेक पुस्तकें लिखी हैं, (उनके सभी पुस्तकों के नाम 'स्वर्ग' शब्द से शुरू होते जैसे **इस जीव** को 'जीवन' प्रत्येक पुस्तक के नाम में प्रथम रखना पसंद है वैसे) वे श्री अमृतलाल पढियार को और उन्हें अति निकट का समागम था। उनको रहने करने के लिए उन्होंने एक घर भी बनवाकर दिया था। अभी वह उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। जिस किसी को जपादि साधन आदि करना हो तो वहाँ बैठकर वह आराम से कर सके इसके लिए जो सरलता चाहिए, वह वह सुविधा और सरलता वहाँ मिल सकती है ।

किसान के साथ सुमेल

वे श्री हरखचंदभाई ने **इस जीव** को तार करके हमें वहाँ रहने का आमंत्रण दिया था । वहाँ दो-तीन दिन रहे होंगे । उनकी चोरवाड में जमीन जायदाद भी अधिक थी । बाग बगीचे के बहुत ही रसिक । किसान और उनके संबंध भी कोई हृदय के अनोखे भाव के । उनकी पत्नी स्वयं, आये हुए किसानों के लिए सब्जी-रोट आदि बनाये । श्री हरखचंदभाई उनको अपने आप ही प्रेम से परोसते । एक दिन तो अचानक बारह-चौदह किसान आ गये थे । उस समय **इस जीव** ने भी परोसने का काम उनके साथ किया था । श्री हरखचंदभाई का उन लोगों को खिलाने में जो प्रेमभाव हृदय में प्रकट हुआ देखा है, वह जीवन में याद रह जाय वैसा था ।

पीलिया तब भी प्रवास का निर्णय

वहाँ **इस जीव** को पीलिया हुआ और उसमें पीलिया सखत बिगड़ गया । हम वहाँ थे, तब जूनागढ के नवाब साहब आदि भी वहाँ थे । उनके डॉक्टर भी वहाँ थे । उनके द्वारा योग्य सेवाटहल करवाने का उन्होंने भी अत्यधिक कहा, परन्तु **इस जीव** का तो जो **जीव** बस उठा वह उठा ही । उन्होंने तो अति आग्रह किया 'ऐसी दशा में जाना और वह भी दूर ट्रिचि तक पन्द्रह सौ मील दूर जाना, और वह भी कहीं आराम लिये बिना सतत इतना अधिक दूर आगगाड़ी में जाना । वह भी ऐसे शरीर से-अति जोखिमकारक है । कोई वैसा कर भी न सके । इस तरह से जाना वह बिलकुल सलाह भरा नहीं है ।

प्रभुकृपा से सब सुगम हो

पर यह मूर्खानंद कुछ माने ऐसे थोड़े ही थे ! वे तो निकले तो निकले । वीरमगाम तो आ पहुँचे । उस जमाने में (१९४४) दूसरे दर्जे की टिकट अचानक मिलनी वह तो असंभव घटना थी । बल्कि मिल ही नहीं सकती ! वीरमगाम पर एक टिकट इन्स्पेक्टर मिल गये । उन्होंने ही **इस जीव** को पहचाना । वे नडियाद के थे । उनको **इस जीव** के शरीर की दशा और दूर ट्रिचि तक जाने के निर्णय की हकीकत आदि सभी बात की । उन्होंने दूसरे दर्जे की टिकट लाकर दी और ऐसी सुविधा हो गई । प्रभु की कृपा होने पर सब कुछ सुगम हो जाता है । मुंबई पहुँचकर उसी दिन दोपहर डेढ़ बजे चलती गाड़ी में मद्रास । दूसरे दर्जे की टिकट तो नहीं ही मिली । इन्टर की मिली, वह भी बड़ी कठिनाई से । मुंबई से मद्रास पहुँचकर, मद्रास में कहीं उतरे बिना, वहाँ उसी ही रात ट्रिचि जाने की गाड़ी पकड़ी । प्रातःकाल ट्रिचिनापल्ली जंकशन पर पहुँचकर बैलगाड़ी कराकर केरापट्टी (ट्रीचि शहर के पास का छोटा ख्रिस्ती लोगों का उपनगर) पहुँचा था । शरीर के पीलिये की दशा में इस तरह दूर चोरवाड से ट्रिचि आ सकना बनना, वह हकीकत श्रीभगवान की प्रत्यक्ष कृपा ही थी ।

बिना दवा के पीलिया मिटना

उस समय शरीर की दवा करवाने का पूज्य मामा और भाई ने बहुत ही आग्रहपूर्वक कहा था । उनको बतलाया था,

‘अभी नहीं । यह रोग अपने आप मिट जायेगा, उसके बाद **इस** शरीर में जो जो सब होता है, वह सभी लिखवाऊँगा । उसके बाद ही दवा करवाने का रखेंगे । ’ कुछ दिनों बाद वह रोग तो मिट गया । बाद में भाई द्वारा इस शरीर में जो जो सब हो रहा था, वह लिखवाया था । दो-चार पेज भरकर वह लेख हुआ था । शायद वह लेख अभी भाई के पास हो तो हो भी सही । भाई ने तो **इस** शरीर में जो जो होता था, उस विषयक लिखा कागज उनके (डॉक्टर) के हाथ में रख दिया । उसे पढ़कर वे तो शायद हैरान ही रह गये होंगे ! फिर उन्होंने कहा, ‘यह कागज मैं अपने पास रखता हूँ, इसका मैं ठीक से अभ्यास करूँगा । उसके बाद जो कुछ करने जैसा लगेगा, तो वह करूँगा । आप कल आना । इससे दवा करने का शुरू करेंगे ।’ दूसरे दिन शरीर देखा और दवा शुरू की । भाई ने डॉक्टर के यहाँ जाने के लिए एक बैलगाड़ी मेरे लिए रखी थी । ऐसे प्रतिदिन वहाँ जाता । प्रत्येक चारपाँच दिन में तो कोई एक समय तीनचार दिन में शरीर में अलग-अलग लक्षण दिखते थे वैसे वैसे वे दवा में भी बदलाव किया करते थे ।

‘मुझे राह देखने की आदत नहीं’

एक दिन दवाखाना में आधा घण्टे के अलावा मेरा समय व्यर्थ हुआ । बारी आने पर डॉक्टर को मैंने कहा, ‘Well, Doctor Saheb ! I am not in the habit of waiting. (डॉक्टर साहब, मुझे राह देखने की आदत नहीं है ।)

डॉक्टर ने तुरन्त ही मेरे सामने देखकर कहा कि 'हाँ ! हाँ ! हाँ ! यह बात जानता हूँ । इससे अब से जब आप आओ तब तुरन्त ही थोड़ा भी संकोच रखे बिना मेरे पास आपको आ जाना है । तुरन्त ही आपका शरीर देख लूँगा, आपको जाने के लिए समय से ही मुक्त कर दूँगा ।'

'आपकी दवा करना असंभव और अनुचित'

फिर डॉक्टर ने कहा, 'सामियार ! (दक्षिण मे स्वामी, साधुसंत के लिए उपयोग में आता शब्द) आपको दवा लेने की जरूरत ही नहीं है । दवा किसकी करूँ ? आज अमुक हो तो कल फिर दूसरा और अमुक समय पर तीसरा हो ।' उसके बाद खास गंभीर मुख से उन्होंने कहा, 'मुझे आपके आगे आकर मेरे जीवन की समग्र उलटी-सीधी, खड़ी सारी कथनी कहकर सुना करके मुझे खाली हो जाने का दिल इन दोतीन दिन से हुआ ही करता है । यदि वैसी वैसी भावना रहा करेगी और वह प्रेरणा अदम्य होगी तो किसी दिन आपके पास आकर के सब कुछ कह करके शान्त बनूँगा । ऐसा कभी मुझे हुआ नहीं है । आपके पास ही हृदय उड़ेलने का दिल हुआ करता है ।' यह बात भाई को बतलायी थी ।

खुलकर दिल की बात

उसके बाद वे बारह बजे के बाद एक दिन अपनी कार से भाई रहते थे, उस जगह पर आ पहुँचे और कहने लगे 'आपके पास आये बिना आखिर तो रह ही नहीं सका, इससे

आया हूँ ।' और अपने जीवन की सारी हकीकत खुलकर बतलायी । उस समय भाई ने बतलाया, 'हम दोनों (एक दूसरे भाई, कांतिभाई नाम के तब वहाँ थे) चले जायें ।' तब उन्होंने कहा, जब आज जीवन की किताब खोलने ही बैठा हूँ, तब आज मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं है । आप भी भले सुनो । यह हकीकत कोई सीधी सादी तो थी ही नहीं । उनके जीवन की कथनी में कुछ कुछ अलौकिक प्रकार की थी, अद्भुत इधरउधर का भी था ही । वह सभी निरन्तर बिलकुल हिचके बिना वे बस कहते ही गये । उसे कहने के पश्चात् उनको शांति हुई हो ऐसा उनको अवश्य लगा था ।

तब से निकट संबंध

वह संबंध तब से जो जीवित हुआ है, वह संबंध आज भी कायम है । मेरे शरीर की दवा के पैसे अभी वे नहीं लेते हैं । अभी यहाँ आया हूँ दवा करवाने के लिए । रक्त आदि की जाँच करवानी है । इन्जेक्सन आदि देने होते हैं और दवा भी । तो उन सभी के वे पैसे आग्रहपूर्वक नहीं लेते हैं ।

हृदयपूर्वक आत्मनिवेदन करनेवाला स्थायी स्वजन होगा

जीवन की वैसी सब हकीकत उनके दिल में कुछ भारी वेदना प्रकट करती होनी चाहिए । यदि वैसा नहीं होता तो **इस जीव** के सम्बन्ध का आकर्षण प्रकट हुए बिना इतने कम परिचय से और वह भी डॉक्टर और दर्दी का बाह्य परिचय से, उनसे कोई इस तरह से जीवन का वैसा वैसा सब बोला

नहीं गया होता। उनका निवेदन बिलकुल हिचके बिना था और आरपारदर्शक था। उसमें संपूर्ण स्पष्टता थी। उन्होंने कुछ भी छिपाया नहीं था। जब वे कहने बैठे थे, तब उन्होंने बस सभी उड़ेल दिया था। वह वह कहने में उनका हृदय खाली हो रहा था। ऐसा हृदय से किया हुआ और झिझके बिना साफ कहना, संपूर्ण हृदय को खोलकर रख दिया (आत्मनिवेदन) यह हमें अत्यधिक प्रिय लगता है। ऐसा **जीव** उस काल के बाद हमारा स्वजन हो जाता है। ऐसों को बाद में मिलना हो या न हो, भले ही वैसा **जीव** अपने चक्रमाला में भूल गया हो, परन्तु वह हम से भुलाया नहीं जा सकता है।

हमारी माँग-भाव निथरता हृदय

हम तो जहाँ तहाँ से माँगते हैं स्फटिक के समान, पारदर्शक भाव से प्रेरित हुआ और निथरता हृदय। ऐसे हृदय के बिना का कितना भी अधिक क्यों न हो, पर हमारे मन में वह अर्थ बिना का होता है। किसी भी उच्चात्मा के आगे शुद्ध निथरते भाव से खाली हुआ हृदय कभी भी बेकार नहीं जाता है। कुछ भी आशा, कामना, इच्छा, कल्पना या गिनती से झिझक कर, हिसाबी ढंग से, सोच सोच करके, गिनती कर करके, किसी अंतर की दूसरी समझ से या ऐसी रीति से दिया हुआ जो हो, वह हमारे मन दिया हुआ होता ही नहीं। हम तो जिसमें और उसमें सभी तरह से शुद्ध भाव से निथरता हृदय ही चाहते होते हैं। मन, बुद्धि, प्राण या अहम्

के स्वभाव अनुसार दिया हुआ हमारे काम का नहीं होता है । भले ही वह 'दिया हुआ' गिना जाय और प्रत्यक्ष रूप से दिया भी हो, परन्तु वह श्रीप्रभु के चरणकमल में जाकर आराम से बैठा है, ऐसे भाव की धारणा प्राणवान जिसमें नहीं होती है, वैसा वैसा सभी भले जैसे हो वैसे हो, वैसा प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया हुआ भी लगे, किन्तु जैसा, संपूर्ण स्वच्छ, शुद्ध भाव से निथरता हृदय – जो उसके चरणकमल में उत्साह से ज्ञानभक्तिपूर्वक अर्पित होता है, वही उसे योग्यरूप से स्वीकार्य होता है ।

ऐसे हृदय के भाव का खुराक दो

इस तरह और इस भाव से दिये या दिये जाते हृदय, वह तो उसे उसमें जीने के लिए खुराक है । इससे देना हो तो हृदय के संपूर्ण उत्साह से, अपने जीवनविकास के हेतु के लिए, किसी भी प्रकार की, अंदर या बाहर की (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शर्त बिना बस देना । **जिसमें पारदर्शक भाव से निथरते उत्साह से छलकता हृदय नहीं है, वह हमें उपयोगी नहीं है ।**

• • •

ट्रिचि हरिः ॐ ता. २४-४-१९५३

स्वप्न में भविष्यवाणी

इस जीव को प्रभुकृपा से साधना में पड़ना हुआ और प्रारंभ में दोएक वर्ष में इस तमिलनाडु प्रदेश के दृश्य स्वप्न

में आया करते थे और हिमालय के भी । हिमालय के तो एकदम बचपन से ही आया करते थे । इस देश के दृश्य स्वप्न में आया करते थे, पर वे किस देश के हैं, उसकी कोई सूझबूझ उस समय लगती ही नहीं । किसी स्थान के दृश्य वे होंगे, ऐसा लगता था । जब १९४१ के वर्ष में पहली ही बार इस तरफ आया था, तब वह सब अचानक ताजा हुआ था ।

साधना का लक्षण-स्वप्न में जागृति

स्वप्न में जब चेतनयुक्त ज्ञानभाव की जागृति प्रकट हो और तब शांति, समता, तटस्थता आदि बने रहें और वे भी छाप डाले बिना बह जाय, तब **जीव** साधना में धँसा हुआ है ऐसा गिन सकते हैं । स्वप्न दशा में चेतनयुक्त जागृति टिक सके, यह कोई मेरे तेरे जैसे **जीव** से एकदम हो सकना संभव नहीं है । प्राणवान चेतनयुक्त जागृति और वह भी प्रखर उत्तम कक्षा की प्रकट हुई होती है, तभी स्वप्न की दशा में समता, तटस्थता, शांति, विवेक आदि सज्ज बने हुए और योग्य काम देते अनुभव कर सकते हैं ।

अपनी निद्रा में जागृति

साधना में आगे बढ़े हो कि नहीं, उसका एक दूसरा लक्षण-वह निद्रा का प्रकार है । साधना में आगे ही आगे कदम बढ़ाने पर निद्रा के प्रकार में बदलाव आना होता है । निद्रा मूर्ख व्यक्ति की तरह फिर नहीं रहती है । निद्रा लेते हों पर वह मानो कि अन्दर जागते इस प्रकार की । इस प्रकार की

निद्रा होने पर या हो जाने पर, उस समय मेरे जैसों को तो साधना में लक्षण की कुछ भी सूझबूझ उगी नहीं हुई थी। निद्रा में स्वस्थता तो संपूर्ण होती है। मानो निद्रा में ही हों, दूसरे लोगों को भी वैसा लगे, खर्राटे भी बोलते हों, शरीर भी निश्चेष्ट रूप से पड़ा हो, पर अंदरूनी जागृति रहा करती है। दिन के कामकाज में तो एकदम जीवित स्फूर्ति रहा करती थी और निद्रा में भी ऐसी जागृति के कारण आगेपीछे का सभी समझ में आया करे, इससे **इस जीव** को ऐसा लगा करता कि मानो निद्रा ही नहीं आती है। साधना में आगे जाने पर निद्रा का ऐसा प्रकार बदलता है। वह तो बिलकुल १९३७ के वर्ष में उससे समझ प्रकट की तब प्रकट हुई थी। उसके पश्चात् तो निद्रा बहुत गहरी हो और मुर्दे जैसी निद्रा भी हो, यद्यपि अंदरूनी चेतनयुक्त जागृति तो प्राणवान ही रहती है। **इस जीव** की उस प्रकार की निद्रा की भाई और दूसरे सभी को, निकट के परिचय में आनेवालों को पता है। भाई को तो वह स्वयं ज्ञात हकीकत है।

दो प्रकार की जागृति

फिर, साधना में संपूर्ण धँस गये हैं, इसका तीसरे प्रकार का लक्षण है, वह तो साधक को स्वयं ही इसका पता चल सके वैसा होता है। वह दो प्रकार की जागृति में जीवित हो वैसा उसे लगता है। वह उसकी बाह्य प्रवृत्ति में काम करता होने पर भी, वहाँ बाह्य प्रकार से उसकी जागृति उसे काम देती

रहती है और साथ ही साथ अंतर की जागृति अंतर के प्रकार के काम में (साधना से प्रकट होते रहते अचल भाव के काम में) पिरोये हुए हमें रखा करती है ।

इससे भी आगे की जागृति

फिर, एक ऐसे प्रकार की इससे भी गहरी चेतन प्रकार की जागृति भी है, उसे ऊपर के प्रकार की जागृति–उसका प्रमाण, उत्कटता, गहराई, सूक्ष्मता बढ़ते बढ़ते चीरती है, उसमें छेद करती है। (यह तो समझाने के लिए ऐसा लिखना पड़ता है, बाकी यह तो है सहज क्रिया) यह जब चीराती है, तब साधक का काम पूरा पक जाता होता है। इसप्रकार, एक प्रकार की जागी हुई जागृति से दूसरी जागृति में छेद पड़कर कुछ नये का ही हमें ज्ञान होता है। यह क्रिया जब होती है, तब साधक के जीवन को कोई हाथ पकड़कर राह दिखाता हो, प्रेरित करता हो, चलाता हो, ऐसा उसे प्रत्यक्ष लगा करता है। ऐसे अनुभव की हकीकत किसी को कही हुई नहीं है और वह किसके दिल में उतर सके ? और उसे कौन समझ सके ? किसी महान ज्ञानी महात्माओं के अनुभव ऐसी हकीकत के साथ मिलते आये तो प्राप्त हुए स्वजनों को उपरोक्त बात की यथार्थता लगा करे । **इस जीव** के जीवन की कितनी ऐसी अनुभव की बात दूसरे महान आत्माओं के जीवन के इस प्रकार के अनुभवों की हकीकतों के साथ मिलती आने का पढ़ने पर, **इस जीव** के **जीव** की वैसी हकीकतों के जिस प्रकार का योग्य, उत्कटता

से उद्दीपन स्वजन के हृदय में होना चाहिए इस अनुसार भी हुआ नहीं है। ऐसे अनुभवों की हकीकत मिलती हुई आने पर भी उसका गहरा तारतम्य और उसकी महत्ता साधना के हेतु के लिए प्राप्त हुए स्वजनों के दिल में प्रकट नहीं हुए हैं, ऐसा भी **इस जीव** ने अनुभव किया है।

स्वयं को ऐसे अनुभव से मन में लगी विचित्रता

इस जीव को अधिक तो जब उसे ऐसे दो प्रकार की जागृति में रहा करने का हुआ था, उस समय कुछ काल विचित्र प्रकार का लगा करता। ऐसी हकीकत कहाँ जाकर और किसे पूछना इसका कुछ भी पता नहीं चलता था। एक बुझुर्ग सद्भावी साधुपुरुष का प्रभुकृपा से समागम हो गया था। उन्हें उपरोक्त यह सभी हकीकत बतलाने पर कृपा करके उन्होंने सभी हकीकतों का योग्यतापूर्वक तारतम्य मुझे समझाया था। **इस जीव** की वैसी वैसी सभी हकीकत जानकर उन्हें अत्यधिक आनंद हुआ था।

इसे लिखने का हेतु

ये सभी लक्षण तुम्हारे पर के पत्रों द्वारा इसलिए लिख रहा हूँ कि मेरे जैसे मथते किसी **जीव** को उसका पता चल सके।

नामस्मरण की अद्भुत शक्ति

सन् १९४४ की बात होगी। भाई केरापट्टी रहते थे। **यह जीव** उनकी ट्रिचि की पीढ़ी में कुछ दिन रहने गया था। वहाँ

उनके किसी संबंधी का शरीर ठीक नहीं रहता था। इससे वहाँ पूज्य मामा को बतलाया, 'यहाँ जोर से नामस्मरण का जपयज्ञ शुरू कर सकते हैं क्या ? कारण कि बाहर ग्राहक आदि आया करे और जोर से नामस्मरण हुआ करता हो, तो इससे उनको बेहूदा नहीं लगा करेगा न ? उन्होंने बतलाया, यहाँ के लोगों को तो उलटा यह बहुत अच्छा लगेगा। मैंने कहा, आज इस **जीव** से नामस्मरण हुआ करे उसमें मेरी बहन अपना मन-दिल रखा करे और धीरे धीरे नामस्मरण किया करे। चार दिन में दोसेर-तीनसेर वजन बढ़ना हो तो बढ़े।' इस तरह से प्रभुकृपा से **इस जीव** ने वहाँ पीढ़ी पर सतत जोर से नामस्मरण का जपयज्ञ प्रारंभ किया था। उसमें **इस जीव** का जो संकल्प हो वह हो। इससे उस बहन का वजन तीनेक सेर अवश्य बढ़ा था, अंदाज ८८ का ९१ हुआ था, इतना ही नहीं पर दूसरे जो **जीव** वातावरण में थे औंर जिस जिसने सुना किया था, उनका वजन भी बढ़ा था। उसमें से एक **जीव** हमारी... बहन भी थी।

स्वजनों ने अद्‌भुत प्रसंगों का लाभ लिया नहीं है

परन्तु जिस तिस के साथ इस तरह से कर बताने के प्रयोग जहाँ और वहाँ **इस जीव** से कुछ हो सकते नहीं। प्रभुकृपा से **इस जीव** को जो जो **जीव** प्राप्त हुए हैं, उनको उनको उनमें श्रद्धा हो सके, इस तरह प्रभुकृपा से ज्ञानपूर्वक, उसके हेतु के साथ कुछ न कुछ किया हुआ है। किन्तु उसका

योग्य पर्याप्त लाभ कोई नहीं ले सका है, वह उनके भाग्य की बात है। उसका कारण यह है कि उन उन **जीवों** को **इस** मार्ग की अभी सच्ची भूख, सचमुच की आतुरता प्रकट हुई ही नहीं थी। उपरोक्त ऐसी हकीकतों को भी उसके योग्य भाव में और योग्य वास्तविकता में भाग्य से ही कोई **जीव** स्वीकार कर सका होगा। किसी को भी अपनी सच्चे ढंग से पड़ी नहीं होती है। सभी कोई एक प्रकार के जीवन की इच्छा के विरुद्ध मानो बस खींचा ही करते हो ऐसा लगता है।

• • •

ट्रिचि हरिः ॐ ता. २५-४-१९५३

इस जीव का शरीर भी ठीक नहीं है। यहाँ डॉक्टर को शरीर बतलाने बुधवार शाम को आया था। शरीर की सँभाल पर्याप्त रखनी। **शरीर की चिंता तो करें ही नहीं, पर उसकी संपूर्ण सँभाल रखना तो धर्म है। उसके संदर्भ में किसी भी तरह से बेदरकार नहीं रह सकते हैं। यह तो हमारा सबसे बड़ा साधन है। मानवी के शरीर की कीमत किसी से ही आँक सके ऐसा नहीं है। उसका तो प्रेम से जतन करना हो। साथ ही साथ ज्यादा उसे फुसलाना भी नहीं है।**

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. २७-४-१९५३

पिछले शनिवार से बुखार है और आज भी है। शनिवार को पूरी रात सभी को जागरण हुआ था। रविवार भी उस तरह

से गया। विवरण से लिखने का समय नहीं है और शरीर की दशा भी नहीं है।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २९-४-१९५३

शरीर को कुछ हुआ है। चिंता करने की कोई जरूरत न हो। ऐसी चिंता करके यदि सचमुच हृदय में उसके प्रति सचमुच का प्रेमभाव हो और उसके बारे में कुछ लगता हो, और उसकी ऐसी दशा जानकर यदि कोई भावना हो, तो उस भावना से जागृति रखकर नामस्मरण हो सके तो उत्तम। बाकी तो जल भुनकर रहने से क्या मिल सकता है ?

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २-५-१९५३

स्थूल की भी अवगणना न हो

पूज्यश्री... का पत्र पढ़ा, उसमें बात सच लिखी हुई है कि 'स्थूल में तो दु:ख ही है। सूक्ष्म में देव का आनंद मिल सकता है।' सूक्ष्म द्वारा साधना का विकास भी जल्दी हो सकता है पर सूक्ष्म में प्रवेश किस तरह से करें ? ऐसी जीवनकला यदि तुम्हें उनके पास से सीखने को मिल सके, तो तुम्हें अवश्य सीख लेना है। उसमें मेरी भक्तिपूर्वक की तैयारी है।'उसमें' यानी उस प्रकार से सीख लेने की तुम हृदय की मनोवृत्ति को प्रकट करो, और उस अनुसार सीखने का करो उसमें। हमें उनको भक्तिपूर्वक पूरी तरह से सुनना है। जो मदद

मिल सके, वह तो अवश्य लेनी हो । स्थूल को भी सूक्ष्म में प्रवेश करने के लिए साधन गिनना है । स्थूल द्वारा सूक्ष्म में जा सकते हैं, परन्तु उसके लिए स्थूल के ज्ञानभक्तिपूर्वक का प्राणवान हेतु के ख्याल के साथ के वैसे उपयोग की कला हमें जीवन में प्रकट करनी होती है । जीवन में जो जो मिला है, उसमें से कुछ भी बेकार नहीं है, तो स्थूल तो होगा ही कहाँ से ? स्थूल की भी अवगणना नहीं करनी है ।

विकास के लिए डंडा खाने की भी योग्यता

साधक के अहम् को और उसके प्राण को और उसकी बुद्धि को और उसकी समझ के अभिमान को, जितना अधिक से अधिक आघातजनक डंडे पड़े उतना उत्तम में उत्तम है-यदि उसमें से सीखकर जागकर उठने का करे तो ।

इस जीव को भी खून गिरा करता था । मस्सा था या अर्श इसकी पक्की जाँच करवायी नहीं थी, पर अधिक छिलता नहीं था ऐसा लगने से पीढ़ी से वेसलीन मंगवायी थी । अब भी मस्सा की असर थोड़ी बहुत होगी सही । तुम्हें ऐसा था, यह हकीकत अब तुम्हारे पत्र से जानी है ।

उनका योग्य मर्यादा में सत्संग करो

'मेरे विचार सूक्ष्म हैं । स्थूल में मैंने बहुत दुःख अनुभव किया है । सूक्ष्म में श्रीप्रभु के पास जा सकते हैं और गई हूँ । देवों की ओर से शांति सम्मुख मिलती है । अधिक नहीं लिखूँगी ।' यह हकीकत बिलकुल वास्तविक है । जो बातचीत

हुई हो उसे अवश्य लिखकर बतलाना। अभी हम ने तो आरंभ भी नहीं किया है । उनकी मर्दानगी, साहस, हिंमत, धीरज, शांति, नीडरता आदि गुणों के लिए हृदय में जीवित सद्भाव यहाँ तो प्रकट हुआ किया है। आध्यात्मिक मार्ग का अनुभव कभी संपूर्ण नहीं हो सकता है। हम जहाँ हैं वहाँ रहने का होने से, उससे दूसरे किसी तरह से रहना संभव न होने से, वहाँ सुमेल बना रहे वैसे भाव से और उस तरह से, उनका सत्संग अवश्य करना है। **इस जीव** को यदि अधिक रहना हुआ होता तो यदाकदा मिलने का प्रभुकृपा से रख सकते थे ।

• • •

ट्रिचि हरिः ॐ ता. ४-५-१९५३

शरीर की चिंता करने जैसा कुछ भी नहीं है। **इस जीव** के शरीर को कहीं कुछ होने से, यदि आप सभी को कुछ हृदय में चिंतनभावना जाग सके, तभी वह अर्थवाला गिना जायेगा । इसलिए सचेत रहकर प्रभुभावना में समय बीत सके ऐसे जीया जाय, तो ही धन्यता है ।

संसार मिलने का हेतु

सदा प्रसन्नचित्त रहना। **संसार मिला हुआ है, वह डूब कर मरने के लिए नहीं मिला है। संसार उसकी उपाधि और मुठभेड़ में एवं संसार के ही वातावरण में जीने के लिए वह मिला हुआ नहीं है । यह तो मिला हुआ है, उसकी चेतनपूर्वक की विविधता और विस्तार के दर्शन करने के**

लिए । इससे करके जो चेते और जागृति रख सके, वह जी सकता है ।

• • •

ट्रिचि हरिः ॐ ता. ६-४-१९५३

आर्त और आर्द्र प्रार्थना अवश्य बचायेगी

जीवन में बहते हुए हम चाहे उस समय युद्ध न कर पाते हों, पर बहते जाने पर वैसा यदि दिल को पसंद न हो, इस कारण से यदि सच्चे दिल से प्रभु या सद्‌गुरु को आर्त भाव से पुकारते रहें, तब भी **जीव** अवश्य उबर सकता है । जीवन की ऐसी क्षणों का अनुभव वह तो जीवन के सच्चे मूल्यांकन की कसौटी है ।

दिल साफ तो सब सुधरेगा

सच्चे दिल को प्रभु कभी छोड़ नहीं सकते हैं । सच्चे के बेली तो श्रीराम हैं । आकाश से गिरा हुआ पानी वापस से घूम घूमकर आकाश में चढ़ता है और वहाँ से वापस नीचे गिरता है, पर वह वापस ऊपर चढ़ने के लिए ही । मानवी के जीवन की ऐसी चढ़उतर की जीवनकला में, यदि वह अपने दिल को सलामत रख सकता होता है, तो दूसरा सब बिगड़ा हुआ वह सुधार सकता होता है, परन्तु दिल सलामत, स्वस्थ, संपूर्ण निखालिस, प्रमाणिक, वफादर, नेक भाववाला रहा करा हुआ होना चाहिए । साधना के मार्ग में यह शर्त अनिवार्य है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　हरि:ॐ　　　　　ता. ९-५-१९५३

प्रभुस्मरण बिना कुछ भी न उबारे

भगवान का नामस्मरण और उसकी कृपामदद की हृदय से होती रहती प्रार्थना-इतना साधन यदि योग्य प्रकार से और वैसे भाव से न हुआ किया, तो तो फिर सब कुछ बस निपट गया समझो । कृपा करके उसे याद किये करने का या सुनने का न हो पाया, तो हमें कोई उबार नहीं सकता । प्रभु को जिसमें और उसमें याद करना है। वही सच्चा है। संसार मिला हुआ है, वह उसमें उलझ कर मरने के लिए नहीं मिला है । सभी **जीव** उसमें किलबिलाते रहते हैं। प्रभुकृपा से हमें संसार में किलबिलाया नहीं करना है । हमें तो जो भी सब उसके ही प्रीत्यर्थ करना है । इसलिए उसे ही जिसमें और उसमें प्रथम अगुआ रखकर हमें बरतना है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　हरि:ॐ　　　　　ता. ११-५-१९५३

'अंत:करण जिसकी खान है, वह यह जन्मसंबंध तो ऋणानुबंध की ऋजुगरवी कविता है।' ऐसा एक वाक्य अभी पढ़ा है । मानो उस पर एक माहात्म्य का काव्य लिख डालूँ ! कितने उत्तम प्रकार का और उत्तम भाव का मौक्तिकमणि है ! कोई कलम पास में नहीं है । अब लिखने जितनी शरीर की स्वस्थता नहीं है ।

इतना तो करो !

हम सब **जीव** संसारव्यवहार के अनेक प्रकार के भँवर में डूबकर मरते हैं, उसका मूल कारण तो यह है कि वह संसार हम में भरा पड़ा हुआ है । इससे अतिरिक्तता से हम भगवान में राचते नहीं हो सकते । हृदय की सच्ची बहादुरता प्रकट हुए बिना क्या हो सकने का है ? यदि सच्चे हृदय से न जागा जाता हो तो फिर दिल में उसके संदर्भ में उत्कट आतुरता भले जगाया करो ! स्मरणभावना जीवित रख सकने के लिए तो जोश प्रकट करो ।

गुरु का आश्वासन तब मिलेगा

आश्वासन देने से दिया नहीं जाता । लेने की कला उसके लिए **जीव** को सीखनी पड़ती है । हृदय हृदय मिले हुए हों और वह भी जीवित सद्भाव से तारतार बंधे हों और उस दशा में उसे यदि प्रार्थनाभाव से हृदय में हृदय से पुकारना बने, तो मदद, आश्वासन आदि प्राप्त होते तुरन्त अनुभव कर सकते हैं । **इस जीव** को उसके श्रीगुरुमहाराज का वैसा अनुभव है ।

नरम होने पर कुछ नहीं मिलेगा

तुम्हें किस तरह और क्या लिखूँ ? हिंमत, धीरज, आशा, ऊष्मा, सहारा, सहानुभूति आदि आदि तुम्हें अपने अंतर से पाने हैं । हम तो बिलकुल मृत पड़े हैं । उसे तो कौन उठाता है और कौन जगाता है ? उसकी अभी किसी को पूरी तरह से पड़ी नहीं है । इसलिए कृपा करके सचेतन होकर जो जीता

है, जिस जीवन में जीवन को प्रभु में मिलाने की दिल की सच्ची, सही, पूरी, नेक दानत प्रकट हुई है, उसे वह फिर लाचारी क्या ! इससे तनकर रहना और मर्द बनकर जीना । रोना रोने से तो उलटी कायरता बढ़ेगी । परिस्थिति तो कैसी भी आये पर वह हमें झुकाये और दबाये नहीं, वह देखने का काम हमारा है । इसके लिए हमें सावधान होना है, यह जानना । ज्यादा लिखने को दिल नहीं होता है । जो करता है, उसे ही समझ आता है । जिसे मदद लेने की गरज जागी होती है, वह तो उस अनुसार व्यवहार करने में सार मानता है । इसलिए हृदय में हृदय से मदद प्राप्त कर लेने का दिल आतुरतावाला कर करके, हृदय हृदय मिलाकर, तार जोड़कर, प्रेमभक्तिभाव से प्रार्थना करने से सब कुछ ठीक हो जायेगा । इसलिए कृपा करके बैठे हो जाना । इसमें नरम हो जाने से क्या मिलेगा ?

यहाँ शरीर ठीक न हो, उस समय स्वजनों की ओर से उत्तम भाववाले पत्र मिले तो हमारे हृदय को आराम मिलता है, परन्तु कौन ऐसा स्वजन है कि जिसे हमारी पड़ी है ?

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. १६-५-१९५३

प्रकृति के हमलों के साथ संग्राम करो

जीवन को पलटने के लिए सही नेक दिल की उत्कट महत्त्वाकांक्षा अभिलाषा जिस **जीव** को प्रकट होती है, उसे किसी से व्याप्त हो जाने का होते, वह तो हक्का-बक्का जागकर,

प्रभु को पुकार करके वापस सचेत बनता है। वह कभी मृत नहीं हो जाता। जीवन मिला है, वह खोने के लिए नहीं मिला है। जीवन तो मिला है रत्नचिंतामणि खोजने, उसे लेने और उसे लेकर उसे अपना कर लेने को। इसलिए कृपा करके सचेत होकर जीने में सार हो। जो हमला का सत्कार करे अथवा आने दे, उसकी वह अत्यन्त खराब दशा कर डालता है। **जीव** प्रकृति के तामसादि हमले प्रकट हो, तब अधिक सचेत होकर जीना हो। उसे तो झटक झटक करके नकारना चाहिए। 'शूर संग्राम को देख भागे नहीं' ऐसा एक भजन 'आश्रम भजनावलि' में है।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिःॐ　　　　ता. १८-५-१९५३

अंतर में ही गहरे उतरो न !

'अंतःकरण जिसकी खान है यानी कि जिस **जीव** का अंतःकरण पूरी तरह जाग्रत और चेतनावान बना हुआ है, वैसे चेतन में जागे हुए आत्मा का संबंध किसी ऋणानुबंध के कारण मिलता हो, ऐसे संबंध जो **जीव** प्रेमभक्तिभाव से, जीवनविकास करने के लिए, प्रेमपूर्वक सँभालने कर सकता है, वह ऐसे संबंध को हृदय के भाव से जीवित कर सकता है, इसकी महिमा अनंत है और आत्मा से अनुभव करे सके वैसा है।' अब तो समझना करना छोड़कर प्रभु के स्मरण में उसकी भक्ति में दिल को पिरोने का कर सकेंगे तभी कुछ दिल को संतोष

मिलनेवाला है । इसलिए जिसे जो भी योग्य हुआ करता है, उसे बाहर देखने जाने की जरूरत नहीं है । उसे अंतर में देखने मथने की जरूरत है । बाहर कौन है ? हम ही अपनी वृत्ति से वहाँ व्याप्त हुए हैं । अभी **इस जीव** के पास से पत्र की अपेक्षा रखने की बिलकुल जरूरत नहीं हैं । कृपा करके दिल में गहरे उतर कर उसमें राचना सीखना है । ऐसा यदि नहीं कर सके, तो चारों तरफ से डूबनेवाले हैं । व्यर्थ लिखा करने से भी क्या ! अत्यधिक लिखा है । उतने का भी यदि योग्य उपयोग हो सका, तो प्रभुकृपा से तैरकर पार जा सके ऐसा है ।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २१-५-१९५३

अधटित कर्म के संदर्भ में पूरी नफरत जगाओ

मानस की अवलोकनकला की प्रसादी प्रभुकृपा से जो मिली है, उस पर से लगता है कि हमें एक बात सम्बन्ध में हृदय से यदि संपूर्ण उत्कट नफरत जागती है, तो वैसे कर्म के सम्बन्ध में मानो कि निर्बलता से भी कदम बढ़ जाये, तो उसकी वेदना हमें हृदय से प्रकट हुई उसके सम्बन्ध की वैसी नफरत के कारण असह्य होती है और भूल, दोष, पाप का बोझ भी सहन नहीं हो सकता । हमें वैसे कर्म के सम्बन्ध में हृदय से सचमुच उत्कट नफरत प्रकट हुई होती है, तो वैसे कर्म के सम्बन्ध में प्रवाहित होने पर भी अटक जाते हैं । बड़ी कठिनाई के संयोगों में डूबते डूबते यदि बचना होता है, तो **जीव** हाथपैर

मारे बिना रह नहीं सकता । अग्नि में जलता मानवी बाहर निकलने के लिए कूदे बिना रह नहीं सकता है । अभी ही हवाई जहाज से (दिल्ली के पास वह जहाज जलने लगा था) एक भाई ने ऊपर से छलांग लगाई थी, यद्यपि वे मर गये, यह अलग बात है । यदि हम से अनुचित कर्म सम्बन्ध से भागकर छूट न सकते हों, तो अवश्य जानना कि उस कर्म सम्बन्ध की हृदय की उत्कट नफरत हमें हुई नहीं है । उस सम्बन्ध की सचमुच की अरुचि अभी हमें पूरी तरह से हुई नहीं है, वह बात मुझे सच्ची लगती है ।

हृदय का संपूर्ण राग चाहिए

इसके अलवा, इसमें से मुझे दूसरी बात भी समझ आती है कि अभी जिसे हम ने लगे रहने का चाहा है, उसके लिए हृदय का भाव, उसके सम्बन्धी वफादारी, उसके सम्बन्धी हमारे हृदय की प्रामाणिक भावना, उसके सम्बन्धी हृदय की चाहना आदि सभी हमारे में अभी प्रकट नहीं हुए हैं, उसके संदर्भ में अभी हृदय का पूरा एकराग भी प्रकट हुआ नहीं लगा है, नहीं तो उसका आकर्षण हमें जगाये बिना, चेताये बिना रहेगा नहीं, उसमें पड़ते पड़ते, हमें जाते जाते भी, वह रोकेगा ही रोकेगा । जीवन में हृदय की वफादारी का भाव कोई अनोखा है । होगा ! तुम कैसी भी होने पर हमारे मन में तो जो है वह है । हमें तो तब भी हृदय में कुछ भी कोई न्यूनता नहीं है, निखालिसता के लिए धन्यवाद दिया जा सकता है, पर जिसमें चेतनाशक्तिजनक

मर्दानगी प्रकट हुई नहीं है, वैसा कर्म भले ही उत्तम हो, पर वह हमें स्पर्श नहीं करता है ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिःॐ   ता. २२-५-१९५३

गरज जागनी, पकनी चाहिए

हमें तो, जो कोई जैसा हो और जैसा आया, उसके साथ का जो भी संबंध है । वह साथ में हो या न हो । साथ में रहता हो या न रहता हो, तब भी हमारे भाव में तो फर्क पड़ा नहीं है । बोलने न बोलने के साथ भी संबंध नहीं रहता है । वह तो जैसा है वैसा रहे । स्वयं प्रत्येक को कैसा बरतना, कैसे रहना, कैसे जीना यह उसका उसका जीवनप्रश्न है । जिसे जैसी पड़ी होगी, जैसी गरज जागी होगी, वैसा वह व्यवहार करेगा, यह भी ठोस अनुभव की बात है । गरज पके बिना कहीं कुछ नहीं होता है ।

पत्र कुछ लिखे नहीं लिखे जाते । यह तो दिल ही वैसा कहे और वैसा आचरण करवायेगा । अभी तो कुछ लिखा जाय ऐसा लगता नहीं है । शरीर कोई बिस्तर पकड़ ले ऐसा कभी हुआ नहीं है, पर लिखने के लिए अपने आप जो स्वयं भाव प्रकट होने चाहिए वह प्रकट हो तो लिखा जा सकता है ।

ता. १८-५-१९५३ के सोमवार के पोस्टकार्ड में, तुम्हें लिखना था, वह संक्षेप में कह दिया है । कहीं भी कुछ बलपूर्वक करने से अंत में तो संताप, कुढ़न, त्रास, अशांति

आदि ही उद्‍भव होते हैं। संसार संबंधी बातें दो-तीन पोस्टकार्ड़ों में लिख लिखकर तुम्हें चेताने के लिए प्रभुकृपा से प्रयत्न किया ही था ।

गरज जागे तो सब हो

प्रभु का स्मरण प्रकट हुए बिना *जीव* को उबरने का दूसरा कोई सरल, सहज मार्ग नहीं है । यह तो उसे लेने की जिसे उत्कट गरज जागती है, उसके लिए वह सुगम है । जिसे जहाँ जाना होता है, उसे वहाँ जाने से कोई भी रोक नहीं सकता है । जिसे जो करना होता है, वह वैसा करता है । क्या **यह**-इतना-तुम्हें दिल में समझ नहीं आता है ? इससे श्रीप्रभु के मार्ग पर जाने का दिल करने से और उसकी गरज लगाने के प्रयत्न में रहने से जो भी कुछ यदि हो सकना हो वह हो सके वैसा है, बाकी तो नहीं ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिः ॐ   ता. २५-५-१९५३

जो भी रीति से प्रभुकृपा से मन दृढ़ करके, जो **जीव** उसमें जीता प्रयत्न कर करके भी टिका रहता है, ऐसा प्रयत्नशील **जीव** श्रीप्रभु की चेतना को पा सकता है ।

पर हृदय की उत्कट चटपटी चाहिए

परन्तु उसकी सचमुच की हृदय की उत्कट चटपटी और आतुरता हृदय में हृदय से जागे बिना प्रभु में मन रह सकना दुर्लभ है, कारण कि **जीव** स्वयं मन देकर उस मार्ग का कुछ साधन करने में लगातार तो नहीं रह सकता है । जिस कर्म में

लगनी लगी है, उस कर्म में वह एकराग और तदाकार हो सकता है । **कर्म का हेतु, मात्र कुछ उस कर्म करनेपन में ही नहीं रहता, पर वह करते करते हृदयस्थ कैसी, कितनी, गहरी भावना प्रकट होकर जीवित रहा करती है, वही सचमुच तो सच्चा कर्म करनेपन का मुद्दा है ।**

सच्ची भक्ति

साधनामय (भक्तिमय) जीवन अर्थात् कल्पना नहीं है । ऊष्माभरा जीवन भी वह नहीं है । भक्ति अर्थात् खोखलापन भी नहीं । भक्ति की बुनियाद तो ज्ञान की वास्तविकताभरी हकीकत की नींव पर बनी होती है । **भक्ति अर्थात् तो मनादि करणों को सतत एकसा उसके प्रिय चिंतन में गोंद या सरेस की तरह चिपका करके रखाये तब उसे भक्ति कह सकते हैं ।** ऐसी भक्ति के लिए हृदय के उन्माद और उत्कटताभरे अस्खलित और अपार भाव की जरूरत होती है । ऐसा हृदय का उन्मत प्रेमभाव जीवित प्रकट हुए बिना भक्ति प्रकट होनी दुर्लभ है । भक्ति तो परम पराक्रम और शौर्य से भरी हुई है । भक्ति के साहस और हिंमत उसकी धीरज, सहनशक्ति आदि आदि किसी के साथ तुलना कर सके ऐसे नहीं हैं ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ३०-५-१९५३

हमारा अजेय निर्णय

तुम्हारे सोमवार के लिखे हुए पत्र से तो आँखो में आँसू की अखंड धारा चली है । हम किसी का तिरस्कार नहीं कर

सकते हैं । हमें ही जो भी कोई तजते रहते हैं और ऊपर से वे हमें कहते हैं कि हमें उनको न दुतकारना ! ऐसी हकीकत तो विरुद्ध औंधी बात है । हमारे हृदय में जो प्रकट हुए हैं, वे तो वहीं के वहीं रहेंगे । भले ही वैसे **जीव** हमें लात मारे, हमें चैन या आराम न होने दे, हमें तो उनके जीवन में प्रभुकृपा से घुलना है, वह मिलना है ही, पर वे हमें अंदर पैठने की उदारता नहीं करते हैं । यह बात बिलकुल सच है । हमारी जो उनके संदर्भ की वफादारी है, उसे कौन पहचाने और समझे ? हमें किसी बात में उसका बचाव करने की जरूरत नहीं है । हमें कोई चाहे या न चाहे । तब भी जिसे प्रभुकृपा से हमारे गिने हुए या माने हुए हैं, उन्हें हमारा किये बिना हमें चैन किसी तरह भी नहीं मिलेगी ! प्रभु के भाव बिना दूसरे कहीं तैर के उतरने का अंत नहीं है । वही महान है, समर्थ है । वही हमारा तारणहार है, वही सर्वस्व है, पर उसे कौन महत्त्व देता है ?

साधन यदि लिया है, तो उसे हृदय से लगे रहो

हमें यदि कोई वफादार और प्रमाणिक न रहता हो तो क्या हमें उसे इतना याद भी नहीं दिलवाना है ? तो वैसा भी भले हो । हमें तो किसी को भी किसी बात से दुःखी नहीं करना है । वैसे दुःखी देखना भी नहीं है । किन्तु जो अपने आप दुःख के गर्त में पड़ा करता होता है, वहाँ भी किसको दोष दें भला ? इसलिए कृपा करके जाग जाने में सार है । चैतन्य रहने में ही सयानापन है । प्रभु के स्मरण बिना कुछ

नहीं होनेवाला है । इसलिए कृपा करके हृदय में साधन को साधन से लगे रहने का करेंगे, तो कुछ अंत आ सकना हो तो आ सकता है । इससे कृपा करके हृदय से साधन को पकड़ने में विवेक है, जीवन है, सब कुछ है । पर अभी तो उसे पकड़ा ही कहाँ है ? पकड़कर उसे लगे रहा करो, उसमें एकभाव से रमा करो, उसे हृदय में जीवित रखो, उसे प्रामाणिक रहो, वफादार रहो । उसमें ही प्रेमभक्तिपूर्वक समा जाओ, उस में ही दिल को पिघला दो । तो तो कुछ काम आयेगा ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ९-६-१९५३

निरपेक्ष प्रेमभाव का आनंद

'हृदय से चाहे हुओं को मेरा करूँगा, शांत होऊँगा तब मैं ।'

ऐसा किसी स्थान पर लिखा हुआ है । यहाँ 'तभी' यानी 'तब' के अर्थ में है । इसलिए हमें किसी को उस बात में कहने जैसा नहीं रहा है । यहाँ तो प्रभुकृपा से जीवन में प्रेम करने का वेष धारण हो चुका है । इसमें से हमें कोई चलित कर सके ऐसा नहीं है । **अनेकों ने अन्याय किए हैं, किसी ने गाली भी दी हैं, अपमान किए हैं, अपकार किए हुए हैं, मन में कुछ कुछ सोचा है, अन्यथारूप भी माना है, तब भी श्रीप्रभुकृपा से दिल में उन सभी के संदर्भ में एकमात्र सद्भाव और प्रेम की भावना ही बहा करती है ।** इस कारण

से ही जीने में आनंद प्रकट होता है और अनुभव होता है । इसलिए कृपा करके हमें कहने के बदले प्रत्येक को स्वयं अपने आपको देखने और कहने का रखे ।

दोष तो गुरु बन सकता है

हमने तो जीवन में श्रीभगवान को प्रकट करने का जीवन का ध्येय रखा हुआ है, तो ऐसे ध्येय को हृदय से प्रामाणिक, वफादार ज्ञानभक्तिपूर्वक रहा करते हैं कि नहीं, वह हमें हमारे नित्य के वर्तनव्यवहार में जाँचते रहना है । दोष हो, भूल हो, क्योंकि अभी हम **जीव** हैं, पर दोष होते जिसे चढ़ना है, ऐसे मानवी का हृदयभाव तो अधिक सजाग हो । दोष दोष का भी प्रकार होता है । जिसे जिस मार्ग पर जाना है, उस मार्ग के प्रति चढ़ाव को घोंट डाले ऐसे कर्म तो वैसे **जीव** से होंगे ही कैसे ? और यदि हो जाय, तो उसे कितना अधिक लगेगा ? हृदय में हृदय से सचमुच ऐसे लगने से **जीव** का सच्ची रीति का वापस लौटना हो पाता है । इससे दोष या भूल तो जीवन को बदलनेवाले गुरु ही बन जाते हैं । दोष से यदि जीवन में जीवन को बदलने के लिए सीख सके, तो वैसा दोष हुआ वह भी प्रमाण हुआ गिना जायेगा । प्रभु के स्मरण में तेरे मन, चित्त, प्राण और अहम् को पिरो देने में बस प्रयत्न ही कर । नामस्मरण सतत एकसा चलाये ही रख ।

दृढ़ हमदर्दी

'पूज्य भाई के साबरमती आश्रम में लिये हुए मौन के समय आपको जो बीमारी हुई थी, उसका निमित्त तो मैं

थी । मेरे कारण आपने स्वयं वह बीमारी ले ली थी । आपके शरीर की दशा मैंने आँखों से देखी हुई थी और बुखार भी बहुत था । यह सब आपने मेरे लिए भोगा था । पैरों की वेदना भी आपने उठाई थी । इस समय मेरे अर्श का दर्द भी आपने लिया और पैर टूटा तब आपके हृदय का भाव जो देखा है, वह तो भुलाया जाये वैसा नहीं है ।'

ऐसा ऐसा सब तुम **इस जीव** के बारे में लिखती हो, तो हृदय में जिसके बारे में सचमुच सद्भाव जागे तो वैसा **जीव** सद्भाव के खूब भाव में ही आकर्षित हुए बिना कैसे रह सकता है ?

हिस्से में आया कर्म-धर्म करो

इस मार्ग में जैसे तैसे करके निभ नहीं सकते हैं । पराक्रमी मर्द का खमीर चाहिए । **महान रणक्षेत्र को जीतनेवाले सेनापति मन को भी जीत ले सके वैसा कुछ नहीं है ।** हमें तो कुछ जीतना-बीतना नहीं है । हमें तो जो भी सब उसका ही कर देना है । हमें तो मात्र प्रभुपरायण होना है । हमारा वह सब योगक्षेम चलाये, वैसा भी चाहना वह भी अयोग्य गिना जा सके । वैसा सोचने पर हम नालायक हो जाते हैं । हमारे हिस्से आया कर्म और हिस्से आया जीवन का धर्म यदि हृदय से ज्ञानभक्तिभाव से एकनिष्ठा से आचरित करेंगे, तो वैसे योग्य प्रकार के आचरण से ही सच्ची जीवन की खुमारी और शक्ति आ जाती है ।

हृदय की सच्चाई की जरूरत

जो सच्चा जीता है, उसमें जीवन प्रकट होता है, वह **इस जीव** के लिए ऊपर जो सब लिखा है, उसमें यदि हृदय की संपूर्ण सच्चाई प्रकट हुई हो तो तो हमारा हृदय उसमें क्यों एकसा नहीं रह सके वह हमें सोचना रहता है। कृपा करके जीवन का जो ध्येय पकड़ा है, उसमें रचेपचे रहने में सार है। हमारे दिल में किसी के बारे में कुछ नहीं है। उसकी भड़क या धक-पक किसी को रखने की जरूरत न हो।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. ३-०६-१९५३

साधन को सँभालो तभी बचोगे

जीवनविकास कोई ऐसे के ऐसे हो सकनेवाला नहीं है। साधन किये बिना पड़े रहने से, खाली फुफकारने से क्या होनेवाला है ? और अभी तक साधन भी क्या किया ? **साधन में प्रेमभक्ति से लगातार लगे बिना, उसमें हेतु का जीवन्त ज्ञान रखे बिना, यद्वातद्वा जीवन जीने से जीवन में राम कभी प्रकट नहीं हो सकते हैं।** इसलिए यह तो जो प्रभुकृपा से हाथ में लिया हो, उसे भाव से लगे रहकर उसमें यदि प्राण प्रकट करेंगे, तो तो **आज** या **कल** प्रभुकृपा से जागनेवाले होंगे तो जाग सकेंगे। इसलिए उसे ही सँभालने में सयानापन है। संसार तो आज है और कल नहीं, तब भी वह तो वापस गले

चिपका हुआ ही रहेगा । इससे भगवान की शरण में यदि गये तो ही अंत आये ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिः ॐ   ता. ६-६-१९५३

प्रभुकृपा मिले पर कसौटी के बाद

प्रभु हमें सद्बुद्धि प्रेरित करे और हम में व्याप्त हुए अवरोधों का गहरा भान प्रेरित करे, उसका अत्यंत भयंकर दंश दे और उसकी वेदना चुभे ऐसी प्रार्थना उस परम कृपालु को हमारी है । श्रीभगवान की कृपा भी निकम्मी नहीं पड़ी है । श्रीभगवान की कृपा से हम उसके हुए होते हैं । उस समय में भी उसकी अग्निपरीक्षा में कितने ही उसके भक्तसंतात्मा की कठिन कसौटी हुई है, उसे देखते हुए तो उसके आगे हमारी बात की कोई भी बिसात नहीं है । इसलिए उसकी कृपा उसके हो जाने पर भी उसकी कसौटी में से पार उतरते उतरते मिलती होती है । कृपा का स्वतंत्र आस्तित्व है और सब है, पर पहले तो हमारा ही अस्तित्व कहाँ है उसका भान किसे है ? इसलिए जो जागता है वह जीये, पर जागना ही कहाँ हो पा रहा है ? जिसे कुछ कहीं नहीं करना, उसे प्रभु का स्मरण यही एक तैरने का सच्चा आधार है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. ८-६-१९५३

मथनेवाले को तो निराशा में भी आशा

जीवन में हजारों बार भले ही निराशा मिले, परन्तु जो सच्ची तरह से मथनेवाला है, जिसके मथने में हृदय है, जिसके मथने में प्रमाणिकता और वफादारी का भाव है, जिसके मथन में नेक दानत है, जिसके मथने में जीवन के ध्येय का दृष्टिबिन्दु प्राणवान रहा हुआ है, ऐसा **जीव** भले ही निराशा पाये, तब भी ऐसे **जीव** का आशावाद ऐसे का ऐसे प्रचंड रहा करता है। प्रचंड निराशा के वातारवण में वह कभी बेचैन नहीं होता या अकुलाता नहीं है।

पूज्य गांधीजी का उदाहरण

महात्मा गांधीजी का उदाहरण ताजा ही है। उन्होंने जो ध्येय प्राप्त करना चाहा था, उसकी प्राप्ति के लिए कितनी अधिक कठिन निराशा के वातावरण में उन्हें कदम उठाने पड़े थे ! अनेक बार निराशा होने पर भी उन्होंने उसमें से कभी वापस हटने का नहीं किया। उस समय उनके जीवन का आशावाद लूला नहीं हुआ। उस समय में वे जीवन में अधिक तेजस्विता से आगे आये हैं और बरते हुए हैं। उन्होंने आगे ही कदम बढ़ाये हैं। **जीवन तो संग्राम है। ऐसे संग्राम को प्रेम से स्वीकार करके अपने ध्येय को फलित करने के लिए जो *जीव* मथता है, वैसा *जीव* ही जीवन में टिक सकता है।**

• • •

कुंभकोणम्   हरिः ॐ   ता. १०-६-१९५३

पूरी नेक दानत से आत्मनिवेदन करो

छिपाये बिना जो जो कुछ हो, वह फिर नकारात्मक हो या रचनात्मक हो, वह तुम हमें भले ही लिखा करो, इससे हमें तुम पर नाराज होना नहीं होता है । खुलकर दिल से लिखो वह तो उत्तम है । कोई **जीव** सब कुछ खुलकर लिखे, उसमें यदि हृदय की नेक दानत, सच्चाई, पूरी प्रामाणिकता, पूरी वफादारी, सचमुच की भावना-वह वह सब सराबोर बिलकुल प्रकट होते हों, तो तो वह वह सब कोई एक स्थान पर ही पड़े नहीं रहते हैं । वह तो सभी करणों में फैलने लगता है । ऐसा करते करते उन उन सभी की मात्रा इतनी तो उत्कट प्रमाण में बढ़ा करती रहती है, या भेद में अभेदता के मार्ग में वैसा **जीव** प्रकट होते जाता है ।

लक्षण द्वारा परखो

हमें हमारे गुरुमहाराज ने जो भी सब लक्षण से परखने को कहा है, किसी को भी उस उस प्रकार के योग्य लक्षण से परखने करना अथवा परखने का ही समूल सहित सहजता से रख दें तो तो वह उत्तम है, हमें भी प्रभुकृपा से लक्षण द्वारा ही परख परखकर स्वीकार करने योग्य हो तो ही वैसा करना हो, जिससे दिल को बाद में कुछ भी **ऐसे** या **वैसे** सोचने का न रह सके ।

हमारी चैन

हम किसी को भी हम से लगे रहने को नहीं कहते हैं। जो जो अपने आप उनके के लिए आये हैं वह वह रहे हैं, तो वह भी भले। समय जाने पर प्रभु की परम कृपा ने उन्हें उन्हें जो जो अनुभव **इस जीव** द्वारा होने चाहिए थे, वे वे हुआ करते हैं, इसलिए हम तो प्रभुकृपा से बिलकुल आरामवाले है और निश्चिंततावाले हैं।

करनेवाला तो वही

हम से **जीव** की गति ऊँची होनेवाली है, ऐसा मानने में तो पूरा अज्ञान है। हम से तो क्या होगा ? बनानेवाले तो एक श्रीहरि ही समर्थ हैं। श्रीहरि ही जो भी कुछ है। इसलिए **इस** मार्ग में यदि कदम बढ़ाने हो तो दिल में दिल की पूरी सच्चाई, नेक दानत, प्रमाणिकता, वफादारी आदि आदि सब सौ प्रतिशत सुवर्ण जैसे जीवंत प्रकट होने चाहिए।

• • •

कुंभकोणम्　　हरि:ॐ　　ता. ११-६-१९५३

हृदय में प्रकट हुई समझ ही सच्ची

संसार, व्यवहार, वर्तन, संबंध आदि आदि में मन के उस उस प्रकार के, उस उस काल के भावानुसार जो भी सभी लगता होता है। माननेपन के प्रकार की समझ भी सच नहीं हो सकती है। समझनेपन के प्रकार की समझ भी सच नहीं ठहर सकती है। एकमात्र हृदय में हुए सच्चे अनुभव में से

आयी समझ हमेशा सही स्वरूप में टिक सकती है। उस समझ में से पीछे हटना कभी नहीं होता है ।

वृत्ति, भाव, विचार आदि के संस्कार

इस जीव के साधना के प्रारंभ के समय में मन के भाव, विचार, बुद्धि की तर्क परम्परा, दलील, प्राण के आवेग और आवेश, अहम्ता के अनेक आकार प्रकार इन सभी को यंत्रवत् श्रीप्रभुकृपा के बल से टाला करने का सूझा करता था । इससे भी कुछ लाभ न हुआ । यद्यपि प्रभुकृपा से वह वह सब टाला करने में अनेकबार फतेहमंद भी होता था । पर इससे आगे कदम बढ़ते जाते अनुभव नहीं हो पा रहे थे और यहाँ तो सद्गुरु का हुक्म था कि वस्तु को लक्षण से पहचानो, इसलिए इस तरह से ऊपर का जो भी सब उपजता उसे यंत्रवत् टाला करने में लाभ नहीं है ! यह कितने समय की मजबूत मेहनत के बाद प्रभुकृपा से समझ आया था । यद्यपि इससे कहीं कोई लाभ हुआ ही नहीं था ऐसा तो नहीं था । इससे वैसे गुणों की कक्षा में तो व्याप्त होना बन सका था, परन्तु वह वह सब टाला करने के पीछे प्रत्यक्ष उस उस पल में जीवन के ध्येय के प्रति हेतु का प्राणवान ज्ञान, उसकी समझ और उस कर्म के हार्द में उस प्रकार की उस उस आचरण के समय में समझ की भावना प्रकट होनी चाहिए । उस उस तरह से वह वह सब यदि फेंकाता जाय तो योग्य अर्थ निकलता रहता है ।

हृदय की पुकार-प्रार्थना ही-बचाये

और ऐसा जो अंतर में अंतर से संग्राम खेला जाता है, उसमें तो अनेक बार वेदना की शूली के बीच में लटकना होता है । वहीं पर सही कसौटी होती है, वह कसौटी है, वह परीक्षाकाल है और वहाँ एकमात्र श्रीप्रभुस्मरण की कृपा से ही बचना है, ऐसा कृपाज्ञान उसकी एक कृपा से उस उस समय में जागता रहता था। वैसे समय में हृदय में हृदय से श्रीगुरुमहाराज को बारम्बार रो रोकर, नम्रता की उस पार पहुँच करके, उस कक्षा से उसे प्रार्थना का हृदय से पुकार करता रहता था। उस तरह के प्रार्थना के पुकार के भाव से अनेक बार उसकी आवाज सुनायी देती अनुभव हुई है और अचानक मदद मिलती अनुभव हुई है ।

ऐसा अनेक बार होते आत्मविश्वास प्रकट होगा

अनेक बार हमें वधस्थंभ पर चढ़ा ही करना पड़ता है । उस समय में ही सही जोश की छान-बीन जाँच होती रहती है । उसमें, ऐसे समय की जाँच, छानबीन, में जो **जीव** अपनी भूल को अपने जीवन के स्वामी के हृदय में हृदय से सचमुच जो जीवित कर सकता है, वैसा **जीवात्मा** अपने वैसे दलदल में से उसकी कृपा से ऊपर आ सकते हुए स्वयं को अनुभव कर सकता है ! इससे ऐसे अनेक बार होते रहते अनुभव से उसे प्रभु की कृपा के दर्शन होते रहते हैं, इससे उस पर के आत्मविश्वास और श्रद्धा जीवन में उसे जीवित बनते रहते हैं ।

आत्मविश्वास और श्रद्धा के भी प्रकार कक्षा कक्षा पर बदलते ही रहते होते हैं । एक एक से उसकी कक्षा भी बेहतर होती जाती है ।

सद्भाव की कसौटी होगी ही

कसौटी में सहीसलामत गुजरते हुए बिना का सद्भाव भी किस काम का ? किसी के भी सम्बन्ध में हृदय में हृदय से जागा हुआ सद्भाव समय आने पर परखे बिना नहीं रह सकता है या रहता नहीं । जगतव्यवहार में लोगों भी परखकर धन लेते होते हैं, तब कोई हमारे श्रीभगवान सामान्य लोगों से उतरते तो नहीं ही हो सकते हैं न ?

उसे स्मरण करते रहो, प्राप्त कर्म की अवगणना न करो

इसलिए कृपा करके उसका शरण ग्रहण करो । उसे जिसमें और उसमें महत्त्व का समझो । उसका ही स्मरण पलपल जीवित किया करो । **प्राप्त कर्तव्य-कर्म की अवगणना न करें । वह तो उसकी भावना को मूर्त स्वरूप देने के लिए का अमूल्य मौका है, ऐसा स्वीकार करके हृदय के भाव को वहाँ उतारो । उस तरह से कर्म को करते रहने से प्रभु की भक्ति सच्चे स्वरूप में प्रकट हो सकती है ।**

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. १३-६-१९५३

एक साथ राम का

जीवन में कितनी ही ऐसी भयंकर निराशा की पलें प्रकट हुई, तब कहीं कोई मददगार मिले ही नहीं, या किसी

का भी साथ नहीं था, या न थी किसी की थोड़ी जितनी भी सहानुभूति, न था ऐसा कोई हृदय का सच्चा साथी, या न था सही ऊष्मा देनेवाला, कोई भी नजर नहीं आ रहा था कि जिसके संकेत से कुछ भी थोड़ीसी आसाइश मिले ! जीवन में बस सभी सुनसान था । उस समय में भी उसके नाम के मधुर प्रिय स्मरण का एक साथ हृदय में था, कि जिसके सहारे भयंकर से भयंकर अंधेरे को उसकी कृपा से पार करने का हो पाया है ।

इस मार्ग में सफल होनेवाले के लक्षण

ऐसी अपार कठिनाई की अवधि में हृदय में उसका नाम लिया करके, उस पर जो भी सब सौंपकर, उसकी बाँह का सहारा लेकर के, जितना हो सके उतना बल करके, हिंमत, साहस, धीरज और दृढ़ता धारण करके, उस समय पर उसकी कृपा से बस यदि झुकाये रखने का हो सका, तो ही आज उसकी कृपा से खड़े रह पाना हो सका है । सही मर्दानगी बतलाने का अवसर ही जीवन में ऐसा काल होता है । ऐसे भयंकर समय में जो टिककर खड़ा रह सकता है, वही मर्द है । **इस** मार्ग में बेहिम्मत का काम नहीं है । **मरणांत भी जिसका साथ न छूट सके ऐसी हृदय में जिसे अदम्य प्रेरणा प्रकट हुई हो एकमात्र वैसे का ही इस मार्ग में काम है । वैसे प्रकार के *जीव* ही इस मार्ग में *टिक* सकते हैं ।**

उसकी शर्तों से सधे हुए भक्तों को अचूक सहाय

श्रीपरम कृपालु प्रभु कोई हम पर ऐसे ही तो कृपा बरसा नहीं देते हैं। वे भी हमारे श्रद्धा, विश्वास और भक्ति की भयंकर से भयंकर कसौटी भी कर लेता होता है। जिस **जीव** के श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, अपना कुछ भी होने पर भी प्रभु पर के जीवित टिके रहते हैं, उसकी मदद के लिए श्रीभगवान गरुड पर चढ़कर आते होते हैं। यह हकीकत जीवन में एक दो बार नहीं पर अनेक बार अनुभव की है । वह सदा ही हमारे साथ ही रहा करता है, पर वह हमारी शर्तों पर नहीं पर उसकी शर्तों पर, यह ध्यान में लेना है ।

कठिन कसौटी में से कृपासोता

जीवन की अनेक ऐसी चुनौती के समय में और वह भी बिलकुल ऐन वक्त पर, मुझे उसने बिलकुल छोड़ दिया हो ऐसा कभी अनुभव नहीं किया है। अंतिम से अंतिम क्षण तक उसने बेकार कोशिश करवायी होती है और अब मानो कि नहीं अनुकूल आ रहा और तब भी हिंमत, साहस, धीरज, बल— सब उसकी कृपा से उस दशा में भी उपयोग करने का सूझा करता, पर निबेड़ा तो कैसे भी हाथ लगे ही क्यों ? और एक तरफ अंतर में हृदय से हृदय में हृदय की प्रार्थना की पुकार तो चालू ही रहा करती हो - वहाँ मानो कहीं से उसकी अचानक कृपामदद फूट निकलती ! **यह जीव** तो उस पर कृतज्ञताभरा उस समय गद्‌गद हो जाता । उस पर बस वारी वारी जाता था । वही मेरा सर्वस्व था और अभी भी है ।

हम उसके हुए होते ही नहीं

अपने भक्त को उत्तर देने में श्रीप्रभु ने कभी पीठ फेरी हो, ऐसा अनुभव में तो आया नहीं है, परन्तु दुःख ही यह है कि हम उसके हुए नहीं होते हैं और खाली खाली चिल्लाते रहते हैं । हमें उसका कुछ भी लगा हुआ तो होता नहीं है । और ऊपर से हमें उसकी कोई पूरी पड़ी हुई नहीं होती है । और ऊपर से अज्ञान से और पूरी मूर्खता से हम अपने को उसके कहलाना चाहते हैं । कुछ करना कराना नहीं है और कहलाना है वर की माँ ! ऐसे हाल हम सबके हैं ।

सच्चा साधक हार से जीतता है

जिसने जीवन का ध्येय निश्चित किया है, वैसा **जीव** मथता मथता, टकराता, भटकता पड़ता पछाड़ खाता हुआ ध्येय की ओर ही उसकी तो दृष्टि, वृत्ति, भाव रहा ही करते हैं । ऐसे **जीव** को गिरने का होने पर, ध्येय सम्बन्ध की दृष्टि की चोट कोई कम नहीं होती है, परन्तु ध्येय सम्बन्ध की उसकी गति में पड़ने से करके कहीं मंदता आ जाती है सही, पर अंतर का उत्साह अदम्य ही रहता है । उसे तो वह उकसा उकसाकर प्रज्वलित किया करता है । ऐसे वह हारता भले दिखता हो पर उसके ध्येय सम्बन्ध की श्रद्धा तो अडिग ही रहा करती है । इससे तो बारम्बार गिरते पटकाते जाते अनेक बार वापस वैसी दशा से उन्नत मस्तक से वह खड़ा होता है और दुबारा जीवनसंग्राम में दोगुना, तीनगुना, चौगुना बल से उसकी कृपा से संघर्ष करता

रहता है । ऐसों के मन में होती हार में से भी बल प्राप्त करने का एक ज्ञानभक्तिपूर्वक का साधन हो जाता है ।

हार यह हार नहीं है, पर स्वयं इसमें से आगे नया कदम कैसे उठाये वह सीखने की कला उसे उसमें से प्राप्त होती रहती है । आगे पीछे देखनेवाले उसे भले ही उसकी हार होती गिनें, पर साधक स्वयं ऐसी अनेक प्रकार की हारों में से स्वयं को उसकी कृपा से चढ़ता हुआ अनुभव करता है, और अधिक बल, प्रेरणा आदि प्राप्त करता करता वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है । उसे रोकने में कोई भी समर्थ नहीं, ऐसी उसकी खुमारी उसके जीवन में आ गई होती है । ऐसे जीवन को मस्तीभरे जीने से, जीवन में उस प्रकार के जीवन का नशा ऐसा तो आता है कि, जिससे वैसा **जीव** जीवन में जो कुछ भी टेढ़ा-मेढ़ा होता जाता है, उसे वह कहीं झिड़क दे सकता है । जैसे प्रचंड बवंदर में तो अडिग, हट्टे कट्टे, भारी वृक्ष भी मूल के साथ कहीं उखड़ जाय कि हमें इससे भारी अचंभा हो !

• • •

ऐसे का अंतरमंथन

ऐसा **जीव** कभी भी सिर पर हाथ रखकर बैठे नहीं रहता है अथवा तो वैसा **जीव** कभी भी परिस्थिति का दोष नहीं निकालता है । अपनी अशक्ति हो, कमजोरी हो या कुछ भी हो तब भी उसे उसी रूप में ही स्वीकार कर लेता है । उसमें वह किसी भी प्रकार की बहानेबाजी नहीं करता है ।

'अमुक हुआ इससे ऐसा हुआ और ऐसा था इससे हुआ वैसा हुआ' ऐसा वह कभी नहीं कहता है । वह तो झिझके बिना स्पष्ट, खुलकर, हृदय का इकरार कर देता है । जो **जीव** परिस्थिति से लाचार हुआ बतलाता है, वैसा **जीव** अपनी लाचारी को, परिस्थिति को निमित्त से छुपाता है । इसलिए जो **जीव** बिलकुल खुला नहीं है, वह किसी निमित्त को पीछे खड़ा करता होता है । ऐसा **जीव** कहीं न कहीं अवश्य भटक जायेगा ।

भगवान की सहाय की निश्चितता

जब जब जीवन में कसौटी का समय आया है (और वह कसौटी कोई जैसी तैसी नहीं । उन कसौटिओं के प्रकार को हम सभी समझ नहीं सकेंगे, इसलिए फिर लिखने का कोई अर्थ नहीं है, तो फिर सभी को बतलाने का अर्थ तो हो ही कहाँ से ?) तब तब उसे हृदय में हृदय से आवाज देता, उसने प्रत्यक्ष मदद किया ही है ऐसा वह प्रत्यक्ष है और तारणहार है । हाथ देने में और साथ देने में उसके जैसा दूसरा कोई साथीदार नहीं है । उसकी तरफ मदद के लिए पुकार करके हमने थोड़ा हाथ लंबा किया है कि तुरंत ही हमारा हाथ उसने पकड़ा ही है, वैसा अनुभव जीवन के पथिक को हुए बिना रहता नहीं है ।

दोष तो हमारा ही है

कठिनाई तो यह है कि हमारा मुँह अभी उसकी तरफ संपूर्ण रूप से मुड़ गया हुआ नहीं है । हम उसकी तरफ और

सच्ची पुकार लगाकर उसकी ओर हाथ लंबा भी नहीं करते हैं, और खूबी तो यह है कि फिर वापस उसकी मदद की आशा रखते होते हैं ! और वापस वह न मिलने पर, वापस हल्ला करने लगते हैं । भाईसाहब ! **यह** मार्ग तो है मरजिया का । पहले संसार में मरते सीख लो । और वहाँ मरते-मरते उसका प्रेमभक्तिपूर्वक का मुग्ध और स्निग्धस्मरण हृदय में जीवित प्रकट रखा करो । उसे ही जहाँ तहाँ महत्त्व दिया करो । संसार, सगे-संबंधी भी वह, और पुत्रपरिवार—जो कहो वह—भी वही सब और उन उनके साथ के व्यवहारवर्तन में हृदय की ऐसी भावना प्रकट करते रहने की जागृति यदि हम हृदय से रख सकें, तो समस्त संसार हमारा प्रभु और तारणहार-रक्षणहार हो जायेगा, परन्तु दोष तो हमारे सबका होता है । इसलिए हम सभी को पहले तो उस दोष को योग्यरूप से सुधारना है । जो है वह है । यदि कुछ करना हो, तो वह करने में लग जाना चाहिए । नहीं तो नाहक के इधरउधर व्यर्थ घूमा करने में तो क्या प्राप्त हो सकता है ?

अभी तो उलझे हैं

अभी तो वाणी, व्यवहार, वर्तन, संबंध आदि आदि में सच्ची गंभीरता, यथार्थता, सचोटता, एकवाक्यता, आरपारदर्शकता आदि आदि सभी पूरा तो प्रकट हुआ नहीं है, अभी तो हम इधरउधर भटकते रहते हैं । जो सही करना है उसका अभी नामोनिशान भी नहीं दिखता है, वहाँ फिर दूसरी

क्या बात करनी होगी ? कृपा करके जो करना हो, वह करने में निरन्तर लगे रहने में सार है । इसके बिना तो दूसरा सब कुछ बरबादी समझना है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरि:ॐ　　　　ता. १५-६-१९५३

हृदयस्थ भाव जगाओ

प्रार्थना करके हृदयस्थ भाव को जगा जगाकर प्रभु के कृपास्मरण में मस्त जीया करने का जो **जीव** रखता है, उसे कोई आधिउपाधि बाधा नहीं कर सकती है ।

बाहर का कारण - अंदर का संसार

संसार हमें कभी भी नहीं चिपकता है । हम संसार को चिपक पड़े हुए रहते हैं । संसार तो अंतर में जड़ गया हुआ होता है । बाहर का संसार और उसकी घटना वह तो मात्र अंतर का व्यक्त स्वरूप है । इससे संसार में जो कुछ बनता है, उसका कारण तो अपने अंतर में पड़ा रहा हुआ जो संसार है, वही उसका कारण है, यदि ऐसा समझकर के मन को दृढ़ कर सके, तो बाहर के संसार का कैसे भी व्यक्त होने में हमें कुछ भी इधर-उधर का लगेगा नहीं ।

प्रार्थनानाद से कृपामदद - वही श्रेष्ठ उपाय

प्रभुकृपा से मन को भाव में रख सकें तो कहीं कुछ भी लगता नहीं होता है । मन पर का जीवित काबू दूसरे किसी नीतिनियमों के पालन से या दूसरे सदाचार के आचरण से भी,

संपूर्ण आ नहीं सकता है ऐसा मेरा अपना अनुभव है । इससे केवल मन को काबू और संयम में लाने का प्रयत्न करने से इससे जो उच्च की शक्ति है, उस शक्ति को प्रेमभक्ति-ज्ञानभाव से शरण में जाकर के, उन्हें प्रार्थना का नाद पुकार पुकार करके, मन, प्राण, आदि को हमें उसकी कृपामददशक्ति द्वारा उनके योग्यपन में सरलता से जितना प्रकट कर सकेंगे उतना दूसरे किसी से भी वैसा होना संभव नहीं है ।

प्रभु को सब सौंपो - पर सहजता से

जिसमें और उसमें सहज की कक्षा लाओ । प्रभु को जो भी सब सौंपा करके मनादिकरणों को प्रभु के स्मरणभाव में प्रार्थनाभाव से रोक सकने का हो सके तो काम सरल बन सके, पर वह सब उसकी उसकी योग्य सहजता और सरलता में हुआ करना चाहिए । उस पर किसी भी प्रकार का कोई बलात्कार लादा हुआ नहीं होना चाहिए ।

केवल प्रभुकृपा ही

प्रभु की अंतर की शक्ति से जो बनता है, वह किसी से नहीं होता है । जिसे करने के लिए कितने ही वर्ष **इस जीव** ने जहमत (वह भी जैसी तैसी नहीं) उठायी थी, वह काम उसकी कृपाशक्ति से थोड़े से समय में हो सका । कोई एक दलील करे कि आगे जो जहमत उठायी थी, वह अवश्य उपयोग में लगी हुई होनी चाहिए । नहीं, वैसा नहीं है । दूसरे सब क्षेत्र में उस क्षेत्र के लिए की हुई मेहनत यदि योग्य दशा

से और योग्य दिशा में हुई हो तो उसमें फतेहमंद न होने पर, दुबारा प्रारंभ करने पर आगे की उठायी हुई जहमत वैसा फिर से शुरू होते चढ़ाव के मार्ग में उपयोगी होती हैं —जब कि इसमें तान तान के, खींच खींचकर, बलपूर्वक, चेतावनी के साथ जो किया होता है, इससे उलटा वक्रता भी पैदा होने का संभव रहता है ।

इससे प्रेमभक्ति में ही श्रेय

इससे पहले तो दूसरा सभी छोड़कर (मनादिकरणों का) यदि **इस** मार्ग पर जाना हो तो, श्रीहरि के चरणकमल में, प्रेमभक्ति लगाकर के ज्ञानपूर्वक उसके चरणकमलों का एकमात्र आश्रय खोजने में, और वहीं पड़े रहने में, **जीव** का जितना श्रेय है उतना दूसरा किसी में नहीं है ।

एकाग्र हृदय का प्रेमभाव फलेगा ही

सद्‌गुरु के रूप में यदि उसका उपयोग न होता हो, तो वह कुछ ही नहीं कर सके । उसमें हृदय एकाग्र और केन्द्रित हुआ करे, वहाँ प्रेमभक्ति से हृदय में हृदय से हृदय की प्रार्थना हुआ करे, तो प्रभुकृपा से कुछ होना संभव होगा ही होगा । राम से काम और काम से राम - ऐसा हमें उसकी कृपा से किया करना है । चोटीला जाओ तो परम पूज्य श्रीमहाराज साहबश्री को मेरे प्रेमभक्तिपूर्वक के साष्टांग दंडवत् प्रणाम कहना ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　　हरिःॐ　　　　　ता. १७-६-१९५३

केवल समझ बेकार

अनेक मुझे पूछते हैं, 'ईश्वर का साक्षात्कार अर्थात् क्या ?' इस विषय पर अलग-अलग से कहीं कहीं किसी के पत्र में तो लिखा है, पर कोई पर्याप्त लक्ष देकर पढ़ता होता नहीं । पढ़ने से भी मिलता क्या है ? समझ और वह भी जो छिछली हो इससे भी कुछ हासिल नहीं होता है ।

साक्षात्कार अर्थात्......

साक्षात्कार अर्थात् जीवन में ऐसा वह क्या हो जाता होगा, कि जिसकी अदम्य और अगम्य कल्पना और आकर्षण के उड्डयन से कई युगों से मानवी उसके सम्बन्ध-में टकटकी लगाये दौड़ा करता रहता है ? मानवी के जीवन में जो अव्यक्त ईश्वर का स्वरूप है, उसे एकाग्र और केन्द्रित साधना के भाव द्वारा प्रत्यक्ष करके, उसे क्रिया के प्रवाह स्वरूप में उसकी कृपा से बहता हुआ रखना, उसकी ही नाम साक्षात्कार ।

हम में क्या चेतन नहीं है ? चेतन तो है ही । वह न होता तो यह सब कैसे हो सकता था ? हमारे सकल करणों को उन उनके विषय के कर्मो में प्रेरित करनेवाला भी वह चेतन ही है न ! पर वह चेतन, **जीव** की प्रकृति के ढाल में बहता होने से, उस उस स्वरूप में लगा करता है । बाकी, **हम में जो अव्यक्त प्रभुमय जीवन है, उसे प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की चेतनयुक्त जागृतिमय साधना के पलपल के अभ्यास**

द्वारा, जीवन में प्रत्यक्ष काम करते अनुभव करना-वही है साक्षात्कार ।

हम में और प्रभु को प्राप्त किये हुओं में अंतर

प्रभु की यह शक्ति क्या अभी काम नहीं कर रही होगी ? कर तो रही हुई है, पर उसका हमें सच्चा, सही, संपूर्ण तरह से प्रत्यक्ष ज्ञानभान प्रकट हुआ नहीं है । हम तो प्रकृति की रीति और स्वभाव से, जिसमें और उसमें प्रेरित हुआ करते हैं । हम सब **जीव** प्रकृति में हैं और प्रकृतिवश कर्म में प्रेरित हुए रहा करते हैं, जब कि प्रभु को प्राप्त आत्मा तो वैसे नहीं होते हैं ।

ऐसी दशा का वर्णन

प्रकृति के द्वारा हम में और सब में जो चेतन सर्वत्र व्याप्त रहा हुआ है, उस मूल चेतन का अनुभव होने के बाद तो वह आत्मा प्रकृति का साक्षी, स्वामी, प्रभु, भर्ता, भोक्ता बना हुआ होता है । ऐसा स्वयं अपनी सकल प्रकार की प्रवृत्ति में सहज भाव से अनुभव करता है । ऐसा करते करते, होते होते, वह मात्र उतना ही है, वैसा भी नहीं है । फिर, वह स्वयं प्रकृति का ईश्वर भी है, ऐसा भी उसके अनुभव में उसकी कृपा से उसे ज्ञान प्रकट होता है, उस समय से उस अनुभव का सत्य कोई मात्र एक स्थान पर ही पड़ा रहा करता होता नहीं ।

वैसे की प्रकृति उनका साधन है

हमारी **जीव**प्रकृति और उसका स्वभाव हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहम् में उस उस तरह से ही व्यक्त हुआ करते हैं, पर उस समय पर उन करणों का प्राकृतिक धर्म **जीव** प्रकार का अर्थात् प्रकृतिरूप तो नहीं रहता, फिर इससे प्रकृति उड़ जाती नहीं है, वह रहती होती है और काम भी करती होती है, पर सेठ के रूप में नहीं । वह रहती है चेतन के एक ज्ञानपूर्वक के करण रूप में ।

साधन फलित होने का लक्षण

जीव की प्रकृति में चेतन का तत्त्व अज्ञात रूप में रहा हुआ तो है ही, उसे साधना द्वारा कर करके अधिक से अधिक जीवन में आगे प्रकट करके, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का अनुभव करने की कक्षा में व्याप्त हो, तब ही साधना फलित हुई गिनी जायेगी ।

अनेकों की एक करण द्वारा साधना

प्रकृति के सकल करणों के पूर्ण प्रेममय सहकार पर साधना की सफलता का बहुत आधार रहता है । भाग्य से ही कोई आत्मा सभी करणों द्वारा साधना कर सकती है । ऐसी आत्मा तो अपवाद ही है । प्रत्येक साधक **जीव** किसी न किसी एकाध करण का आश्रय लेकर उसके द्वारा साधना करता होता है, और उसी द्वारा वह प्रभु को प्राप्त भी कर सकता है । यद्यपि ऐसे भी इस जगत में बहुत **जीव** नहीं हैं, बल्कि अल्प ही, बहुत कम होते हैं ।

सभी करणों की शुद्धि और प्रभुशरण की उत्तमता

साधना में साथ साथ प्राण, मन, अहम्, बुद्धि आदि सभी करणों की पूरी शुद्धि होती रहे और वह भी श्रीभगवान की शरण स्वीकार करके और लेते रहें, तभी साधना में उत्तम तरह से प्रत्यक्ष मदद मिलती अनुभव कर सकते हैं, ऐसा **इस जीव** को तो उसकी कृपा से लगा है ।

बुद्धियोग के बाद की दशा

इससे जो जो समय में जैसे जैसे बुद्धि की सूक्ष्मता की आवश्यकता उद्‌भव होती है, वैसे वैसे उसने उस अनुसार प्रकाश को साथ दिया है । गीताजी में एक स्थान पर कहा गया है 'बुद्धियोग भी मैं ऐसों को देता हूँ ।' वैसा ज्ञानपूर्वक का जीवन में साधक को अनुभव होने के बाद बाकी क्या रहता है ? ऐसी मुहर जीवन में होते रहते अनुभव में लगी हुई जब स्वयं अनुभव करता है, तब उस अनुभव को वह साधक **जीव** अपने दूसरे करणों की प्रकृति में उड़ेल उड़ेलकर, वहाँ स्वय उस पर प्रभुत्व पाने को भी सज्ज होता रहता है । ऐसे उसको कृपा से वैसा करते करते वह सफल भी होता है । ऐसे मन से लेकर स्थूल शरीर तक वह प्रभुकृपा से पहुँच सकता है ।

शरीर की भारी अड़चन होने पर भी हिमालय चढ़ सका

स्थूल शरीर में और रोमरोम में प्रभुचेतन का जीवन्त संचार हो जाना, यह कोई जैसा तैसा काम नहीं है । **साक्षात्कार**

के अनुभव की भी कक्षाएँ व्याप्त होती हैं । अमुक प्रकार का ज्ञानात्मक अनुभव होने पर उसको अविचल दशा प्रकट होती है, वह बात सच है, पर उसके बाद आगे का कदम कुछ होता ही नहीं, ऐसी हकीकत योग्य नहीं है । शरीरपन में असल चेतन के प्रकार को पहुँचाकर वहाँ वह काम करते अनुभव कर सके उस ज्ञान के अनुभव की दशा को तो कोई विरला ही पहुँच सकता है । उसे समझनेवाला कौन है ?

इस जीव को एक साथ कितने सारे रोग हुए होते हैं ! और कितना सारा शरीर को होता जाता है ! तब भी उसका शरीर उसके लंगड़ाहट होने पर भी प्रसंग पड़ने पर हिमालय भी चढ़ सकता है । हिमालय जाना था, उसके पहले उसके शरीर के बायें पैर में चोट लगी । हड्डी में खड्ढा पड़ा हुआ था । वह पैर अति दुःख रहा था । उसका कराची में एक्स-रे फोटो निकलवाया था । अभी भी वहाँ आगे मात्र थोड़ी गाँठ हुई हो जैसा रहा हुआ है । वैसे पैर से तुरंत ही हिमालय चढ़ना था । साबरमती में चोट लगी थी और कराची तुरन्त जाने का हुआ था । एकस-रे आदि की हकीकत भाई पर उस समय लिखे हुए पत्रों में से जरूर निकले सही । फिर, उस समय साथ साथ **इस जीव** के शरीर को दस्त का रोग लागू हुआ था । साथ में चलनेवाली एक बहन को उस विषय में शंका भी उत्पन्न हुई थी । इससे उसे वह सब बतलाने की जरूरत हुई थी । तथापि उसकी कृपा से वहाँ चल सका था । मतलब

कि सामान्य संयोगों में और **इस जीव** के शरीर की जैसी स्थिति थी, उस दशा में दूसरे **जीव** का शरीर वैसा नहीं कर सके ।

वैसे के शरीर से कितना अधिक प्रकट होकर सहज स्वेच्छा से गुजर जाता है, उसकी तो किसको सूझबूझ होती है ?

'Vicarious Suffering' की बात तो प्रसिद्ध है । इस तरह आत्मनिष्ठ की उच्चतम कक्षा होते दूसरे **जीवों** में होते रोग या दूसरी कोई प्रक्रियाएँ उस आत्मनिष्ठ में तादात्म्यभाव के कारण प्रकट होती है । वैसा उसके साथ के निकट के परिचय में आये हुए और उस आत्मनिष्ठ के अंतरजीवन के सचमुच के अभ्यासी यदि हो तो उस आत्मनिष्ठ में जो जो ऐसा प्रकट होता हो तो वे परख सकते हैं । बाकी को तो ऐसे विषय की कुछ सूझ-बूझ होती नहीं है । उसके बाद की वैसी दशा उससे भी उच्चतम कक्षा की बनते ही उसमें वैसा नहीं भी होता है । अमुक बार प्रकट होकर गुजर हो जाय और अमुक बार सीधे अदृश्य रूप से गुजर जाता है । उसकी सामनेवाले **जीव** को तो कुछ सूझ-बूझ आ सके ही नहीं ।

इससे भी उच्च दिव्य कक्षाएँ

शरीर की इससे भी उच्च अलग-अलग प्रकार की दिव्य कक्षाएँ हैं । जैसे बुद्धि में योग प्रकट होता है वैसे मन, चित्त, प्राण और अहम् में भी होता जाता है । जिन्होंने जिन्होंने श्रीभगवान का अनुभव किया है, वैसे वैसे सभी **जीवात्मा** के

मन, प्राण, बुद्धि, अहम् आदि संपूर्ण दिव्य रूपान्तर हो गये हुए होते हैं, ऐसा कुछ नहीं है । इससे वह वापिस मेरे तेरे जैसे सामान्य **जीव** कक्षा के मानवी के जैसे तो वे करण होते ही नहीं हैं, यह तो निश्चित प्रमानना ।

एक करण में सिद्धि द्वारा सभी में सिद्धि

जिस **जीव** को चेतन का अनुभव हुआ हो और किसी भी करण द्वारा उसकी साधना हुई हो, तब भी जब वह सिद्धि के विजय को प्राप्त करता है, तब वह करण अकेला ही उससे रंगा हुआ होता है और दूसरे करण बिलकुल कोरे ही रहते हैं, ऐसा मानने की जरूरत नहीं है । जैसे गीताजी के दूसरे अध्याय में लिखा है कि काम हो तो क्रोध हो, क्रोध हो तो स्मृतिभ्रंश हो, स्मृतिभ्रंश हो, उसकी बुद्धि का नाश हो और बुद्धिनाश हो, उसका समूल नाश हुआ समझो । इस समझ को यदि सोचने बैठें, तो प्राण के क्षेत्र की असर अर्थात् प्राण में जो हुआ उसकी असर, जैसे **जीव** की प्रकृति की दशा में बुद्धि के क्षेत्र को भी पहुँचती है, वैसे चेतन के अनुभववाली दशा में क्या एक करण द्वारा जो अनुभव हुआ, तो वह साधना की भावना दूसरे करणों में थोड़ा-बहुत प्रमाण में क्या व्याप्त नहीं हो ? क्या हमारी भावनाओं और उनकी भावनाओं की कक्षा में अन्तर नहीं हो ?

तथापि विशिष्टता हो

जो जो आत्मनिष्ठ हुए हैं, उन उनमें कुछ कुछ अमुक प्रकार की विचित्रताएँ देखने को मिलती हैं, तो वैसी विचित्रताएँ

किसलिए ऐसा कोई पूछे सही, तो उसका उत्तर यह हो, **'सामान्य मानवी और आत्मनिष्ठ दोनों में विचित्रता हो सकती है, किन्तु सामान्य मानवी प्रकृतिवश होकर विचित्रताओं का दास होता है, जब कि आत्मनिष्ठ उसका स्वामी होता है ।'** यदि देखने जाय तो प्रत्येक में कुछ न कुछ विचित्रता व्याप्त हुए बिना नहीं रहती है, परन्तु उसकी विचित्रता के पीछे हेतु होता है, अमुक प्रकार की समझ पड़ी होती है । उसे कौन समझने जाय ! उदाहरण के रूप में **यह जीव** उन महान आत्माओं के चरणरज की कण की भी कण नहीं है, और कहीं भी किसी तुलना में तो हो ही कैसे सकता है ? कारण कि किसी की भी तुलना ही होनी संभव नहीं है । **इस जीव** के सिर में एक प्रकार का भारी ऐसा तो रोग हुआ है कि थोड़ी हवा उसे लगते ही मानो चाकू की धार लगी हो ऐसा हुआ करता है, बहुत शूल उठा करता है, इससे सिर में टोपी, साफा या ऐसा लपेटकर ही रखना पड़ता है । अब प्रत्येक को कुछ इसकी समझ देने थोड़े ही जा सकते हैं ? प्रत्येक को वह विचित्र लगे वह स्वाभाविक है । जैसे इस विचित्रता के पीछे कारण है, वैसे उन उनको भी होना संभव हैं ।

पुरुष सोता हुआ और प्रकृति द्वन्द्व में बँधी हुई

मूल चेतन में तो कहीं अशुद्धि है ही नहीं । पुरुष और प्रकृति दोनों हम में हैं । पुरुष को तो हम समझते भी नहीं, तो अनुभव तो कैसे कर सकते हैं ? वह तो सुषुप्त दशा में

पीछे पड़ा रहा हुआ ही होता है । जो भी सब प्रकृति ही किया करती है । प्रकृति भी उसके सही असली स्वरूप में तो अशुद्धिवाली नहीं है । प्रकृति तो द्वन्द्व के खेल में पड़ी हुई है । द्वन्द्व वह उसका लक्षण है । उसकी चुनाई में ही द्वन्द्व रहा हुआ है । उसे (प्रकृति को) उसके मूल का ज्ञान, शक्ति, प्रकाश, समता आदि का जीवित भान प्रकट नहीं रहा करता, वह तो जिस प्रवृत्ति में पड़ती है, उसका रूप ही हो जाती होती है । उसके द्वारा रंगाया करती है यानी कि द्वन्द्व के आमनेसामने के पहलुओं में टकराया करती है, जकड़े रहती है और वहाँ से इधरउधर ठेलाया करती है और ऐसे वह **जीव**रूप में रहा करती है ।

पुरुष **जाग जाता है तब**

अब जब 'अन्दर का राम' जाग जाता है, तब यह जो ऊपर प्रकृति कही है, उस प्रकृति पर उसकी मुहर लगानी रहती है । प्रकृति को ज्ञान जगाना पड़ता है कि उससे भी ऊपर जाया जा सकता है । वह कोई ऐसे के ऐसे थोड़े ही होता होगा ? कोई कुछ ऐसे के ऐसे थोड़ा मानने लग जाता होता है ! ठोस अनुभव हुए बिना कोई भी अपनी स्थिति से हिल नहीं सकता । प्रकृति के साथ भी ऐसे आंतरिक संग्राम साधक को अमुक कक्षा में आते ही खेलना पड़ता है । पुरुष चाहे तब प्रकृति के कर्म से अपनी सत्ता वापस खींच सकता है और उसे निर्माल्य भी बना सकता है । अपनी (पुरुष की)

संमति के बिना वह कुछ न कर सके ऐसा भी उसे (प्रकृति को) अनुभव में प्रकट हो जाता है । ऐसे प्रकृति से भिन्न, तटस्थ होने से और उसके ईश्वरभाव को आगे लाने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अनुभवात्मक दशा में प्रेरित हो होकर के प्रकृति में भी आत्मा की ज्ञानमय, प्रकाशमय और शक्तिमय शुद्धि प्रकट करने की है । यह शुद्धि वह हम सामान्य रूप से जिसे नीति-सदाचार से उद्‌भव होती शुद्धि जानते हैं वैसी शुद्धि नहीं है । यह शुद्धि का प्रकार तो कोई फिर और ही है । शुद्धि के बदले स्वरूप शब्द लिखा होता तो अधिक योग्य होता ।

जीव प्रकृति को विशुद्ध रूप से चेतनावान बनानी है

हम **जीव** हैं इसलिए द्वन्द्व के खेल में हैं, अज्ञानमय अविद्या में हैं । इसप्रकार, अविद्या की अशुद्धियाँ तो अनेक प्रकार की हैं और उसकी कक्षा अलग-अलग होती है । अलग अलग कक्षा में अशुद्धि के प्रकार भी अलग अलग होते हैं । इससे अविद्या को कितनी सारी अशुद्धिओं से प्रकृति को विशुद्ध करनी रहती है ! और वह जागते जागते ही होता रहता है, पर ऊर्ध्व मार्ग के साधक को मात्र कोई इतने से ही काम निपट नहीं जाता होता है । इतना लिखने का तो चार पंक्ति में पूरा हो जाता है, जबकि ऊपर की दशा प्राप्त करते करते तो **जीव** को जन्म के जन्म भी लेने पड़ें और कोई जन्मजन्मांतर का सद्‌भागी **जीव** इस जन्म में भी वैसा कर सके ।

मूल में तो शुद्धि ही है ऐसा प्रकृति अनुभव करे

हमारे प्रत्येक करण में (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) जहाँ अभी तक प्रकृति का ही विजयध्वज लहराता था, वहाँ अब चैतन्यशक्ति का ध्वज हमें लहराया करना है । प्रत्येक करण की मूल शक्ति चेतन में प्रतिष्ठित हुई है । उसके द्वारा वह प्रकृति के नौकर रूप में नहीं अथवा उसके संचालन या नियमन द्वारा नहीं, पर उसके ज्ञानात्मक दशा के चलन में प्रकाशमय स्थिति में, **जीव** को अर्थात् प्रकृति को उसका ऐसा सत्तामय और शक्तिमय अनुभव करवाना रहता है । मूल स्वरूप में तो अशुद्धि है ही नहीं, ऐसी हकीकतरूप के अनुभव का ज्ञानात्मक दशा के सत्य का स्वीकार प्रकृति को हमें करवाना पड़ता ही है । पुरुष स्वयं शुद्ध है ऐसा अनुभव वहाँ प्रकृति को होता है ।

फिर उसके कार्य अलग ही प्रकार के

उसके बाद करणों में उसकी अनुभूति कैसे हुए बिना रह सके ? अलबत्ता, यह एक बहुत उच्च, दिव्य कक्षा के सूक्ष्म और कारणमय संग्राम की हकीकत है । वह हमारी मात्र **जीव** कक्षा की बुद्धि से समझा सकना दुर्लभ है, पर उसके बाद उसके एक एक करण, प्रकृति में होने पर भी उसके पीछे का हेतु, उसकी समझ, उसकी प्रेरणात्मक शक्ति, उसके पीछे का ज्ञान कोई अलग ही प्रकार का रहा करता है । वह कोई मेरे तेरे जैसे के नहीं होते हैं ।

• • •

ट्रिचि हरि:ॐ ता. २२-६-१९५३

श्रद्धालु को आराम

जिस **जीव** का भरोसा भगवान पर है, वह तो उसके भरोसे जहाँ वहाँ प्रभुकृपा से आराम अनुभव कर सकता है । **संसार कुछ भगवान से अलग नहीं है । वह तो संसार में है और संसार के बाहर भी है !** संसार जीवन सफलता विकसित करने को मिला हुआ है, संसार में रौंदे जाने के लिए नहीं, पर संसार मिला है, जीवन का ज्ञानात्मक तारत्म्य विकसित करने लिए और प्राप्त करने के लिए । विकसित करना तो कोई ऐसे के ऐसे थोड़े ही हो पाता है ? **संसार यह तो शिक्षा के लिए और प्राप्त करने के लिए उत्तम में उत्तम पाठशाला है । जीवनविकास की भावना के निर्माण के लिए संसार यह तो योग्य भूमिका है ।**

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २४-६-१९५३

यहाँ तो मृत समान हैं । जीवन के लिए कोई एक जैसे काम करवाता है वैसे उसकी कृपा से करते रहते हैं । हमें तो जहाँ तहाँ उनके उपयोग के लिए बरतना हो ।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. २६-६-१९५३

मनबुद्धि की मर्यादित शक्ति

व्यक्तिगत जीवन में क्या या समग्र जीवन में क्या, या संपूर्ण समाज या सृष्टि के जीवन में क्या, मनबुद्धि आदि से

जीवन के सभी प्रश्न हल हो जायेंगे ऐसा अनुभव तो बताकर देता नहीं है । मनबुद्धि कोई किसी की समग्रता को तौलने, मापने, समझने, अनुभव करने के लिए कभी भी शक्तिमान हुए नहीं हैं और होनेवाले नहीं हैं ।

केवल कोरी बुद्धि से प्राण को काबू में नहीं ले सकते

मनबुद्धि से प्राण या अहम् पर काबू ला सकते हैं, यह हकीकत भी योग्य नहीं है । वह काबू में लाया हुआ जीवित नहीं होता है । मानो कि एक **जीव** चाय पीता है । उसने उसे बूरी आदत मान ली और वह छोड़ देता है । उसके स्थान पर वह उकाला या कोफी लेता है । इसप्रकार, प्राण के क्षेत्र की इच्छा, वासना, कामना आदि तो उसके वही रहते हैं । उसके आकारप्रकार भले बदलते हों । असहकार के आंदोलन के समय में अनेक **जीवों** ने अलग-अलग व्रत लिये थे । **इस जीव** ने जाना है । वैसे व्रत लेना वह गलत है, ऐसा कहना नहीं है । ऐसे व्रत के कारण से कुछ छोड़ना पड़ा, तो उसके बदले दूसरा कुछ वापस पैठते अनुभव किया था । मेरे कहने का भावार्थ और हेतु तो यह है कि मनबुद्धि की समझ या निश्चय से प्राण पर अच्छा, टिक सके ऐसा, जीवित, चेतनमय संयम प्रकट हो नहीं सकता । ऐसे चेतनामय और ज्ञानात्मक संयम के लिए तो उससे परे जो शक्ति है, उसके द्वारा ही योग्य ढंग से साध सकते हैं । प्रभु की कृपाशक्ति में जिस **जीव** को श्रद्धाभक्ति प्रकट हुई है, ऐसे **जीव** जब अपने करणों की शुद्धि

के लिए श्रीहरि को हृदय में हृदय से हृदय का आर्त और आर्द्र पुकार लगाता है, तब उस पुकार से जो काम होता है, उस पुकार का काम (या शक्ति), नीति या सदाचार के नियम मात्र पालन करने से नहीं होता है । नीति या सदाचार के नियम पालन करने की जरूरत है, यह बात सच है, पर वह इतना और अकेला ही सच है, ऐसा जो झुकाव उस बात में दिया जाता है, वहाँ प्रभुकृपा से **इस जीव** की समझ में अन्तर है ।

मनबुद्धि के पराक्रम

जैसे जैसे मन या बुद्धि की केवल कोरी कोरी मदद से मानवी अपने जीवन के प्रश्नों को हल करने के लिए मथता होता है वैसे वैसे वह अधिक उलझता जाता है ऐसा अनुभव किया है । दुःख, यातना, वेदना, दलदल में फँसना, नीचे लुढ़कना - यह सब मानवी की बुद्धि की मदद से उसने सर्जित किया है । राग, द्वेष, ईर्ष्या, डाह आदि मानवी मानवी के बीच घटने के बदले बढ़े हैं । **मानवी मानवी को इन्सान समझना छोड़कर, एक दूसरे को किस तरह से लूटना, किस तरह से उस पर निभना-ऐसी संस्कृति ने मानवी के मनबुद्धि पर घर किया हुआ है ।** अलग अलग प्रकार की जातों में एकदूसरे पर वर्चस्व जमा जमाकर, उसके द्वारा और उस पर जीना लोग चाहते हैं और हमेशा के लिए कमजोर को कमजोर रखना चाहते हैं । मानवी की अमुक प्रकार की वैसी वैसी निश्चितरूप से सोची और समझी योजना को कुदरत

ने धूल में मिला दिया है । ऐसा क्या हमने इस काल में अनुभव नहीं किया ? जिस जापान को अमेरिका ने निःशस्त्र किया उसी जापान ने रशिया के भय से वापिस सशस्त्र होने की बारी आयी । इसी तरह जर्मनी का है ।

कुदरती बल कब्जा तो किया पर...

मानवी ने मनबुद्धि की मदद से कुदरती बलों को अधिकार में किया । उसकी शक्ति को जोतकर उसके द्वारा काम लेने का किया । इसमें से सभी का सुख हो, सभी के जीवन को शांति मिले, सभी की इच्छा पूरी हो, सभी के जीवन में आनंद-संतोष प्रकट हुए ऐसा सब अभी पूरी तरह से संयोजित नहीं हुआ है । बल्कि ऐसी जोती दी गई शक्ति के पास से इस प्रकार का सर्जन हुआ किया है, कि जिसके द्वारा एक प्रजा दूसरी प्रजा को परस्पर गुर्राहट करते अनुभव होते हैं । ऐसे भारी तूफान से कौन जाने भविष्य में कैसा युद्ध फूट पड़ेगा ।

बंदर को नसेनी मिली

मानवी के हाथ में शक्ति आ गई है, पर उसमें स्वार्थपरायणता अभी घटी हुई नहीं है । बल्कि विशेष होने से उसका उपयोग उसके लिए ही हुआ करेगा । जहाँ परस्पर स्वार्थ हो, और परस्पर का स्वार्थ जहाँ टकराये, वहाँ तो घर्षण ही खड़ा होगा, यह बात भी निश्चित है । इसप्रकार, अत्यधिक तप करके बुद्धि से प्राप्त हुई शक्ति मानवी का भला करने

के लिए शक्तिशाली नहीं हो सकती, यह तो हम सब का स्वानुभव है। इससे सच्चा तारतम्य तो यह निकलता है कि मन, बुद्धि आदि में निष्कामता, निर्ममत्व, निरासक्तभाव, निराग्रहीता, समता आदि आदि गुण प्रकट हुए हों तो ही वे प्राप्त हुई या मिली हुई शक्ति का जीवन के समग्र विकास के लिए सदुपयोग हो सके।

मानवी ने बड़ी गड़बड़ की है

इस युग के मानवी ने शक्ति के बलों को कब्जा तो किया, पर जीवन का रचनात्मक सर्जन उसने कितना और क्या किया ? मानवी मानवी को, देश देश को, स्थानकाल को, उसने पास तो ला दिया, पर वह एक करने के लिए नहीं, पर अधिक अलग अलग करने के लिए।

परिस्थिति अंतर का भारी फेरफार माँग लेती है

हाल में व्यक्ति क्या या समाज क्या, या पृथ्वी पर की अलग अलग जाति और प्रजा क्या समग्र जीवन में एक ऐसा नाजुक समय आया है, कि जो एक बड़ा भारी फेरफार हो ऐसी माँग रही हुई है। वैसा सही, अंतर के सहज फेरफार प्रकट हुए बिना मानवी के जीवन का भावी उजला नहीं दिखता है। ऐसा फेरफार मात्र कुछ मनबुद्धि की मदद से या किसी संस्कृति से या किसी सदाचार या ऐसे दूसरे बलों से या किसी अमुक प्रकार की या चौखट के प्रकार की वैज्ञानिक शक्ति से या कोई एकाध आध्यात्मिक **जीवात्मा** की शक्ति

से हो सकनेवाला नहीं है । फेरफार होना जरूरी है, ऐसा तो प्रत्येक कबूल करते हैं, किन्तु सभी कोई, अपनी-अपनी, रीति और शर्त से और उन उनके जीवन के रीति-रिवाज की समझ के अनुसार और अपने अकेले के ही सुख की कल्पनानुसार वह चाहता है । ऐसे प्रत्येक के फेरफार की समझ भी अलग अलग प्रकार प्रकार की होती है । ऐसे फेरफार अलग अलग प्रजा के जीवन में यदाकदा हुए ही करते हैं । वैसे फेरफार उस उस प्रजा के जीवननिर्माण के लिए जरूरी भी होते हैं, परन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि ऐसे फेरफार के प्रसंग के समय पर वह फेरफार जीवननिर्माण के लिए प्रकट हुआ है उस भाव से, उस प्रकार के ज्ञानभान के साथ उसका उपयोग करना है, ऐसा कोई समझता होता नहीं है, और इससे उसका योग्य पर्याप्त लाभ कोई ले नहीं सकता है ।

योग्य जीवन जीने का योग

जीवन में धूपछाँव तो आयेगी ही, पर उन दोनों पक्षों का हेतु तो निर्माण होने के लिए है । विष का कड़वा घूँट पीने की बारी आये तो उसे अमृत रूप में स्वीकार करके जो **जीव** जीवनसंग्राम खेलता है, वह जीवन जीना जानता है । इसमें पराक्रमी की सच्ची मर्दानगी है । सच्चा पुरुषातन तो ऐसे भयंकर जीवन का संग्राम खेलने से आता है । प्रजा क्या या व्यक्ति क्या, कोई समझता नहीं कि जीवन जीने के लिए है । मुसीबतों का, ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवन के ध्येय को प्राप्त

करने के लिए सामना कर करके जीवन को आनंदमय सुंदर बनाना और स्वयं वैसा जीकर के अन्य को प्रेरणात्मक बनना और बनाना, यह कुछ जैसा तैसा कर्म नहीं या जैसा तैसा योग नहीं है । वैसा जीनेवालों से तो लोग भागते हैं । प्रजा या व्यक्ति, जीवन के आदर्श की बातें करते हैं, परन्तु आदर्श अनुसार योग्य प्रकार का जीवन जीनेवाले में एक प्रकार का ऐसा तो प्रचंड खमीर प्रकट होता है कि उससे संसार तो दूर दूर भागता फिरता है। उसे छेड़ने से कुछ कोई लाभ मिलनेवाला नहीं है, ऐसी प्रतीति लोगों को हो गई हुई होती है ।

किन्तु कसौटी हुए बिना जीना नहीं आता

परन्तु ऐसा होने से पहले तो ऐसे **जीव** को संसार की कठिन से कठिन कसौटी से गुजरना पड़ता है। वैसी कसौटी के प्रसंग को, जो **जीव** जीवनआदर्श अनुसार जीवन जीने और जीवननिर्माण के लिए दृढ़तापूर्वक चाहता होता है, वैसा **जीव** तो हृदय की उमंग से स्वीकार कर लेने के हेतु के ज्ञानभान के साथ उसे स्वागत करता है। ऐसा विरल वीर ही जीवन को गढ़ सकता है। कठिनाइयाँ, गुत्थियाँ, विघ्न, बेचैनी प्रसंग, आकुलता के प्रश्न, टकराहट, घर्षण, अनेक प्रकार के अलग अलग आघात प्रत्याघात आदि आदि को जो **जीव** जीवन के निर्माण के मौके समझते हैं, उन्हें उसमें से सामान्य **जीव** को जो पारावार लगने जैसा होता है, वह उस **जीव** को होता नहीं है । उसका तो दृष्टिकोण बदल गया होता है ।

फेरफार को गुरु समझो

जीवन में, संसार में फेरफार कोई चाहे या न चाहे तब भी पैदा हुआ ही करेंगे । उसे कोई भी रोक सके ऐसा नहीं है, तो उस प्रकार हुए फेरफार को जीवन के निर्माता के रूप में, सद्‌गुरु के रूप में स्वीकार करने का हृदय का लक्ष्य जिस **जीव** को जागता है, वही **जीवनवीर** है । इससे किसी भी **जीव** ने जीवनआदर्श के अनुसार जीने का स्वीकार किया है कि नहीं वह, उसे उसके जीवन में आते प्रसंगों को वह किस भाव से स्वीकार करता है, उस पर से हम तो वैसे **जीव** को परख लेने का कर लेते होते हैं ।

हमारा समूल फेरफार

हम तो जीवन का ऐसा समूल फेरफार चाहते हैं कि जिससे हमारे संसार और जिस तिस के गतिकारक और प्रेरणात्मक बल का जो मूल है, उसे सचमुच अनुभव कर सके, और उस द्वारा जो भी सब कर सकें, तो तो कहीं भी हमें कुछ इधरउधर का लगने का अवकाश रहता नहीं है । इस प्रकार का जीवन को आमूलाग्र पलट देनेवाला फेरफार, वह तो काल और स्थान दोनों के उस पार देख सकनेवाला हो सकता है । उसमें किसी भी प्रकार के गढ़ के रखे हुए या योजित किये हुए, मुकरर किये हुए चौकठे नहीं हैं या वहाँ नहीं हैं अमुक निश्चित प्रकार के नियम, माप, समझ, आदत आदि ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २७-६-१९५३

हमारी तो सुधार की थिगलियाँ

हम सब तो सामान्यरूप से जहाँ तहाँ इधरउधर नहींवत् सुधार की थिगली लगानेवाले हैं। कोई भी गहरा मूल में तो उतरता होता नहीं। जो भी सब ऊपर ऊपर के सुधारों के कोलाहल में लग जाते दिखते हैं। जीवन समूलतः परिवर्तित हो, जीवन में कोई पारलौकिक दृष्टि प्राप्त हो, उस तरह से जो देखे, उसी तरह से ही समझने का जो करता है, वह जीवन को सही रूप में समझ सकता है। वैसी आत्मा ही जीवन का सच्चा योग्य समन्वय कर सकती है। विसंवाद में संवाद वैसी आत्मा ही अनुभव कर सकती है।

जीवनआदर्श अनुसार दृष्टि, वृत्ति, भाव जो **जीव** जीवन में प्रकट होते प्रसंगों में जीवित रख सकता है, उस समय उसे अंतर से हिंमत, धीरज, ऊष्मा, सहारा, सहानुभूति, प्रेम आदि प्राप्त हो वह अनुभव कर सकता है।

हम विरल वीर बनें

'मानवी दुनिया की नाशवंत वस्तुओं की ओर जितने विश्वास, श्रद्धा रखता है, उतने श्रद्धा, विश्वास, प्रभु पर रखते हो जाय तो ? पर वैसा तो कोई विरल वीर को ही सूझता है।' वैसा तुम लिखती हो, पर हम ऐसे विरल वीर क्यों न बन सकें ? हमने क्या ऐसे जीवन का आदर्श निर्माण नहीं किया ?

शक्ति का अनुभव

'चोटीला में पूज्य श्रीनानचन्द्रजी महाराज को साक्षात्कार किसे कहते हैं' ऐसा पूछा था। महाराज साहब ने कहा, '**जीव** में आत्मा का जागृत ज्ञान प्रकट होना यानी कि उसका जागृत होना उसे साक्षात्कार कहते हैं।' इतनी बातचीत हुई और उनके पास कोई आया, इससे हमारी बातचीत अधूरी रही, वह रह ही गई। और उस प्रश्न का उत्तर आपने मुझे लिखा। मैंने वहाँ पूछा था और उत्तर मिला आपकी ओर से ! ऐसा तो कितना ही होता रहता है।' ऐसे छोटे-छोटे अनुभवों को जो **जीव** सिर पर से खाली खाली बह जाने देते हैं, वैसे अनुभवों का महत्त्व जो **जीव** स्वीकार नहीं करते ऐसे अनुभवों को जो **जीव** कुछ महत्त्व का नहीं समझते, उसके योग्य भावार्थ में और उसकी योग्य यथार्थता में उसका मूल्यांकन जो **जीवों** को सूझता या उगता ही नहीं है। ऐसे **जीव** को ऐसे होते अनुभव सिर पर से बह जाते होते हैं। परन्तु जो **जीव** ऐसे होते रहते अनुभवों से अपने श्रद्धा, विश्वास, प्रेमभक्ति-ज्ञानपूर्वक जीवन में जीवित होते जाते, अनुभव कर सकने का करता है, उसे वैसे अनुभव प्रेरणात्मक हो सकते हैं।

जीवन्त मान्यता

ऐसे अनुभवों से यदि श्रद्धा-विश्वास जीवन्त होकर वह जीवन को विकसित न कर सके, उसे ज्ञानात्मक, योग्य विवेकयुक्त, समतायुक्त समझ न प्रेरित कर सकते हो तो वैसे

अनुभव हों, तब भी क्या और न हों तब भी क्या ? अनुभवों के बारे में ऐसी मान्यता वह मान्यता नहीं है । जिस मान्यता का प्रकार आज हो और कल न हो, वह मान्यता नहीं है । जिस मान्यता का प्रकार आज हो और कल न हो, वह मान्यता किस काम की ? जिस मान्यता में संपूर्ण, सच्ची, सही प्रामाणिकता, ऋजुता, मृदुतायुक्त हृदयस्थ भावना, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भक्ति आदि आदि जीवन्त हुए होते हैं, उसमें से प्रकट हुई मान्यता जीवन को कुछ वहीं का वहीं नहीं रख सकती है । इस प्रकार की जीवन्त मान्यता तो जीवन के अनेक प्रकार के फेरफारों में जीवित रखवाती है, बल प्रेरित करती है, उष्मा देती है, सहारा देती है, प्रेरणा देती है और प्राणवान साथी की पक्की पूरी आवश्यकता पूर्ण करती है । ऐसी मान्यता वह किसी प्रकार की मान्यता के चौखट के प्रकार की खाली कल्पनात्मक मान्यता नहीं है, वह तो अंतर से प्रकट हुए अनुभव में से परिपक्व हुई जीवन्त स्थिति है । वह चलित नहीं होती है और भावना की निष्ठा में उसका मूल होता है । 'मान्यता' शब्द के बदले इसके लिए कोई दूसरा शब्द उपयोग होता हो, तो योग्य होगा । उसे अंग्रेजी में Courage of Conviction कह सकते हैं ।

जीवन का वीर

जीवन का योद्धा कभी नामर्द नहीं है । जो जीवन का वीर है, वह अकेला होने पर भी अकेला नहीं होता । मकोड़े

की तरह वह भले टूटकर चूर हो जाय, पर जिस आदर्श को वह चिपका है, उसे मरणांत भी छोड़ेगा तो नहीं ही । जीवन के आदर्श को भावना की वास्तविकता में प्रकट करनेवाले **जीव** को वैसा होना रहता है ।

मात्र समझ से कुछ भी नहीं मिलेगा

कितने सारे पत्रों में मर्द बनने का कितनी बार तुम्हें लिखा है ! वह उपयोग में आता यदि न अनुभव कर सके, तो फिर पत्रों का क्या अर्थ ? हमें फिर पत्र लिखने के भाव किस तरह से प्रकट होंगे ? सही रूप में **इस** मार्ग में ऐसी समझ बहुत कम हिस्सा निभाती है । हृदय हृदय के ऐक्यभाव के बिना - और वह भी प्रेमभक्तिज्ञानात्मक भाव प्रकट हुए बिना–कुछ भी पूरा नहीं मिल पाता है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. २९–६–१९५३

हमारे हृदय

हमारे हृदय सूखी लकड़ी के नहीं बने हुए होते हैं । जो कुछ हो उसे कहने और लिखने में भी क्या सार हो ?

इस जीवन में यदि किसी के दिल सहृदयता, वफादारी, प्रेमभक्ति, समर्पणभाव से चेतनवान न हो सके तो फिर उच्च ले जाने की बातें वह खाली निरर्थक है । यद्यपि हमें तो जो मिला है, वह हमारे दिल में तो अमृत है । हमें तो किसी की निंदा नहीं करनी है, वैसे ही किसी को निराश नहीं करना है ।

जीवन का प्रेमभाव उसकी कसौटी की अवधि में भी यदि न टिक सका, तो उसके बाद वह भी क्षुल्लक और हमारी तो बात ही क्या करनी ? गिर पड़े उसकी भी कोई बात नहीं, पर इससे यदि कृतनिश्चयी पक्के होते जाय, ऊर्ध्व भावना की दिशा में जीवन की उपयोगिता में व्याप्त हो सकते हों, तो कोई बाधा न हो ।

हमारा आत्मविश्वास और वफादारी

दलदल से निकलना यह दुर्घट है । हृदय में सचमुच उत्कटता उसमें से निकलने के लिए प्रकट हुई हो, उसके लिए योग्य सहारा यदि मिल सके, तो उसमें से उबर जा सकते हैं । हमें तो भगवान ने जो दिया है, उसमें हमारा तो दिल है । सदा ही अमर रहो ! जैसे हो वैसे स्वजन हमें जीवन में उपयोगी नहीं हैं, पर हमारे हृदय का भाव यदि सच्चा होगा तो वैसे **जीव** आज नहीं तो कल भी जीवन की योग्यता में प्रकट होंगे प्रभुकृपा से आत्मविश्वास है । हमें बेवफाई बिलकुल पसंद नहीं है । हमारा धर्म तो उन उनके साथ रहने का है, पर हमें साथ ही कौन रखता है ? जो हो वह हो । अब क्या है ? अब तो तनकर से लगे रहना चाहिए न ?

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. १-७-१९५३

कल भाई मौन से बाहर निकलनेवाले हैं । तेरे भक्तिपूर्वक के प्रणाम उनको पहूँचाऊँगा ।

सच्ची अभिमुखता की भूमिका

जीवन की सकल प्रवृत्ति जब अंतर्मुखता के भाव से और वह जब सांसारिक वृत्ति से होती है, इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तिओं में बहुत, अन्तर हो जाता है । अपनी सकल प्रकार की वृत्तिओं को, मनोभावों को, विचारों को, भावना को, भाव को और सभी प्रकार के हमारे मानवी प्रकार के संपर्क और संबंधों को जब हमने सचमुच हृदय से प्रभु के प्रति मोड़ दिये होते हैं, तभी अंतर की अभिमुखता की भूमिका तैयार हुई गिनी जाती है ।

आंतरिक साधना हृदयसंबंध के बाद ही

ऐसा होता है तो ही आंतरिक साधना हो सकने की सच्ची शुरूआत हुई होती है, परन्तु वैसा हो जाना सामान्य **जीव** के लिए इतना सरल नहीं होता है, क्योंकि जिस **जीव** को उसकी लगनी लगी होती है, सही गरज जगी हुई होती है, उसे भी उसमें वैसी दशा रचते रचते कितनी अधिक युद्ध की परंपराओं में से गुजरना पड़ा हुआ होता है । वह अमुक बार अटका रहता है और आंतरिक शत्रुओं के शिकंजे में कितनी ही बार बंद होकर रह जाता है, तथापि उसे लगनी लगी होने से श्रीभगवान के साथ का उसके हृदय का जीवित संबंध कभी भटका पड़ा हुआ नहीं होता । उसका हृदय का संबंध तो सदा ही जाग्रत होने से, उसके द्वारा वह उसके अंतर्यामी को मदद के लिए हृदय में हृदय से पुकार करता

रहता है । ऐसे लगनीवाले **जीव** को जरासा भी टेढ़ा होते या हो जाने पर वह उसे लाखोंगुना सालता रहता है । उसे उस समय जो सालता होता है, उसका दर्द भी उसके प्रार्थना के सुर और भाव में प्रवेश पाता है । दर्द की पुकार कोई और प्रकार की होती है और वह बहुत गहरी व्याप्त होती है । वह अंतर से बोलता–पुकारता–होता है ।

भक्त की आंतर्वेदना

भक्त के हृदय की उस पुकार में आर्तनाद और आर्द्रनाद सहज स्वेच्छा से प्रकट होती है । इससे वैसा **जीव** स्वयं को अनेक विशेषणों से अभिवादन करता है । उसको हम अपने जीवन की समझ की कक्षा या उस रूप से वैसा नहीं समझना चाहिए । श्रीसुरदास जैसे भक्त कहते हैं, 'सब पतितन में नामी' 'मेरे जैसा दूसरा कौन पापी है ?' अब उनका जीवित संबंध तो श्रीभगवान के साथ है । वे अपने आपको सतत श्रीभगवान के भाव के साथ तुलना करते रहते होते हैं । अपनी कक्षा में राई के दाने जितनी कमी वैसे लोगों को पर्वत जितनी लगती है । जैसे हृदय के उत्कट प्रेमभाववाले सच्चे विरही को एक पल वह एक दिन से भी अधिक बड़ा और सहन करने के लिए कठिन लगता है, उस तरह ऐसे संत–भक्त–ज्ञानी अपनी थोड़ी जितनी कमी (हमारे हिसाब से तो बिलकुल तुच्छ है, अरे ! गिनी भी न जाये वैसी) उनको बेचैन कर देती है । उसे वे सहन नहीं कर सकते हैं और प्रभु को उस समय स्वयं बहुत बहुत पुकारते हैं ।

कहाँ ऐसे भक्त और कहाँ हम !

इसलिए ऐसी प्रार्थना हम गायें वह ठीक है, परन्तु हम अपना दिल उससे पहले समझ लें । अमुक **जीवों** को वैसी-वैसी प्रार्थना उनके वैसे वैसे पतनकाल में गाते जाना है, पर कहाँ उस भक्तज्ञानी संतात्मा के हृदय की वाणी और कहाँ हमारे जैसे पामर की वाणी, कि जिसे कहीं किसी के बारे में कुछ सालता नहीं है । हमें तो पाठ भी ठीक से निभाने कहाँ आता है !

दानत तो साफ रखो

हम मात्र यदि प्रमाणिक होना सीखें, नेक दानत रखते सीखें, सच्ची तरह से वफादार रहते सीखें, हमारे जीवनआदर्श को प्रेमभाव से ज्ञानपूर्वक चिपके रहना सीखें, तो तो जीवन को महान भयंकर दलदल में से भी बाहर निकाल सकेंगे । कोई मानो कि हमने इकरार किया होता है, पर कोई हमें टोकता होता है तब वैसा होता रहता है । ता. २४-६-१९५३ का पत्र उसका साक्षी है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ४-७-१९५३

सच्चा साधक

बेकार बोलना व्यर्थ, बेकार जीना व्यर्थ,
निर्बल राग सभी व्यर्थ, निर्बल भावना व्यर्थ ।
हमारा तो जो भी सब दम-खम बिना का होता है ।

जो **जीव** ऊँचा चढ़ना सचमुच चाहता होता है, उसकी निम्न कोटि के मनोभाव, भावना, उसके **जीव**पन के राग में भी कुछ वीर्य, कुछ पराक्रम, कुछ धन्यता की सुगंधी, कुछ हृदय की खुशी आदि सब जिसे देखने के लिए आँख है, वैसा समझने को हृदय है, उसे वैसा उसकी परख में आये बिना नहीं रह सकता है, यह जानना। सुखदुःख, आशानिराशा यह सभी द्वन्द्व के युग्म जीवननिर्माण के लिए निर्मित हुए हैं। ऐसे ऐसे प्रसंगों में जीवन का विकास है, ऐसी भावना की प्राणवान समझ वैसे प्रसंगों में व्याप्त हो तो **जीव** कहीं किसी में भटक न जाये।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　हरिःॐ　　　　　ता. ६-७-१९५३

गरज हो तभी गुरु .... जा सकता है

जीवनविकास के लिए सचमुच जहाँ तक गरज प्रकट हुई नहीं है, वहाँ तक उस सम्बन्ध के पुरुषार्थ में सच्चे प्राण प्रकट नहीं सकते हैं। फिर, किसी को भी वैसी भावना के हेतु से लगे रहने की पक्की गरज प्रकट हुए बिना उसे दिल से लगा भी नहीं जा सकता है। जीवन का विकास कुछ ऐसे के ऐसे ही तो नहीं हो जायेगा। उसके लिए संघर्ष तो करना ही पड़ेगा।

साधना भी विश्व से जुड़ी हुई है

संसार का क्षेत्र जीवनविकास की साधना के लिए उत्तम प्रकार का है। इस समस्त विश्व की रचना का हेतु देखें तो

कहीं भी कुछ एकदूसरे से अलग नहीं है । जो भी सब एकदूसरे के साथ परस्पर जुड़ा हुआ है, जिससे समग्र विश्व के हेतु से अलग कुछ भी कहीं नहीं हो सकता है । गीताजी में अर्जुन को युद्ध में श्रीभगवान उसका मन न होने पर भी मार्ग दिखाते हैं । इसलिए जो जो प्राप्त धर्म है, उसे तो छोड़ ही नहीं सकते । वे सभी धर्म सांसारिक वृत्ति से करने, आचरण करने नहीं होते हैं । प्राप्त धर्म तो भगवद्‌भाव से आचरण करने होते हैं । उन धर्मों के आचरण में जीवनविकास की भावना का ही सुदृढ़ता से एकमात्र ख्याल उसकी कृपा से यदि रख सके, तो उस उस धर्म का हेतु सच्ची तरह से फलित हो सके । **इसलिए संसार यह तो वृत्तिओं से तैरने के लिए मुक्तिनाव है ।** इसलिए उसमें सावधान होकर मर्द होकर जीना है, यह जानना ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिःॐ　　　　ता. ११-७-१९५३

प्रथम उत्साह, बाद में पुरुषार्थ

'मुश्किल का अब अंत आ गया है ।' यह वाक्य पढ़कर तुम्हें बहुत सारा लिखने का दिल हुआ था । कलम को लेकर अनेक बार हम बिना सोचे समझे लिखते चले जाते हैं, अब लिखने करने में **इस जीव** की श्रद्धा काम में आती नहीं है । जीवनविकास की साधना में प्रथम तो मूल में जो उत्साह, तमन्ना उत्कट प्रकार की होनी चाहिए, वह भाग्य से,

बहुत क्वचित ही, किसी **जीव** में देखने में आती है । बाकी के अभ्यास में निरन्तर, होशियारी से लगे रहने के लिए तनदिही, उत्साह, धीरज, साहस, हिंमत, सहनशीलता आदि जिन गुणों की उसमें जरूरत होती है, वैसी गुणशक्ति बहुत कम **जीवों** में होती है, वह होने पर भी केवल मात्र पुरुषार्थ से **इस** मार्ग में चलता नहीं है । **यह** मार्ग तो माँग लेता है – श्रद्धा, भक्ति, त्याग, विश्वास, बलिदान, समर्पण, खुल्लापन (और वह भी हृदय के सौ के सौ प्रतिशत का) और वह सब वापिस होना चाहिए ज्ञानपूर्वक की भूमिकावाला ।

मेरे लिखने से मन में बुरा लगा तो उलटा उलझ जाने का होगा । लिखने का हेतु समझो और बोलने का हेतु समझो । उसके पीछे की कोई एक प्रेरणा है, उसका ख्याल करना । उसके अंतर्गतरूप के हार्द को समझना । कृपा करके अकुलाकर, उलझकर, दम घुटने या उकसाहट के मारे अथवा तो स्वस्थता से खिसक कर, कोई निर्णय, अनुमान, मान्यता, मत कभी न बाँध लेना । **कायरता, प्राप्त हुई परिस्थिति से भाग जाना उसे गीतामाता जीवन में स्वीकार करने को कभी सूचित नहीं करती ।** जीवन में सभी किसी का स्वीकार है । स्वीकार के पीछे की भावना जीवनविकास के लिए ज्ञानभक्तिपूर्वक की जिस **जीव** की सचमुच प्रचंड रहती है, उसे अच्छा या बुरा कुछ ही नहीं रहता । वह सदा ही प्रसन्नता और शांति को प्रथम पसंदगी देकर कष्ट को तप समझ समझकर, खिलते पुष्प जैसा

वह **जीव** सहने में, जीने में धन्यता, कृतार्थता अनुभव करता है। इसलिए कृपा करके समझना ! हाथ पर जलने का कारण मन की ही दशा का परिणाम हो सकता है।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ११-७-१९५३

गीता का संन्यास तथा गीता का धर्म

तुम्हें जो पत्र लिखे हैं, उनका अर्थ और मर्म पूरी तरह से तुम्हें अभी दिल में समझ में नहीं आया लगता है। बार-बार एक का एक तुम्हें अंतर में बैठाने के लिए समझाना पड़ता है, यह हमारे शर्म की कथनी है। हृदय की हृदय से ग्रहण कर सकने की हमारी भूमिका परिपक्व नहीं है, ऐसा वह बतलाता है। **प्राप्त हुई परिस्थिति और प्राप्त हुआ धर्म वह जीवनविकास के लिए की योग्य भूमिका है।** प्राप्त हुए धर्म को छोड़कर उसे जो दूसरी जगह खोजता है, वह सभी मिथ्या प्रयत्न है, शास्त्रों में वर्णित संन्यासी का धर्म और अभी संसार में साधारणतः आचरण होता संन्यस्त धर्म-इन दोनों के प्रकार में जमीन आसमान का अंतर है। **गीता का संन्यास वह वृत्ति का संन्यास है। गीता का धर्म प्राप्त हुई परिस्थिति और प्राप्त हुआ धर्म से भागने स्पष्ट मना करता है।** उसे वह कायरता मानता है। जो ऊबकर, त्रासित होकर भागता है, वह धर्म के हृदय को पा नहीं सकता है।

निष्ठा प्रकट हो उसकी रीति

इस **जीव** को अनेक प्रकार की पारावार लाचारी में जीवन जीनेका बना हुआ है, परन्तु उसमें से उसने जीवनविकास के लिए का लाभ उठाया है । प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक संयोग, प्रत्येक प्रसंग, प्रत्येक व्यक्ति का संबंध और संपर्क आदि-इन सबके साथ जवाबदारी, प्रमाणिकता, वफादारी, सच्चाई, सहृदयता, नेकादिली के अनुशीलन, परिशीलन से एकनिष्ठा का जो भाव जन्म लेता है, वैसी एकनिष्ठा जीवन को सर्व प्रकार के इधर, उधर, खड़े, टेढ़े, मोड़ो से चढ़ावउतार की घाटी से, अनेक प्रकार के मोड़ लेते पथ से गुजरते हुए जीवन को सांगोपांग वह पार उतरवाता है । प्रभुकृपा से जीवन में जब साधना में लगने का हुआ, तब विचार, वृत्ति, मनोभाव, भावना, भाव, प्रेरणा आदि के मूल में जाने की एक प्रकार की समता, शांतियुक्त तटस्थताभरी विकसित हुई आदत प्रकट हुई ।

एकनिष्ठा का मूल किसमें हो सकता है, उसे सोचते सोचते ऊपर का अनुभव पाया था । सच में ही एकनिष्ठ हुए बिना वस्तु के हार्द में कोई प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए ही और साधना का हार्द प्रभुकृपा से अनुभव होने से प्रत्येक को लक्षण द्वारा ही पहचानने की आदत पड़ी हुई है । यदि हम एकनिष्ठ न हुए हों तो जरूर समझ लेना कि हमें अभी ध्येय के सम्बन्ध की जवाबदारी, सच्चाई, सहृदयता आदि

आदि सही प्रमाण में प्रकट हुए नहीं; तो वे प्रकट करने का काम हमारा है। एकनिष्ठा प्रकट हुए बिना जीवन की साधना के पुरुषार्थ में नवचेतन, प्राण प्रकट हो सकनेवाले नहीं है। यदि उच्च आदर्शवाला जीवन जीना ही हो, तो उसके सम्बन्ध की एकनिष्ठा कावेरीमैया के बहते पानी की तरह हमारे जीवन में जीवन्त हो जानी चाहिए। एकनिष्ठा के बिना साधना का प्रारंभ भी नहीं हो सकता। एकानिष्ठा के बिना ध्येय के मार्ग सम्बन्ध के उत्साह, तनदिही, साहस, धीरज, सहनशीलता, सहिष्णुता आदि गुण भी टिक नहीं सकते हैं। अरे ! साधना की बात तो जाने दो, परन्तु संसारव्यवहार के मार्ग में सफल होने के लिए उसके सम्बन्ध की एकनिष्ठा की उतनी ही जरूरत रहती है। एकनिष्ठा प्रकट हुए बिना एकाग्रता और केन्द्रितता जन्म ही नहीं ले सके। **साधना का हृदय एकनिष्ठा में रहा है।**

दमन और संयम

हमारी संस्कृति में जो अनेक प्रकार के सांप्रदायिक मत व्याप्त है, वे त्याग और भोग इन दोनों के बीच की सभी शाखाएँ हैं। त्याग या भोग दोनों प्रेमभक्तिज्ञानयोग की भूमिकावाले होने चाहिए, तभी वे शोभित होते हैं। ज्ञानभक्ति बिना का त्याग वह त्याग नहीं है पर जीवन को बलपूर्वक कुचलनेवाला और जीवन की मुलायमत को हनन करनेवाला, वह नकारात्मक तत्त्व है। हमारी संस्कृति में दमन पर झुकाव दिया है। इससे

जीवन के प्राण उलटे कुचले गये हुए हैं। हमारी संस्कृति में संयम को पर्याप्त स्थान है, परन्तु **संयम और दमन इन दोनों में तो बहुत अंतर है। दमन में तो सभी करण घोंट जाते हैं। उन सभी को घोंटकर आगे जाने का भी किसी ने किया है। ऐसी आगे की दशा में पहुँचने के बाद भी उनमें मन, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि करणों में *जीव*दशा की और *जीव*प्रकार की वृत्तियाँ जागी होंगी ऐसे कहने का आशय नहीं है।**

उन करणों में अनुभव के नवचेतन से नवपल्लवित हुआ, फिर से ऊष्माप्रेरित जीवन फलाफूला है, यह एक अपवाद की हकीकत है। किन्तु दमन वह एक ही मार्ग न था या नहीं है। दमन की जरूरत है सही पर वह ज्ञानभक्तिपूर्वक के त्याग, बलिदान और समर्पण की भावना से जो होता है, और अभी जिसे दमन मानने में आता है, उसमें और उस दूसरे प्रकार में बहुत अंतर है। दमन से बुद्धिप्राणादि कुंठित हो जाते हैं। जैसे नपुंसक मानवी में वासना नहीं होती ऐसा नहीं होता है, इस तरह से करणों को कुंठित करके आगे बढ़ने के मार्ग को हमारी संस्कृति के अनुभविओं ने नकारा है। अमुक ही धार्मिक संप्रदायों में अभी इस दमन का मत प्रचलित है। दमन को उसकी आत्यंतिक अवस्था में भी पहुँचाया है, परन्तु उसमें से उत्तम प्रकार का ज्ञानात्मक अनुभव जीवन में प्रकट नहीं हो सके, ऐसा **इस जीव** का नम्ररूप से मानना है। ऐसे दमन का

प्रकार जीवन को वहाँ का वहाँ रखता है, जीवन को समूल कुचल भी देता है। जीवनविकास का वह योग्य मार्ग नहीं है।

भोगप्रधान संस्कृति

उसके सामने की तरफ दूसरे अमुक सांप्रदायिक पंथ हमारी संस्कृति में प्रकट हुए हैं, जो जीवन का स्वीकार करते हैं और भोगप्रधान हैं। वह भोग मूल से तो होना चाहिए प्रेमभक्ति-ज्ञान के योगपूर्वक की भूमिकावाला, परन्तु उसकी वैसी स्थिति न रहते वैसी संस्कृति का भी पतन हुआ है। जीवन में भोग को स्थान है, परन्तु वह कब वह एक विचार करने योग्य स्थिति है। अज्ञानमय जीवन में तो निरा भोग ही भोग है। जब कि ज्ञान की अवस्था में जीवन का यज्ञ संपूर्णरूप से परिपूर्ण होने के बाद, जो कुछ बाकी रहे वैसे भोग को यथार्थ गिना हुआ है। संसारव्यवहार और अज्ञान की **जीव**दशा की कक्षा का भोग और ज्ञान के अनुभव की दशा में यज्ञ करने के बाद जो बाकी रहे, उस प्रकार का भोग उन दोनों प्रकार के भोगों में बहुत अंतर है। जीवन में त्याग और भोग दोनों हैं।

त्याग और भोग

त्याग करना और त्याग भोगना इन दोनों के भावार्थ में जमीन आसमान का अंतर है। त्याग भोगने का आनंद जो है, वह त्याग करने के आनंद से कहीं विशेष बढ़कर है। त्याग करने का आनंद वह जीवनविकास की निम्न श्रेणी का मार्ग

है । त्याग भोगने का आनंद यह जीवनविकास की सहज साधना का आनंद है अथवा अधिक योग्यरूप से कहें तो वह सहज अवस्था का आनंद है । **त्याग भोगने के आनंद में सहजता है । त्याग करने के आनंद में सहजता नहीं है । एक है नैसर्गिक स्थिति, जब कि दूसरा है सहजता को प्राप्त करने का साधन ।**

ज्ञानपूर्वक की त्यागभावना

परन्तु हमें जब जीवन को उच्च कक्षा में प्रकट करने के लिए मथना है और अज्ञान की दशा में से ज्ञान की दशा में जाने के कदम उठाने हैं, उस दशा में तो हमें अधिक से अधिक ज्ञानपूर्वक की त्यागभावनावाला ही बना करना चाहिए । यह त्यागभावना संसार और संसार के कर्तव्यों में विकास करने के अत्यधिक मौके हमें मिलते हैं । हमें अपने ध्येय के सम्बन्ध की जवाबदारी का ज्ञानभान प्रकट हो गया हो, तो उस जवाबदारी का ज्ञान जीवन में एकनिष्ठा प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा, यह निश्चित जानना ।

प्रेम अर्थात् शौर्य

श्रीप्रभुकृपा से **इस जीव** ने कायरता को कभी भी जीवन में साथ नहीं दिया है । वह कहीं भी किसी से भगोड़ा नहीं बना है, अनेक वर्षों अर्थात् लगभग तीस वर्ष के मित्र को सच बात कहने में कभी पीछे नहीं हटा हूँ । इससे उसे खराब लगेगा अथवा **इस जीव** को वह छोड़ देगा, ऐसा भय कहीं

किसी कोने में रहा हुआ नहीं है। प्रेम का भाव जितना कठिन है, उतना ही कोमल है। प्रेम की कोमलता को सभी समझें और स्वीकार करे, पर प्रेम की कठिनाई का जब प्रेमभक्ति से स्वीकार हो तभी सच्चा प्रेम प्राप्त होता है। जीवनविकास के लिए जो स्वजन प्रभुकृपा से **इस जीव** के साथ जुड़े हुए हैं, उनके किसी अवगुण को **यह जीव** उत्तेजन दे सके ऐसा नहीं है। हाँ, वह किसी **जीव** के अवगुण को स्वीकार कर ले सही, जैसे साधक अपना दोष स्वीकार करता है, पर वह उसे योग्य तरह से मठारने हेतु के लिए, उस तरह से स्वजन का अवगुण स्वीकार करने का धर्म है, परन्तु उसमें से उसे पार लगाकर योग्य स्थान पर रखने के लिए। **जीवन का धर्म सांप्रदायिकता का नहीं है।** जीवन का वास्तविक धर्म विस्तृत रूप का है। जीवन की साधना का मर्म और अर्थ यह मात्र भाषा के शब्दभंडार से नहीं मिल सकेगा। यह तो ऐसे प्रकार का योग्यरूप से जीवन जीने से ही मिल सकनेवाला है।

जीवननिर्माण में भाषा की मंद शक्ति

शब्द से या इस प्रकार के पत्र के लेखन से आश्वासन देने का तरीका यह जीवनविकास की भावना को सच्ची तरह से प्रेरित करनेवाला नहीं है! इससे तो उलटा जीवन या मनोभाव अधिक लूले-लूले होते हैं। शब्द के भाव में ही मन रमा करता है। **भाषा यह तो जीवन को आकार देने में लूले से लूला साधन है। जीवन को आकार देने का सच्चा**

साधन तो प्रेमभक्तिज्ञानयोगपूर्वक के जीवन की तपस्या है । शब्द, शब्दलालित्य, विचार और भाव में रचेपचे रहनेवाला **जीव** जीवनविकास को सही रूप में साध नहीं सकता है । 'शब्द' मूल अर्थ में तो चेतनावाचक है, परन्तु हम सब **जीव**कक्षा के होने से हमारे बोले हुए शब्द में चेतन के अनुभव का टंकार नहीं है, तो झंकार तो हो ही कहाँ से ? इससे खाली आश्वासन देने में यह **जीव** मानता नहीं है ।

प्रहार का महत्त्व

प्रहार देने में वह अवश्य मानता है । जीवन के आदर्श की जिस **जीव** को तमन्ना लगी हुई है, वह तो उस प्रकार के प्रहार से स्वयं को जाननेरूप के लिए वह टंकार है, झंकार है, ऐसा स्वयं हृदय से उस समय समझ लेता है । प्रहार यह तो निर्माण के लिए हथोड़े का घाव है । प्रहार को योग्य स्थिति में प्रकट करने के लिए पहले तो उसे अत्यधिक लाल अंगारे जैसा तपाया जाता है । कोई जानबूझकर प्रहार नहीं करता होता है । संसारव्यवहार में भी कोई प्रहार करता होता है, तो वह प्रहार के प्रेरकरूप में कोई भाव का आघात प्रत्याघात होता है, तो अज्ञानदशा में जैसे प्रहार के कोई भाव या विचार का आघात प्रत्यघात होता है, तो ज्ञान की दशा में ऐसे प्रकार के पीछे कोई हेतु तो होना चाहिए ही, परन्तु हेतु के ज्ञान को कौन सा **जीव** उस समय जगाता है ?

पत्रों में जीवन की फिलोसफी को व्यक्त करना ऐसे जीवन की भावना भी प्रभुकृपा से फिकी पड़ती अनुभव करता

हूँ। प्रभु की कृपा हो और वह फिर नवपल्लवित होकर सचेत बने तब वैसा भी हो। जीवन में ऊष्मा प्रकट करके उसे जीवित रखना, उसे अधिक चेतनवान बनाना और उसे वापस जीवन के निर्माण में ज्ञानपूर्वक उपयोग में लेना, वैसी जीवनकला का कर्म तो कोई महान विरला विरल आत्मा का है। इसलिए मर्द बनने का बिरद रखना हो तो ही संग-संघ काम के हैं, बाकी तो उन दोनों को दूर से राम राम करना वही योग्य है।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. १३-७-१९५३

क्यों जली ? किससे जली ? दिल की आकुलता इस तरह ही व्यक्त हुई न ?

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. १५-७-१९५३

मेरे हाथों कभी अन्याय न हो !

किसी को भी जानेअनजाने अन्याय न हो बैठे ऐसी हृदय की भावना प्रभुकृपा से व्याप्त है। अभी बहुत समय से जैसे तैसे पत्र पढ़ने को लूँ या प्रभुकृपा से सार ख्याल में आ जाय। उस अनुसार उत्तर भी लिख दूँ। जाग्रत, चौकीदार भाई, बाहर हो तो तो प्रभुकृपा से चेतायगा। किसी के पत्र में, दूसरे किसी ने कुछ लिखा हो, तो उसे लिखने का ही रह जाय। भाई सूचित करे और फिर लिख दूँ।

उत्कट प्रेमभक्तिज्ञानयोग की धधकती तमन्ना प्रकट हुई हो वैसे मस्त भाव से ज्ञानपूर्वक तुम आओ तो जगत की निंदा

से डरकर तुम्हें संग्रह न करूँ ऐसा कायर **जीव यह** नहीं है, ऐसा प्रभुकृपा से तो लगता है, परन्तु परिस्थिति से पीठ फेरने का हो वह तो पोष सके ही कैसे ? तथापि तुम्हें अन्याय यदि किया हो तो उसकी क्षमा करना। **इस जीव** का कोई ठौराठिकाना नहीं है और कोई भरोसा नहीं है। आप सभी प्रेमभक्तिभाव से उसे निभाओ तो वह निभेगा और नभेगा। इसलिए आप सभी स्वजन उसे कृपा करके योग्य भाव से पालन करने, सँभालने, स्मरण करने का हृदय से किया करना।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. १८-७-१९५३

हम सच्चे रूप में बालक नहीं

'बालक ऐसा हो पर माँ ऐसी हो सके सही ?' अनेकबार हम क्या लिखते हैं उसका हमें सच्चा भान नहीं होता है। हम सच्ची तरह से बालक जैसे कहाँ हुआ करते हैं ? बालक जैसी निर्दोषता, सरलता, सहजता आदि आदि हमारे में कहाँ होती है ? बालक तो चाहे कहाँ हगना और मूतना करे, वैसे हम में से बड़ा करने बैठे तो कोई उसे सहन कर लेगा सही क्या ?

योग्य भूमिका की जरूरत

फिर, सही में सही और उत्तम में उत्तम शिल्पकार हो तब भी उसने जैसे निर्माण करना चाह हो वैसे, उत्तम तरह से, किसी भी पत्थर को वह गढ़ नहीं सकता। उसे तो जो सर्जन करना होता है वह तो माँग लेती है अमुक प्रकार की शर्तोंवाला

ही पत्थर । तभी उसमें से सर्जन, उसके अंतर की उसके सम्बन्ध की प्रकट हुई भावना की समझ अनुसार हो सकता है ।

प्रभुकृपा से हमारी आशा तो अमर है । हमें तो संपूर्ण ब्रह्मांड के पुनर्जीवन में अमर आशा है, कारण कि उसके पीछे उसके अंतर में प्रभु का भाव ही काम कर रहा है । द्वन्द्व की रचना का हेतु ही वह है, प्रत्येक जो कुछ जीवन में होता है, उसके पीछे जीवनविकास का ही हेतु है, परन्तु हम मूर्ख और अज्ञानी **जीव** उस उस पल वैसा ज्ञानभान नहीं रख सकते, वही बड़ा दुर्गण है ।

गरज प्रकट हुए बिना सब बेकार

सद्‌गुरु न करना वही उत्तम है । जीवनविकास की उत्कट तमन्ना प्रकट हुए बिना, ऐसी सचमुच की समझपूर्वक की उत्कट आतुरतायुक्त अंतर की गरज प्रकट हुए बिना, उत्तम वस्तु प्राप्त हो फिर भी उसका हेतु सिद्ध नहीं हो सकता । मेरे इतने जीवनकाल के दौरान का वैसा अनुभव है । इससे दूसरी तरह का अनुभव नहीं ही प्रकट होगा ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है । समय आने पर जो असंभव लगता हो, वह क्षणमात्र में संभव हो जाता है । जैसे हमारे देश से राजाओं का राजपन और उनका वर्चस्व गया वैसे । इससे ऐसी धीरज रखकर प्रभुकृपा से जीया करते हैं । इससे सद्‌गुरुरूपी साधन का जीवन में प्रेमभक्तिज्ञानभाव से जीवन के निर्माण हेतु के लिए, बारबार उपयोग करने की हृदय की दानत प्रकट करने की

कला, हमें दैनिक जीवनव्यवहारवर्तन में उपयोग करना है । सद्‌गुरु की भावना जीवन में सचमुच उपयोग में आती है कि क्यों उसका भी हृदय में हृदय से सच्चे प्रार्थनाभाव से सच्चे प्रयोग करके जानना चाहिए तभी उसके बारे में पता चलेगा न ? और तभी आत्मविश्वास प्रकट हो सके । हम तो प्रभुकृपा से कहते हैं कि हम काम में आ सकें वैसे हैं, पर उसका भरोसा सामनेवाला **जीव** कर ले तब न ? बाकी तो हमारी तो वह खाली खाली बाँग भी हो ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. २०-७-१९५३

सद्‌गुरु नहीं ऊबता

'एक सीखनेवाला ऊबेगा, पर एक सिखलानेवाला ऊबेगा तो कैसे चलेगा ? इसलिए कृपा करना ।' ऐसा तुमने लिखा है । यहाँ तो ऊब जाने का कुछ कारण नहीं है, परन्तु जीवनविकास की साधना की भावना को किस तरह से योग्यरूप में फलित करे सकें, वह वह सब स्पष्ट बतलाने के लिए हमें जो भी सब लिखना पड़ता है । और इस तरह से जिस जिसमें जैसा जैसा होता है, वह वह सब तथा जीवनविकास की भावना को फलित करने के लिए क्या क्या करना चाहिए और क्या क्या होना चाहिए, वह सब हमें घसीटना पड़ता है । वैसा सब घसीटने जाते, आप लोग सब 'ऐसा मानते हों । वह भी एक आश्चर्य की बात है । मात्र लिखा करने से कुछ मिलता नहीं है । इस

जीवनविकास के मार्ग में सही बड़ी लगन, जिस **जीव** को साधना करनी है, उसके दिल में संपूर्ण प्रकट हुई होनी चाहिए। जिस **जीव** को ऐसी अपने जीवनविकास के सम्बन्ध में बिलकुल बड़ी लगन नहीं है, वैसे **जीव** का **इस** मार्ग में काम नहीं है, पर बड़ी लगन विकसित करने का और उस अनुसार व्यवहार करने का दिल प्रकट हुआ हो, तो वह भी साधन ही गिना जायेगा। इसमें एक हाथ से ताली नहीं बज सकती है।

भावना सत्कार करनेवाला हृदय चाहिए

हाँ, पड़ भी सकती है। यदि साधना में प्रचंड उत्कट ज्वालामुखी के समान तमन्ना प्रकट हुई हो, तो उसे समर्थ का सहारा मिल ही जाता है। प्राणवान प्रयत्न के बिना कुछ नहीं हो सकता है। फिर, पत्र में लिख लिखकर लिखना भी क्या ? हृदय की प्रकट हुई भावना सत्कार करनेवाला हृदय भी इतना ही उत्सुक हो, तभी वैसी भावना आकार ले सकती होती है। मात्र पत्र की समझ से जीवन कभी गढ़ा नहीं जा सकता है। यह तो जीवनप्रारंभ करने के मरजिया निर्धारण से और इस प्रकार के जीवन जीने के आधार से गढ़ना संभव होता है।

आध्यात्मिक जीवन की प्रतिष्ठा

एकनिष्ठा तो प्रकट होती है, जीवन की जवाबदारी के प्रामाणिक, ज्ञानपूर्वक के योग्य आचरण में से। संसार, व्यवहार, वर्तन, संबंध आदि आदि में जीवन के ध्येय सम्बन्ध की हृदय की सच्ची नेक वृत्ति जिसमें और उसमें प्रत्यक्ष प्रकट हुई वैसे वैसे वर्तन में जीवित हुआ करी हुई चाहिए। इसके बिना हमारे

बारे में सबको इतबार किस तरह से हो सकता है ? हमें अपनी प्रतिष्ठा के खातिर भले न जीना हो, पर जीवन की प्रतिष्ठा के खातिर जीना हो, तब भी हमारे जीवनमार्ग की वृत्ति हम में प्रकट हुई जो भी कोई अनुभव करे, यानी कि जीवनविकास की भावना से अलग, नकारात्मक ढंग से मुड़ते हुए हमें कोई भी न अनुभव कर सके, तभी हमारे बारे में जो भी सबको योग्यरूप लगा करे, नहीं तो नाहक के मजाक के पात्र ही ठहरेंगे । अपनी प्रतिष्ठा जाय उसमें आपत्ति नहीं है, परन्तु जीवनविकास के ध्येय की प्रतिष्ठा को हम वैसे वर्तनव्यवहार से विरुद्ध ठराने का हो, तो फिर जगत को हमारे लिए का समूल इतबार ही उठ जायेगा न ? और वह तो मानो कि यह तो सभी बिलकुल अंधेर ही अंधेर है, तो जगत का वैसा मानना गलत है, ऐसा हम किस तरह से कह सकते हैं ? हमारे जीवनविकास के ध्येय सम्बन्धी हृदय की प्रमाणिकता, सच्ची दानत, उसके सम्बन्ध की पक्की दृढ़ता इन सबका तो, हमारे दैनिक व्यवहारवर्तन में सबको पूरा अनुभव हो चुकना चाहिए, पर यदि उसकी झंकार बोदे रुपये के सिक्के जैसी हो, तो वह नहीं चल सके, और हम भी वैसे ही ठहरेंगे । इसलिए जीवन में ध्येय की प्राणप्रतिष्ठा प्रकट करनी है, वह जानना । तभी साथ, संबंध सब काम का है । हमारे लिए तो उसकी कृपा से जो भी सब उपयोग के लिए है । हमें तो तुम्हारा उपयोग भी तुम्हारे जीवनविकास के लिए हो ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　हरिः ॐ　　　　　ता. २३-७-१९५३

जीवन आनंद के लिए है, रोनेधोने के लिए नहीं। जीवन में जीवन को समझकर जीना है। जीवन नष्ट करने के लिए नहीं है। **जीवन तो प्रभु में मिटा देने और समा देने के लिए जीना है।**

प्रत्येक **जीव** में चेतन संदर्भ की संभावना रही हुई है। मात्र चेतन संदर्भ की अभिमुखता उसके हृदय में प्रकट हुई नहीं होती है, वही सबसे बड़ी बाधा है।

• • •

कुंभकोणम्　　　　　　　हरिः ॐ　　　　　ता. २७-७-१९५३

कर्म भावना के लिए ही है

हम लोगों को भावना के यथायोग्य स्वरूप की जानकारी नहीं है, और समझ भी नहीं। भावना को कर्म में जीवित करने का ज्ञानभक्तिपूर्वक का हृदय में हृदय से हृदय का अभ्यास यदि हुआ करता हो, तो तो उस कर्म का महत्त्व ही कोई और ही प्रकार का प्रकट हुआ करता है। उसमें यदि जीवनविकास के पूरे जीवित हेतु से उस समर्पण का ज्ञान, उसमें फिर प्राणवान होकर जुड़ता हो, तो वैसे कर्म में एक ऐसे प्रकार की भावनाशक्ति का ओघ प्रकट होता है कि, जिससे जीवन की पूरी कायापलट ही हो जाती है। भावना बिना का हुआ सब कुछ साधना के विकास के लिए मिथ्या है। भाव मुख्य है। हरिस्मरण की भावना का संस्कार यह कोई जैसी तैसी हकीकत नहीं है।

प्रत्येक होते रहते व्यवहार, वर्तन, संबंध, संपर्क, संसार के सकल कर्म आदि आदि सभी में यदि जीवन के विकास का प्राणवान स्मरण रखा करने का अभ्यास करने का दिल से सूझा ही करे, उस उस पल में हरिस्मरण की प्रेमभक्ति यदि प्रकट हुआ करती हो, वे वे कर्म और उसका हेतु प्रकट हुआ करता हो, वह वह सब यदि प्रभुप्रीत्यर्थ हुआ करता हो, और वापस वह वह सब यज्ञ की भावना से समर्पण हुआ करता हो, तो वैसा कर्म जीवन का उठाव कैसे कर सकता है, यह तो एक वैसे क्षेत्र का अनुभवी समझ सके। बाकी के **जीवों** को उसकी कल्पना होनी भी संभव नहीं है ।

ज्ञानी और अज्ञानी का कर्म

एक कर्म अज्ञानी, संसारी, सामान्य **जीव** का हो और वैसा ही कर्म उस जीवनविकास की ऊपर कहे अनुसार ज्ञानभक्तियोगपूर्वक की हकीकतवाला हो, तो उन दोनों कर्मो के बाह्य आकार भले एकसमान हों, तथापि दोनों के मूल्यांकन और परिणाम में अतिशय अंतर होता है, यह बात निश्चित है । प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक के सचमुच के समर्पणयज्ञ से सम्मानित सकल कर्म, वे मात्र स्थूल प्रकार के कर्म नहीं होते, वे तो प्रकट करते हैं आंतरज्ञानदीप की ज्वालाएँ । इसलिए ऐसे अभ्यास से तो भावना का ओघ प्रकट होना चाहिए, पर पहले तो हम अभ्यास ही कहाँ करते होते हैं ? इसलिए कृपा करके अभ्यास का एक घोंटने लगें तो उत्तम । दूसरी सब सयानेपन

की बातें दूर रखो, हरिस्मरण का प्रचंड संस्कार जीवन में कैसी छाप पैदा करता है, उसे अनुभव से **जीव** समझे तो समझे। इसलिए जीवन को योग्य ठहराने, योग्यरूप से विकसित करने, कुछ सच्ची जागृतिवाले प्रभुकृपा से बनें तभी दिल में आराम मिलेगा। समर्पणयज्ञ की ज्ञानपूर्वक की समझ और उस प्रकार की भक्ति से आचरित जो कर्म है, वही कर्म जीवन को तारनेवाले होते हैं। ऐसे कर्म से शक्ति और ज्ञान का उद्‌भव होता है। बाकी के कर्म तो जीवन को कुचलनेवाले होते हैं, **यज्ञ की भावना से हुए कर्म में जीवन का कायापलट करने की शक्ति प्रकट होती है। समर्पणयज्ञ की प्राणवान भावना जिस कर्म के हृदय में सांगोपांग पिरोयी होती है, वैसे कर्म वे ही सच्चे कर्म हैं। बाकी को तो जीवनविकास के द्योतक या चेतनात्मक कर्म कह ही नहीं सकते ।**

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. २८-७-१९५३

सौंपा हुआ काम प्रेम से करो

काम आनंद से करने में लाभ है। बलपूर्वक करने से तो त्रास, ऊब, संताप, क्लेश, आकुलता, उलझन ऐसा सब होता रहता है। इसलिए जो करना वह प्रेम से करना। मेरा काम न हो सके ऐसा हो, तो स्पष्ट ना लिखें। उसकी बाधा नहीं है, परन्तु काम सौंपने के बाद उसमें यदि टालमुटाई हो, वह अव्यवस्थितरूप में हो तो फिर मेरे ऐसे सौंपे हुए काम का

कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है, और इससे मुझे तो बहुत उलझन होती है। कर्म सौंपा गया है विकास के लिए। वैसे अर्थात् प्राप्त कर्म में जब किसी की निरी अज्ञानयुक्त कायरता प्रकट होती है, तब हम से कैसे बैठा रहा जा सकता है? उस समय बोला करें तो खराब लगते हैं। इसलिए तुम्हें तो जैसा हो वैसा स्पष्ट कहना और लिखना, हिचकिचाते हुए नहीं, एक ही बार में फैसला हो जाये वैसा करना है। कहने की भी कला होती है। हृदय के खुल्लेपन की वैसी कला हो तभी वह शोभित होती है। और साथ ही साथ संपूर्ण सद्भाव और नम्रता प्रकट हुई होनी चाहिए।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ३१-७-१९५३

दृढ़ संकल्पबल विकसित करो

दृढ़ संकल्पबल कितना काम करता है और जीवन को वह कितना और कैसे निर्माण करता है, वह तो ऐसा दृढ़ संकल्प जिस **जीव** ने विकसित किया है वह जानता है। दृढ़ संकल्पबल की अटलता कोई और प्रकार की होती है। उसका निश्चयपन अटल रहता है। हम सब **जीव** तो अज्ञान में भटके रहा करते हैं। फिर, अज्ञान की वृत्तियाँ जीवन में प्रवेश करके जीवन की फुलवारी को तहसनहस कर देती हैं, सब अस्तव्यस्त कर देती हैं, उस समय पर यदि संकल्प का दृढ़ बल जीवन में प्रकट हुआ हो, तो मानवी को वह उसमें से बचा लेता है।

जिसने जीवन के उच्च मार्ग में प्रयाण करने का सोचा है, ऐसे **जीव** को ऐसा दृढ़ संकल्प करना वह जरूरी है, इतना ही नहीं, पर उसके निश्चयपन को अधिक से अधिक जीवित किया करके जीवनविकास की भावना में योग्य उपयोगिता में उसे प्रवर्तन करना है । दृढ़ संकल्प की शक्ति जीवन को चाहे परिणाम में प्रकट कर सकती है ।

सद्‌भाव तो बढ़ाया करना है । नहीं तो किसी के भी संदर्भ में यदि जीवित सद्‌भाव न रह सका तो हम से योग्य सद्‌भावयुक्त बर्ताव नहीं हो सकेगा । सद्‌भाव प्रकट हुए बिना जीवनविकास की साधना का जीवनसंग्राम खेलना वह लगभग असंभव है । यह तो महापराक्रमी योद्धा की शूरवीरता को भी चुनौती दे वैसा है । इसलिए हमें तो जीवन में अडिगता बताने की जरूरत है, और उससे ही हमें बल मिला करता है । तुम्हारे में नये प्राण प्रकट हो और उसमें तुम प्राणवान रहो ऐसी प्रभु से प्रार्थना है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ३-८-१९५३

कर्म और ज्ञान

गीताजी का कोई अध्ययन करके सोचे तो उसे स्पष्ट लगेगा कि प्रत्येक को अपने हिस्से में आया हुआ जो कर्म है, उसे प्रभुप्रीत्यर्थ जीवनविकास के हेतु के लिए उत्तम से उत्तम ढंग से करने से और वह भी शांति-समता से, अनासक्ति से

और ह्रदय के आनंद-उमंग से करने से, वैसे वैसे कर्म से ज्ञान का अनुभव प्रकट होता रहता है । **कर्म के बिना ज्ञान नहीं है और ज्ञान के अनुभव बिना कर्म से मुक्ति भी नहीं है ।** इसलिए जो करने को आये उसे प्रेम से स्वीकार कर लेना होता है । वह प्रेम से करना हो सके, तो **जीव** के उस प्रकार के वर्तनव्यवहार से साधक में साधना का भाव जीवित बनता है । विचारहीन कर्म करने से जीवन कभी गढ़ता नहीं है, बल्कि जीवन का ह्रास होता रहता है, पर वैसा ज्ञानभान किस **जीव** को प्रकट होता है ? कर्म तो जितना प्रेमभक्ति से हुआ करे, और वह कर्म करते समय में यदि उसमें हेतु के ज्ञान का ख्याल प्राणवान रहा करे, तो वैसा कर्म तो अनुभव के ज्ञान की भूमिका है। ऐसी प्रतिष्ठा की भूमिका आधार में प्रकट हुए बिना साधना में प्राणचेतन कभी भी प्रकट नहीं हो सकता ।

गरज की अनिवार्यता

पर सही हकीकत ही **गरज** की है । जिसे गरज जगती है, गरज लगती है, वह तो बैठे नहीं रह सकता । वह तो मथा ही करेगा । गरज जगाने का कर्म कोई करके देनेवाला नहीं है । उसे तो **जीव** को अपने में यदि जागा होता है, तो ही उसका थोड़ा बहुत चला करता है। बाकी, **जीव** प्रकार के भाव से जो कर्म हुआ करे, इससे कुछ मिलनेवाला नहीं है । ह्रदय की सच्ची गरज लगे बिना किसी से भी लगे नहीं रहा जा सकता है। जिसमें और उसमें गरज मुख्य बात है। संसारव्यवहार

में भी जब पक्की, पूरी गरज जिसके विषय में लगी होती है, उसके साथ कितना भी विरोध होता है, उसे (विरोध को) भी तब छोड़ सकते हैं और जिसके लिए गरज लगी होती है, हेतु सिद्ध करने के लिए उसे लगे रहना होता है । ऐसों का कुछ भी इधरउधर देखने का तब होता नहीं है और शायद यदि देखना हो पाया, तो उसे समूल छोड़ देने में संसारी लोक मानते होते हैं । उलटा उस समय पर उसे राजी रखने में ही संसारी लोग तो मानते होते हैं ।

प्रेमभाव आदि की भी अनिवार्य जरूरत

संसारव्यवहार के कर्म में केवल गरज से चल सकता है । उस प्रकार की गरज में प्रेम तो बिलकुल होता नहीं है । उसमें हृदय भी नहीं होता है । संसारव्यवहार में कर्म में प्रकट हुई गरज में तो प्रचंड दंभ, दाँवपेच आदि आदि की भी जरूरत होती है । जब जीवन के ऊर्ध्व मार्ग के सम्बन्ध के आरोहण में तो गरज भी पक्की चाहिए और इसके साथ हृदय का प्रेमभाव प्रकट हुआ होना चाहिए । फिर, उसमें सचमुच की नेकदिली प्रकट होनी चाहिए । जिसके लिए गरज जागी होती है, वह फलीभूत करने के लिए मर मिटने की आत्यंतिक तैयारी भी होनी चाहिए ।

कुछ किसी पर तिरस्कार करने से उसमें से निकल नहीं सकते, पर उलटा दलदल में अधिक धँस जाते हैं । जीवनविकास के मार्ग में तिरस्कार, घृणा, बैर, निंदा, अवमानना, अवगणना आदि वृत्ति को स्थान नहीं है । अनेकों को ऐसा कहते सुना

है कि 'पाप की नफरत करते सीखो, पापी की नहीं ।' परन्तु पाप और पापी उन दोनों को एकदूसरे से अलग-अलग समझ कर वैसा गिन सकने की और काम में आ सके ऐसी विवेकशक्ति सामान्य **जीव** में तो होती नहीं है । इसलिए पाप की नफरत करने के साथ हमारा मन पापी को भी उसमें समा देता है । इसलिए हमें सभी के संदर्भ में, अच्छा या खराब के संदर्भ में, एकमात्र जीवित सद्भाव ही रखा करना है । यदि हमारे जीवन में जीवनविकास की भावना का महत्त्व प्रकट हुआ होगा, तो तो निकृष्ट के संदर्भ में हम मुड़ते मुड़ते जाग जाकर बच सकते हैं, यह निश्चित जानना ।

प्रेमभक्ति से सराबोर हृदय चाहिए

सद्गुरु के वचन का पालन करते करते मृत्यु आये, तो उसे भी प्रेम से स्वीकार कर सकने की तैयारी साधक में प्रकट हुई होनी चाहिए । इस जीव को सद्गुरु की कृपा से ऐसी परीक्षा में उतरना पड़ा है । ऐसी कठिन परीक्षा से पार उतरना, वह कोई ऐसे का ऐसे नहीं हो सकता है । हृदय, हृदय के साथ प्रेमभक्ति से सराबोर हो गया हुआ हो, जीवनविकास के मार्ग के लिए की भावना को आकार देने की जीवन की ज्वालामुखी के समान धधकती चटपटीपूर्वक ज्ञानयुक्त गरज लगी हुई हो, तो ही वैसा हो सकता है ।

सद्गुरु के हृदय का भाव यह एक ऐसा बल है कि जिसका यदि जीवन में अनुभव होता है, तो फिर वह कभी अदृश्य हो नहीं सकता है । इसके आधार पर जीवन में बहुत

कर सकते हैं, श्रीभगवान पर जो भी सब रख सकने, छोड़ देने की प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त शरणागति जीवन में जब प्रकट होती है, तभी उसके आधार की सच्ची समझ हम में प्रकट होती है । वहाँ तक तो जो भी सब मात्र बोलने में रहता है । जीवन के संदर्भ का और जीवनविकास की भावना विकसित करने के लिए साधन के संदर्भ का, योग्य गहरा प्रेम प्रकट हुए बिना कुछ नहीं हो सकता है । ऐसा हृदय का प्रेमभाव प्रकट होते होते उसमें से जीवन में सहजता और मौलिकता अपने आप प्रकट होती है । कुछ किसी के लिए यदि सचमुच का स्वार्थ लगा होता है, तो उसके पीछे के पीछे हम घूमा करते हैं, ऐसा संसार का नित्य का अनुभव है । ऐसा स्वार्थ हमें अपने काम के लिए अभी कहाँ प्रकट हुआ है ? मुझे तो समझ में नहीं आता है कि आगे के विकट समय में किस तरह से साथ रह सकते हैं ! इसलिए कृपा करके जागकर समझने की बहुत बहुत जरूरत है !

वहाँ से श्री .... ने हमें पत्र लिखा था, 'जहाँ जाना नहीं चाहिए, वहाँ भी जाने का आकर्षण हुआ करता है और वैसा हो जाता है तो क्या करना ?' उसका तो श्री .... को उत्तर लिखा था, 'सद्‌भाव, आदर, मान उस व्यक्ति के लिए हृदय में पैदा हो तो कुछ हासिल हो ।' **जो *जीव* बालक के जीवन को कुचल दे, यह हमारे मन राक्षसी प्रकृति का है ।**

• • •

शूर संग्राम को देखकर भागे नहीं

जीवनविकास के हेतु से जो जो स्वजन प्रभुकृपा से प्राप्त हुए हैं, उन्हें जब जब जीवन से भागते कायर बने हुए देखता हूँ, तब मेरे दिल में एक प्रकार का संताप, त्रास की भयंकर कँपकँपी छूटती है। दिल में होता है 'ये सभी **जीव** चेतन को अनुभव करने के लिए जीवन का निर्माण करना चाहते हैं, पर उनको जीवनसंग्राम खेलदिली से खेलना तो पसन्द नहीं ! वे तो हर कदम पर जहाँ तहाँ पीछे हटना करते रहते हैं। ऐसे उस चेतन को अनुभव करने की बात क्यों करते होंगे ?' **सच्चे साधक *जीव* को तो जीवनसंग्राम की कठिनाई बहुत पसंद होनी चाहिए। जीवन में संग्राम को प्रकट हुआ देखकर, उसके शहूर को कोई मर्यादा नहीं रहनी चाहिए।**

साधक के जीवन का खमीर उस समय किसी अनोखे प्रकार का ज्वालामुखी की तरह प्रकट हो उठता है। उसके रोम-रोम में पराक्रम झलकने लगता है। उसके नयन में कोई नया प्रकाश प्रकट होता है। उसके हृदय में साहस, हिंमत, बल प्रकट हुए अनुभव होते हैं। उस समय उसकी नस-नस में जो शौर्य प्रकट होता है, उससे वह नीलापीला हो जाता है। वह मुश्किलों को महत्त्व नहीं देता। उसके जीवनध्येय की महत्त्वाकांक्षा की खुमारी उसके हृदय में जो प्रकट हुई होती है, वह खुमारी, उसका नशा-उसके बल द्वारा कैसे भी भयंकर

खूंखार संग्राम को भी जीतकर उसके उस पार पहुँच जाने को वह सदा ही उद्यत बना करता होता है । महत्त्वाकांक्षा की खुमारी कोई और होती है । जिसमें ऐसी खुमारी न प्रकट हुई हो, उसे समझ लेना चाहिए कि उसमें अभी सच्ची महत्त्वाकांक्षा जन्मी नहीं है ।

अकेलापन नहीं ही

जीवनविकास के लिए मिले हुए स्वजन जब अकेलेपन की बात करते हैं, तब आँख में कण जैसे चुभता हो और कैसा दर्द होता है, वैसे उन स्वजन की वह हकीकत मुझे चुभती है । क्या वे जीवनविकास के लिए मिले हुए हैं, यह हकीकत ही झूठी है ? जिस **जीव** को जीवन की ऊर्ध्वगति करनी है, जिसे वैसे जीवन की गहरी महत्त्वाकांक्षा है, उसे फिर अकेलापन सालेगा किस तरह से वही मुझे तो समझ में नहीं आ सकता है । जिसके दिल में भावना है, जिसे किसी के बारे में हृदय में उत्कट प्रेमभाव है, उसे फिर अकेलापन कैसा ! जीवन का जो निर्माण करना चाहता है, उसे तो जीवन को पुनर्रचना के ही ख्याल जीवन का भावात्मकरूप से रचनात्मक करने के स्वप्न आते हैं । जो जीवन को इस पार से उस पार ले जाना चाहता है, उसे फिर अकेलापन कैसा ?

जीवन के लिए मर मिटना

जब जब स्वजनों को अकेलापन, निराशा, ग्लानि, शोक, दिलगिरी, संताप–ऐसी ऐसी वृत्ति में पड़कर खाली खाली

शोरगुल करते सुनता हूँ, तब दिल में होता है, 'ये सब खाली खाली जीवनविकास का कुछ भी जोश प्रकट किये बिना के जो भी सब मिले हुए हैं, उनको जीवन की कुछ पड़ी हुई नहीं है ।' जीवन के लिए मर मिटने की तमन्ना अभी जहाँ तक हृदय में पूरी प्रकट हुई नहीं है, वहाँ तक जीवनविकास की बातें यह तो हवा में नाखूनों से नोचना जैसा है ।

प्रेमभाव तो परख आयेगा ही

जीवन में विकास के लिए मिले हुए स्वजनों को, उनके जीवन के निर्माता और जीवन को प्रेरित करनेवाले के लिए दिल में यदि सच्चा, सचमुच का प्रेमभाव प्रकट हुआ हो, तो तो वह भी परख में आये बिना कैसे रह सकता है ? हृदय के प्रेमभाव का आकर्षण कोई और होता है । **प्रेम का प्रत्यक्ष लक्षण आकर्षण है** । फिर, हृदय के प्रकट हुए प्रेमभाव का लक्षण ही आपस-आपस में, एकरस हो जाना होता है । ऐसा हृदय का प्रकट हुआ प्रेमभाव तो दोष को घोलकर अमृत के स्वाद से पी जाता होता है । दोष पी जाकर उसे सँवारने के लिए उसमें अमृत प्रकट करने के लिए उसे उलाहना भी देता है सही ।

यह तो बहुत कम है

मेरे स्वप्नों को जीवनविकास की भावना के गज से समझने का होते अभी तुम्हें अनेक तरह से अधूरा देखकर दिल में आग प्रकट हुई है । उस आग में तड़फड़ा रहा हूँ । यह सब

कलम के धक्के से नहीं लिखा है । सबको प्रार्थनाभाव से आवाज देता हूँ, 'तुम्हारे पाले पड़े हुए को मदद करो !' स्वजन को परस्पर के दोष देखते देखता हूँ, तब उनके संदर्भ का हृदय का प्रेम प्रभुकृपा से झांककर कहता होता है, 'इतने और ऐसे तुम्हारे सभी के **जीव**रूप से जीवन के हिमालय के गौरीशंकर शिखर पर कैसे चढ़ सकेंगे ! जीवन में तेजस्वी ओजस किस तरह से प्रकट हो सकेगा !' हृदय के भाव की उदात्तता, विशालता, उदारता, महानता, यह सब भले प्रयत्न होते होते प्रकट हुआ करे, पर कोई महान कर्म हाथ में लेने से पहले उसके लिए जो जोश जीवन में प्रकट हुआ होना चाहिए, वह जोश जब स्वजनों के दिल में अनुभव नहीं होता, तब अब मौन रहकर बैठे नहीं रहा जा सकता है । और इससे जब बोलता हूँ, तब कोई कोई स्वजन '**यह जीव** अब ऊब गया है,' ऐसा भी बोल देता है, यह भी बलिहारी है । अदम्य जोश आये बिना **इस** मार्ग पर चल सकना कभी संभव नहीं है । भले सब छोड़ दें उसकी मुझे परवाह नहीं है, पर सभी सच हकीकत समझ ले, यह तो अत्यधिक जरूरी है ।

जलते हृदय के उद्गारों का हेतु

तो कोई कहेगा कि 'आपने तब उनकी ऐसी शक्ति देखे बिना ही किसलिए उनका स्वीकार किया ? मैंने तो **इस** मार्ग की गंभीरता की हकीकत पहले से जिस तिस को बतला दी है । किसी को भी अविचारित कर्म न करने की सलाह दी हुई

है। फिर हमें तो अंधा अविचारित कर्म करने भी कहाँ आता है ? हृदय में गहरा उत्कट भाव पैदा हुआ होता है तभी जीवन को सचमुच रंग चढ़ता होता है। ऐसे रंग की मस्ती भी कोई अनोखी होती है। ऐसे जीवन की धुन कोई न्यारी न्यारी ही होती है। जीवन का विकास करने निकले स्वजन के जीवन में ऐसी धुन भी मैं नहीं देख पाता हूँ। **यह कुछ मेरे निराशा के उद्‌गार नही हैं, परन्तु स्वजन के जीवन की जो जो सच हकीकत है, उसका उनको सच्चा ज्ञान पैदा करने के लिए जलते हृदय से लिखे हुए ये उद्‌गार हैं। प्रभुकृपा से यदि स्वजन चेते तो उनको चेताने के लिए उनके चरणकमल में इन उद्‌गारों की भाव अंजलि रखी हुई है।**

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. ८-८-१९५३

पुस्तक के पैसे के बारे में तुम्हें वहाँ विचार प्रकट हुआ तो उसी के बारे में तुम्हें उस विषय में लिखा हुआ है। विचारों की कैसी भेंट हुआ करती है !

अच्छा अच्छा ही नहीं लिखूँगा

तुम्हें जो पत्र लिखूँ उदाहरण के लिए ता. ५-८-१९५३ के दिन जो पत्र लिखा है, वह कठोर लगे ऐसा है, पर यदि जीवनविकास के विज्ञानशास्त्र की दृष्टि से उसका भावार्थ समझें तो वह पत्र तो बहुत सुन्दर है। यदि जीवन की सच्ची महत्त्वाकांक्षा प्रकट हुई हो, तो उसका प्रत्यक्ष लक्षण तो खुमारी

है । यदि अमुक अमुक हो तो उस उस विषयक दूसरा क्या क्या हो वह हमारी समझ में उतरे इसके लिए मैं तो यह सब लिख रहा हुआ हूँ । किसी को हताश करने के लिए वह नहीं है । मुझ से मात्र अकेला अच्छा ही लगाने के लिए कुछ नहीं लिखा जाता है । भावना को तेजस्वितरूप में पैदा करने के लिए कभी वैसा लिखना होता है और उसी अनुसार तुम्हें लिखा भी है, परन्तु यदि साधक **जीव** में अपने में कोई प्राण पैदा न हुए हों, तो उसमें से सच्चा उठाव नहीं हो पाता ऐसा अनुभव किया है । जीवन को सामने रखकर उसे योग्य उठाव देने के लिए, जो भी आचरण किया करना वह श्रेयस्कर है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ७-८-१९५३

महत्त्वाकांक्षा की जरूरत

प्रभुकृपा से जीवन के सद्‌गुरु ने लक्षणों से जो भी पहचानने का कहा था और उसी अनुसार **इस जीव** ने स्वयं को भी मापा किया है । प्रभुकृपा से उस **जीव** की जब साधना हुआ करती थी, उस समय भी वह जाँचता था कि, **जीव** में जीवन को बदलने के लिए जो प्रचंड महत्त्वाकांक्षा प्रकट होनी चाहिए वैसी महत्त्वाकांक्षा के भी प्रत्यक्ष लक्षण - एक तो उसकी खुमारी, एक प्रकार के ध्येय की दिशा संदर्भ की धुन और उसकी मस्ती का नशा, उसके संदर्भ का प्रकट हुआ एकरागपन, उसके संदर्भ की तन्मयता, एकतानता - ये सब

यदि हमारे जीवन में प्रकट नहीं हुए हो, तो तो संसार, संसार का वातावरण, हमारा अपना मन, अपने ही प्राण, अपना अहम् हमारे ध्येय के आदर्शों को कहीं उथल-पुथल कर देंगे ।

यह तो अलग ही तैर आयेगा

जीवन में यदि ऊर्ध्वविकास करने की उत्कट आतुरता जिसे है, उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा को सुलगती और झिलमिलाती रखा करनी रहेगी । जिस **जीव** को अपने ध्येय के आदर्श की पड़ी है, उसका पूरा प्रभाव कोई अलग प्रकार से तैर आता अनुभव होता है । उसकी वाणी, व्यवहार, संपर्क, संबंध, आचरण में उसके ध्येय के आदर्श को वर्तन में उतारने की झलक आये बिना नहीं रह सकती है ।

मुझे कोई बुलाता है !

हमें मानो कोई आकर्षित करता होता हो, हमें कोई मानो मार्गदर्शन दे रहा हो, ऐसा लगना चाहिए । हमें मानो कोई दूर-दूर क्षितिज के उस पार से आवाज दे दे करके पुकार कर बुला रहा हो और उसकी आवाज को हम नकार न सकते हों, ऐसे अनुभव जिंदगी के विकास की भावनावाले साधक को हुए बिना नहीं रह सकते हैं ।

जीवनआदर्श का आकर्षण और प्रकृति के बीच का संग्राम

उसके ध्येय के आदर्श का आकर्षण एक तरफ होता रहता है, उसके जादूभरा स्पर्श दिल में और प्रकार की ताजगी,

नूतन थिरकन पैदा करती है और उसके भाव के कारण नूतन जीवन प्रेरित हुआ करता होता है। उसके साथ साथ अपनी प्रकृति अनेक प्रकार के सूक्ष्म खेल उसे पीछे धकेलने के लिए खेला करती है।

जीवनविकास का मार्ग जितना कठोर और तपश्चर्याभरा होता है, वैसा दूसरा कोई नहीं होता, परन्तु उसके साथ साथ उसका खिंचाव भी दिल को हिला देनेवाला, मुग्ध और स्निग्ध कर डाले ऐसा है। दिल की थिरकन, अधीरता, जोश आदि उसे किसी भी एक की एक प्रकार की स्थितिचुस्त दशा में पड़े नहीं रहने दे सकते हैं। उसे कुछ इधरउधर होने पर चैन नहीं पड़ता है। उसके साथ जुनून और दिल से संग्राम में उतरता है, उसे हराये बिना दिल में उसे आराम नहीं मिलता है। ऐसा करते करते शायद वह हारता है, तो वह सिर पर हाथ देकर के बैठे नहीं रह सकता है। बार-बार उसके प्रयत्न (उसके मार्ग संदर्भ का आरोहण की दशा में) सतत चालू ही रहा करते हैं।

तमन्नावालों की अलग प्रकार की अशान्ति

जैसे जैसे उसकी ऐसी जागृति जीवित होती जाती है और उसमें चेतन प्रकट होता जाता है, उसके बाद ऐसे युद्धों के आकार प्रकार भी बदलते रहते हैं। जिस **जीव** को आदर्श के शिखर पर पहुँचने की उत्कट तमन्ना जागती है, वह हाथ पैर समेटकर कभी पड़े नहीं रह सकता है। उसे अशांति कोई अलग प्रकार की होती है। जिसे जिस दिशा में जाना है, उस दिशा में जाना वह कैसे भूल सकता है ?

हृदयभावना बिना के प्रयत्न बेकार

जिसे जाने का यदि भान ही रहता नहीं है, तो जानना कि आदर्श को आकार देने का अभी पूरा दिल प्रकट नहीं हुआ है, तो उसे अभी अधिक प्रयत्न करते रहना है। प्रयत्न में जब हृदयभावना मिलती है, तब प्रयत्न अधिक योग्य प्रकार का होता जाता है। खाली खाली, केवल रूखे रूखे, कोरे प्रयत्न से भी कुछ हो सकता नहीं। अमुक में प्रयत्न हुआ करते हों परन्तु उसके Urge का (प्रेरणात्मक जोश का) मूल कोई **जीव** प्रकार का होता है। फिर, किसी में उसका मूल बुद्धि में, किसी का मन में, किसी का निम्न प्राण में, किसी का अहम् में ऐसे अलग अलग हुआ करते हैं। कितनों में तो मात्र जीवन और जीवन की कठोरता और जीवन के घोर संग्राम में से भाग जाने की वृत्ति काम करती रहती होती है। दिल से लगी हुई तमन्ना का प्रकार कोई अलग होता है।

दिल की प्रार्थना भी तमन्ना बिना असंभव है

इस मार्ग में इस प्रकार की उत्कट तमन्ना हो, तो उसमें अपने आप सहजता, सरलता प्रकट होती जाती है। यह दशा यदि हमारी न व्याप्त होती हो, तो हम में कहीं विकृति है ऐसा समझना। होते रहते प्रयत्न में सद्भावना न प्रकट होती हो, तो हमें स्वयं लाख बार सोचना। सच्चे दिल के होते रहते प्रयत्न में सद्भाव प्रकट होता है, तो प्रयत्न में सहृदयता किस तरह से प्रकट होगी वह हमें खोज निकालना है। यदि सचमुच

उत्कट तमन्ना प्रकट हुई हो, तो उसमें से सहृदयता प्रकट होनी चाहिए। प्रत्येक पल जीवित हुआ करे, ऐसी जागृति प्रयत्नपूर्वक, ज्ञानपूर्वक उसकी कृपा से विकसित करनी रहती है। जिसके लिए हमें हृदय में लगता है, उसके लिए हृदय से प्रार्थना भी हो सकती है।

जिसमें सही गहरा लगनापन प्रकट होता है, उस प्रकार की दशा में प्रार्थना का सुर भी अंदर से उठता है। दर्द के बिना भाव प्रकट होना मुश्किल है। उसके बिना प्रार्थना तो होती रहती है, पर वह मात्र ऊपर ऊपर से। उसमें उसकी गहराई न भी हो। साधक को जो भी सब हृदय में हृदय से गहरा लगना चाहिए। लगे बिना लगाया नहीं जा सकता है। चेतना हो तो अग्नि का स्पर्श जरूरी है। इससे जलने का हो और उससे जो भड़के ऐसे **जीव** का **इस** मार्ग में काम नहीं है। जलना भी शुद्धि के लिए है, ऐसा अनुभव ज्ञानपूर्वक हो तो ही वह उपयोगी है, बाकी नहीं। जीवन-ध्येय के आदर्श का भले जो कुछ स्वप्न है और जैसा है, ऐसा वह भले हो, पर उत्कट दशा के स्वप्न का भी एक प्रकार का नशा होता रहता है। ऐसा नशा भी यदि हो, तो उसमें से ही—उससे भी—और उसे भी साधन बनाकर, जीवनध्येय को जीवित करा सकते हैं।

• • •

दिल उड़ेलकर लिखा है

उन कलकत्तावाले बहन का पत्र पढ़कर हृदय गद्‌गद हो गया । प्रभु की कैसी कृपाकला है ! किसी पर लिखा लेख वह फिर किसी को पिघला सकता है ! इस पर से तुम्हें इतना तो भरोसा होगा ही कि **इस जीव** ने तुम्हें जो लिखा है, वह दूसरे सद्‌भावी हृदय को भी स्पर्श कर सके ऐसा है । मुझे तो दृढ़ आत्मविश्वास है कि मैंने अपने स्वजनों को दिल उड़ेलकर लिखा है, यों जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें से यदि किसी **जीव** को स्पर्श हुआ, तो प्रभुकृपा से लिया गया सकल श्रम सफल होकर कृतकृत्य हो सकनेवाला है । उस बहन का पत्र परम पूज्य श्रीनानचंद्रजी महाराज साहब को भेजा है । उनके (वह बहन) साथ पत्रव्यवहार करती रहना ।

पुस्तक के लिए पैसे उगाहने के विषय में तुम्हें ता. ३-८-१९५३ के रोज ट्रिचि से लिखा था और तुमने वह बात तुम्हारे वहाँ से लिखे हुए ता. ४-८-१९५३ के पत्र में लिखी है । ऐसा प्रभुकृपा से हो जाता है ।

पत्थर में शिल्पकला को उतारना हो तो टाँकने का औजार जोर से ही ठोकना पड़ेगा ।

प्रेमभाव और अपने विकास के लिए जो भी कुछ करो

तुम्हें जो कुछ फरमाना बने, वह काम मेरा गिनना नहीं है, पर अपने ही विकास के लिए सौंपा हुआ है, ऐसी भावना

और हृदय की उमंग से वह हो—हो सके—वैसा लगे तो ही करना । मुश्किल से और त्रास से कभी न करना । वैसे कर्म के लिए, कभी भी इस **जीव** को दोष देने का आये ऐसा थोड़ा भी लगे, तो वैसा काम न करना तो न ही करना । ऐसे मना करने से **यह जीव** नाराज होगा, ऐसा कभी मन में न लाना । मुझे कितनों के अनुभव ऐसे हुए हैं, इसलिए मुझे तुम्हें कहना पड़ता है, इसलिए कृपा करके मैं तो पहले से स्पष्टता कर लेता होता हूँ । जिसे हृदय में हृदय से मिलने का दिल जागा हो, उसका ही यह काम है ।

तमन्ना में कभी

जिसे मथना ही न रुचता हो, उसके लिए **यह** मार्ग नहीं है और मथना कहाँ नहीं पड़ता है ? जहाँ जहाँ नजर आती है, वहाँ वहाँ मथने का तो प्रकटता ही है । तो फिर यहाँ क्यों **जीव** पीछे पड़ता होता है ? कारण कि उसमें अमुक कहते हैं कि तत्काल परिणाम नहीं दिखता है । नहीं, यह सच्चा कारण नहीं है । सही कारण तो हमें सचमुच झनकार देती Urge (उत्कट तमन्ना) प्रकट हुई नहीं है ।

सच्चे को तो युद्ध चालू ही हो

सच्चे मनुष्य और उस तरह से मथनेवालों को ही अधिक कठिनाई पड़ेगी । बाकी को तो जैसा लुढ़कना पड़े वैसे लुढ़कते ही जाना होता है न ? सच्चे मनुष्य को तो कदम कदम पर सोचना होता है । उसकी तो प्रत्येक पल युद्ध की चलती

रहती है । उसे तो आंतरबाह्य सभी जगह, जहाँ तहाँ संग्राम प्रकट हुआ रहा करता है । ऐसे पल में जो **जीव** उसमें समझ समझकर जितने हृदय से शांति, स्थिरता, समता, प्रसन्नता, धीरज, हिंमत आदि चेतनपूर्वक की जागृति से रख सकता है, उतने प्रमाण में वह उसमें जीवित तनकर प्रभुकृपा से खड़ा रह सकता है ।

हृदय की गुहार कभी निष्फल नहीं जायेगी

प्रभु के चरणकमल में जो हृदय से मदद के लिए पुकार करता है, ऐसी उसकी पुकार मिथ्या नहीं जा सकती, पर हमें अभी गुहार रखनी भी कहाँ आती है ? पर इससे निराश होने की जरूरत नहीं है । **यदि किसी भी *जीव* का हृदय चेतनप्राप्त किये हुए आत्मा के हृदय के साथ मिल कर एकरस हो जाये, तो उसे ध्येय की सिद्धि वह हस्तामलकवत् है,** यह निश्चित रूप से जानना । इसलिए हिंमत रखकर, अपने में ही मग्न रहा करने में सार समझें ।

यज्ञभाव से कर्म के शुभ परिणाम

निरपेक्ष होकर यज्ञभावना से ज्ञानपूर्वक कर्म करते रहें, तो ही वैसे वैसे कर्म में गौरव जन्म लेता है । ऐसा गौरव जीवन में मादकता प्रकट करता है । उसका गौरव जीवन को जीने के लायक बनाता है, जीवन में मधुरता पैदा करता है, जीवन जीने में उमंग, उत्साह लाता है, जीवन में कठिनाई आदि को कभी भी न गिनने को सुनी अनसुनी करता है । उसे वह

नकारता है और उससे भी वह न चला जाये, तो कमर कसके बैठ जाकर उसके सामने भी होता है । वैसे गौरव का ऐसा उन्माद जीवन में प्रकट हुआ होता है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिःॐ　　　　ता. १४-८-१९५३

द्वन्द्वातीत होने का उपाय

हम सब **जीव**प्रकृति के हैं, वहाँ तक किसी न किसी **जीव**प्रकार का आकर्षण, घर्षण, सिर मारना, खिंचाव, तंगपन, द्विधापन आदि आदि हम में पैदा हुआ ही करेंगे । उनके निवारण के लिए उपाय क्या ? केवल विचार के बल से, केवल बुद्धि के बल से या वैसे प्रकार की समझ की उत्कटता के कारण से वे सब टालने पर भी नहीं टाले जा सकते हैं । अथवा तो वे वे सब नकारात्मक भाव हैं, और **जीव** को **जीव**पन में ही रखनेवाले हैं, और इससे **जीव** को अधिक जकड़ जाने का होता रहता है, ऐसी समझ भी **जीव** को उस प्रकार के भाव में से उबार सकने समर्थ नहीं होती है । वह संभव होने के लिए तो दृढ़ मरजिया उस के लिए का हृदय का हृदय हृदय से हृदय में जीवित प्रकट हुआ निर्धारण ही काम में लगता है । ऐसे निर्धारण का प्रत्यक्ष लक्षण उस प्रकार की चेतनयुक्त जागृति है । वैसी जागृति यदि रहा करती हो, तो निर्धारण दृढ़ हुआ है, यह निश्चित समझना ।

संसारी साँकल में कैद न रहने के लिए प्रार्थना करो

आध्यात्मिक जीवन में—यदि वह सचमुच उसकी भावना के प्रकार का जीवन हो तो उसमें—**जीव**प्रकार की कामना, आशा, तृष्णा आदि के अधीन हो जाते, आध्यात्मिक जीवन का कोई अवकाश रहता नहीं है । वैसा साधक कभी प्रवाहित हो, पर उसकी चौकीदार समान हृदय की जागृति उसे उसमें से निकालकर घिसटकर ऊपर खींच लाती है । सांसारिक जीवन की साँकल से मुक्त हुआ नहीं जा सकता हो और दूसरी तरफ उसकी महेच्छा आध्यात्मिक जीवन के संदर्भ में थोड़ी बहुत भी हो, तो वैसे **जीव** को प्रार्थना कर करके श्रीभगवान की मदद माँगनी रही ।

प्रार्थना न फले तो ...

इससे (सांसारिक प्रकार के **जीव**प्रकार के भाव में से) निकल सकने के लिए वह मदद माँगा ही करता हो, तब भी मानों कि युक्ति न काम आ सकती हो और हार ही मिला करती हो तो क्या समझना ? तो वैसे **जीव** को ऐसा समझना कि अभी उसकी प्राण के क्षेत्र की लोलुपता टली नहीं है । उसमें उसका **जीव** लिपटा हुआ है । उससे मुक्त होने के लिए उसका दिल जला जला नहीं हुआ है । उसकी आतुरता प्रचंड ज्वालामुखी की जैसी धधकती नहीं हुई है ।

जागृति की अनिवार्यता

किसी **जीव** को दोनों प्रकार के मार्गों का आकर्षण हो– आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में थोड़ीसी रुचि हो, और

सांसारिक जीवन की आदतों से छूटा न जाता हो, तो ऐसे **जीव** को क्या करना ? पहले तो ऐसे **जीव** को सांसारिक जीवन नकारात्मक अर्थात् **जीव**प्रकृति के भावों के दलदलवाले जीवन के संदर्भ की अयोग्यता बहुत ही गहरी सालती हो, ऐसा अंतर में अंतर से लग गया होना चाहिए । उसके तरफ यानी कि सांसारिक मनोभाव की तरफ मुड़ने का होते ही उसका मन मानो पीछे पड़ता हो, ऐसा उसे अनुभव से लगे, तभी उस **जीव** की वैसे के प्रकार के मनोभावों से पीछे मुड़ने की सद्वृत्ति परिपक्व होने के शिखर पर है ऐसा मान सकते हैं । ऐसा होने पर उसकी उस प्रकार की जागृति, उसमें उस समय प्रकट हुई रहा करती होती है । जिस प्रकार की जागृति होती है, उस प्रकार जीवन के संदर्भ में वैसे **जीव** को टकटकी लगी रहती होती है । **जागृति वह साधना में अत्यधिक आवश्यक है । उसके बिना साधना ही संभव नहीं है ।** संसारव्यवहार में भी जो काम पार लगाना होता है, उस काम के प्रकार की जागृति उस उस **जीव** को तब रहती होती है, ऐसा तो प्रत्येक का दैनिक अनुभव है ।

प्रेमभक्ति फलित हो

भले ही हम **जीव**दशावाले हों, तब भी सचमुच हमारे हृदय की प्रेमभक्ति यदि जीवनविकास के योग्य साधन में लगी हुई होती है, तो हमें वैसे वैसे मनोभावों से बचाने में उसकी मदद, आर्त और आर्द्र भाव से हृदय में हृदय से पुकारते मिला

करती हैं, **इस जीव** का वैसा प्रत्यक्ष अनुभव है । उसने प्रभुकृपा से साधना में जब से कदम उठाया है, तब गहरा गहरा तटस्थतापूर्वक का पृथक्करण क्या, उसकी उसे कहाँ सूझ-बूझ थी ? यह कला भी प्रभुकृपा से उगते उगते उगी । कुछ कुछ रूख मन पर अधिकार ले लेते ! उस समय दूसरे कोई उपाय या शक्ति तो हाथ में थी नहीं । था एकमात्र साधन वह सद्गुरु । उनके संदर्भ में हृदय में अत्यधिक प्रेमभाव था । उनकी चेतना में दृढ़ भरोसा और विश्वास एकदम पक्का था ।

इस जीव को ऐसा उस समय भी उनके बारे में दिल में लगा था कि सचमुच ही बुलाने पर साथ दे सके वैसे हैं । साधना के समय में जीवन में किस किस प्रकार के दलदल में धँस जाने का होते, उसके संदर्भ में मन, प्राण, अहम्, बुद्धि उसमें घुलाकर मिलाकर इससे आर्त और आर्द्र हृदय की भावना प्रकट करके उस साधन से उसे पुकारते, हृदय में उसका लक्ष्य उस समय रह सके ऐसे उत्कट भावनापूर्वक के प्रयत्न में एकाग्र और केन्द्रित रहकर के, वैसे रूख से उबरने उसे बस **इस जीव** ने पुकारा ही किया । और न जाने कैसे एकदम अचानक ऊपर तैर आता ! **इस जीव** ने तो वैसा प्रभुकृपा से अनेक बार किया हुआ है, और उनकी मदद प्राप्त होती हुई अनुभव की है ।

प्रार्थना की भी युक्ति न लगी

एक समय ऐसा तो नाजुक वक्त जीवन में आया कि प्रार्थना, दूसरे साधन और ऐसा ऐसा दूसरा कुछ ही काम में

न आ सके । कहीं कोई युक्ति काम में नहीं आ रही थी । पूरी रात रोया करता, प्रार्थना पुकारा करता । श्मशान के पास ही तालाब था । उसमें खड़ा रहकर प्रभु को जोर से पुकारा करता, नामस्मरण तो बस गंगा की धार की तरह चला ही करता था । **उस भाव निवारण के लिए दूसरे स्थूल प्रकार के उपाय जानता था, वे सभी किया करता था । उस समय सद्‌गुरु को सूक्ष्म रूप से हृदय में प्रकट करने की कला तो प्राप्त नहीं हुई थी । इसलिए उनके पास स्वयं जाकर के उनको साधनाअवधि की उस उलझन की बात स्वयं करनी और उसका हल उनके पास से प्राप्त करना ऐसा दिल में हुआ । इसलिए उनको खोजने जाने को दिल बस अधीर हो उठा ।**

साधु का मायका कुंभमेला । उस समय कुंभमेला हरिद्वार में लगनेवाला था । बड़ी कठिनाई से वहाँ गया । चार दिन तक जहाँ तहाँ सभी जगह सोये बिना, उनको पुकार करते करते, बस खोजा ही किया । अंत में मिल गये तब एकदम निकट ही ! मिलने की लगनी तो ऐसी तो लगी थी कि उनको मिले बिना बस चैन न पड़े । उस समय भूखप्यास का भान उस आगे नहीं रहता है, ऐसी उनको मिलने की हृदय में हृदय से सचमुच की उत्कट आतुरता हुई थी । उनके चरणकमल में सिर रखकर बस कहाँ तक पड़ा रहा । उस समय रोया नहीं था, पर उस समय जिसमें से उबरना था, उसीके लिए हृदय में हृदय

से प्रार्थना ही बस किये करने की प्रभुकृपा से चेतनपूर्वक की जागृति थी । इस प्रकार के पार्थनाभाव में लगभग पौना घण्टा पड़ा रहा होगा । उसके बाद उन्होंने **इस जीव** को उठाया । मैंने उनसे कहा, 'मैं तो चार दिन से लँघन करता हूँ । पर मुझे आप यहाँ निकट में ही हो, वह तो दिखाई ही नहीं दिया !' **'मैं तो तुम्हें देखता था, पर जहाँ तक तुम मुझे देखो नहीं, वहाँ तक सब बेकार ।'** 'अरे बाप ! मुझे थोड़ा बुलाना तो था ! आपको ऐसा भी नहीं हुआ कि यह लड़का बेचारा भूखाप्यासा अपने गुरु को खोजा ही करता है और सानभान बिना का हो गया है !'

'तुम्हें बुलाने का काम मेरा नहीं है, मुझे बुलाने का काम तुम्हारा है । तुम मुझे देखो नहीं, वहाँ तक बुलाना वह बेकार है ।' तब इसका सूक्ष्म अर्थ समझने जितनी शक्ति तो थी नहीं, पर उनके बारे में जो सद्भाव और श्रद्धा इस **जीव** में थी, इससे वह वचन स्वीकार किया । समय जाने पर उसका मर्म और अर्थ भी समझ में आया । जिस कारण के लिए गया था, उस कारण से मुक्त होने की सूक्ष्म कला और साधना कृपा करके उन्होंने बाद में इस **जीव** को दिये । वह साधन करते करते (पर जैसा तैसा करके चल सके ऐसा न था) कंठ में प्राण आ जाय ऐसा था, पर जो करना है, वह बस करना ही है । श्रीसद्गुरु के वचन में जीवित विश्वास था, इससे उसमें अपने आपको झोंकना हो पाया । इस तरह अनेक बार **यह**

जीव जीवप्रकार की प्रकृति में था, उस समय श्रीसद्गुरु की मदद उसने प्राप्त की है ।

गुरु की आज्ञापालन का सच्चा अर्थ

सद्गुरु के वचन किसी भी भोग पर पालन करने की हृदय की दानत उस समय जीवन में पक्की प्रकट हो गई थी । उसमें ऐसा या वैसा कुछ भी नहीं था । कुछ डाँवाडोल न रहता था । बस कहा यानी करना था, ऐसी दशा थी । प्रारंभ में दो-एक वर्ष तक वैसी स्थिरता प्रकट हुई नहीं थी । उस समय भी उनका वचन तो पूरी तरह पालन करता था, पर उसमें वचन के अंतरस्थ भाव बिना के दूसरे विचार इधरउधर प्रकट हुआ करते थे, वह भी गलत था, ऐसा उस समय जरूर दिल में लगता था । उस वचन का पालन करते समय पर उसके भाव-हेतु बिना की कोई भी इतर प्रवृत्ति न उठ सके, तभी वह वचन फलदायी हो सकता है, ऐसा अनुभव अमुक वैसे प्रयोगों के अंत में उसकी कृपा से प्राप्त होने से, बाद में तो उस अनुसार आचरण करना उसकी कृपा से होता जाता ।

उत्कट दुःख से बल और आनंद प्रकट हो

लिखने का तात्पर्य तो यह है कि हमारा भले ही **जीव** प्रकार के रुख से उठने का दृढ़ संकल्प, और वैसे रुख में हमें जीवित दंश और वह भी जैसा तैसा नहीं, पर उत्कट से उत्कट दंश-**जीव** को लगना चाहिए । सच में लगा हुआ उत्कट दुःख **जीव** को जागृत रखता है । उसकी मर्मवेधक वेदना उसे उसमें

गिर जाने से रोकती है । **जीव**प्रकार की आशा, कामना, वासना, तृष्णा, लोलुपता आदि के वश न हो जाने का बल साधना के एकसा जीवित अभ्यास से आता होता है और उस अनुभव से उपयोग में आते ही हम प्रत्यक्षरूप से उस उस समय समझ सकते हैं । ऐसा जीवन जीने में जो आनंद प्रकट होता है, वैसा आनंद कभी भी **जीव**प्रकार के रुख को भोगने में प्राप्त नहीं होता है । यह मात्र कोई कल्पना नहीं, पर कितने ही साधक **जीवों** के जीवन की वह अनुभव की ठोस कथनी है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. १५-८-१९५३

सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के स्वीकार के बीच का अंतर...

संसारव्यवहारवर्तन में भी जीवन को स्वीकार करके ही लोग आचरण करते हैं । उस तरह आध्यात्मिक जीवन भी कहीं कुछ अलग नहीं हो सकता है । आध्यात्मिक जीवन में भी जीवन का स्वीकार करना होता है । स्वीकार का अर्थ जीवन जैसा है वैसा, उसे स्वीकार करके, आध्यात्मिक भावना की आत्यंतिक दशा और कक्षा में, उसे पहुँचाने का उसमें हेतु रहा हुआ होता है । पहले तो जीवन को चेतना में प्राणप्रतिष्ठा का अनुभव हो जाने की जरूरत होती है और वह उसकी पराकाष्ठा में पहुँचने के बाद उसका विस्तार भी होता रहता है । **जीव**प्रकार के मानवीआधार में जो करण हैं, उसमें प्रतिष्ठा है **जीव**पन के

अहंप्रधान आदि प्रकृतिपन की, जब चेतन के अनुभव के मानवीआधार के करणों में अहंप्रधान, प्राणप्रधान, प्रकृतिपन की प्रतिष्ठा नहीं होती है, इतना मात्र अंतर होता है ।

बाकी तो करण तो वही के वही होते हैं और कर्म भी एक ही प्रकार के करते हुए वे दोनें दिखते होते हैं । पर उसके पीछे के मूल अधिष्ठान की भूमिका में ही मात्र अंतर होता है । **जीव**प्रकार की प्रकृति के कर्म में भी विस्तार तो हुआ करता होता है और चेतनाधिष्ठान–भूमिका की प्रकृति से होते कर्म में भी विस्तार तो हुआ करता है । दोनों का करण तो प्रकृति ही होती है, परन्तु पहले में तो प्रकृति स्वयं ही कर्ताहर्ता होती है, जब दूसरे प्रकार के कर्मों में प्रकृति खाली खाली करणरूप में होती है और स्वयं कर्ता, हर्ता, भर्ता, भोक्ता आदि नहीं है । दूसरे प्रकार के कर्म भी प्रकृति से हुआ करते लगते हैं सही, पर उसमें **जीव**प्रकार की प्रकृति का जोश नहीं होता है । प्रकृति का स्वाधिष्ठान चेतन में हो जाने पर, प्रकृति बाद में अपनी तरह से आचरण नहीं कर पाती है । वह अपने आप ही प्रवाहित होती है सही, पर मूल अधिष्ठान (चेतन) के गुणधर्म के भान के साथ ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. १७–८–१९५३

सद्‌गुरु में ही एकलक्ष रखो

हमें जैसा होना है, उसका ही एकलक्ष रहा करे और संसारव्यवहारवर्तन में उसकी ही धारणा जीवित रहा करे तो

दूसरे किसी में कहीं मन नहीं जायेगा। लक्ष लगना बहुत जरूरी है। लक्ष लगे बिना ध्यान लग भी नहीं सकता। ध्यान के बिना एकाग्रता भी न हो और एकाग्रता न हो तो केन्द्रितता प्रकट ही किस तरह सके ? इसलिए लक्ष की अत्यधिक जरूरत है। येन केन प्रकारेण लक्ष लगाया करना। सद्गुरु को प्रेमभक्ति से बार बार हृदय से प्रकट करके, उसकी कृपामदद माँगा करें। **सद्गुरु स्थूल नहीं हैं, पर भावात्मक हैं।** उसमें मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् का लय करते जाएँ।

सच्ची साधना - हरिनाम की लगनी

ऐसी साधना होनी भले सरल न हो पर करनेवाले के दिल तो जरूर सरल है। जिसने जाने का निर्धारण किया है वह तो जायेगा ही। संसारव्यवहार में वैसा कहाँ नहीं देखते ? इसलिए मन को हरिनाम की लगनी लगानी। मन दूसरे किसी में घूमता न रहे और घूम घूमकर हरिनामस्मरण में पिरोया हुआ रहे तो काम सफल हो जाये। इसलिए हृदय के वैसे प्राणवान अभ्यास में मथा करने का हो वही उत्तम है।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २२-८-१९५३

हम अपने आप में ही यदि संपूर्ण सच्ची तरह से जीवित होकर स्थिर हो जायें, तो उस समय कोई प्रश्न खड़ा नहीं होता है। मूल प्रश्न का तो ठिकाने हुए नहीं होते, उसका ही है।

तमन्नापूर्वक के जीवनविकास के लिए हृदय में वही एक आदर्श सचमुच का है, ऐसा सच्ची तरह से हृदय से माना हो तो फिर जीवन में वही परम भव्य, रम्य, आदर्श की असर के सिवा दूसरे किसी की भी असर न हुआ करे, ऐसी जागृतियुक्त सचेतनता जीवन में प्रकट हुई व्याप्त हो, उसका ही नाम पवित्रता है ।

सद्‌गुरु

फिर, उसी तरह **सद्‌गुरु अर्थात् उनका स्थूल शरीर तो नहीं । जीवनविकास के संदर्भ में प्रेरित करनेवाली एक प्रकार की जो भावना दिल में प्रकट होकर के झिलमिलाती सुलगा करती है, वैसी अंतरस्थ भावना वह सद्‌गुरु है ।** सद्‌गुरु का आकार प्रकार नहीं है । यह कोई एक प्रकार की चौखट में आ सके ऐसी समझ भी नहीं है । वह मर्यादा नहीं है वैसे वह बंधन भी नहीं और मुक्ति भी नहीं । वह तो जो है वह है ।

जिस है उसे है और जिसे नहीं है उसे नहीं है । जिसके हृदय में वह जागता है, वहाँ से वह बुझ नहीं जाता । एक बार जगाकर उसे जीवित कर सकें, तो उसके नये नये अवतार का अनुभव जीवन के अभिनव प्रसंगों में हमें हुआ ही करता होता । सद्‌गुरु अर्थात् तो हृदय का हृदय से जीवन के संदर्भ का निथरता सद्‌भाव है । इससे जो रंग जाता है, उसमें वह प्रत्यक्ष होता है । सद्‌गुरु को अमुक प्रकार से ही समझना वह तो अज्ञान है ।

प्रथम पहले मस्तक रखो

चेतना के अनुभव का काम वह मेरे तेरे जैसे बेशऊर का काम नहीं है । उसके लिए तो सिर अलग रखकर हिंमत, साहस, शऊर प्रकट करके जिसे झूमना है और उसके लिए फना होना है, वैसों का वह काम है । नामर्द का इसमें काम नहीं है ।

• • •

कुंभकोणम्   हरिःॐ   ता. २३-८-१९५३

हमें जीवन की परवाह कहाँ है ?

इस संसारव्यवहार में तो जो भी सब **जीव** अपना जीवन व्यर्थ कर रहे हैं । उनको किसी को भी जीवन की कुछ पड़ी नहीं है । हमें यदि जीवन की परवाह हो और यदि जीवन की पड़ी हो, तो वह बताये बिना कैसे रह सके ? जीवनविकास के लिए सचमुच की दानतवाले नेकदिल की पूरी उत्कट तमन्ना बिना साधना हो सकनी यह लगभग दुर्लभ घटना है । इसलिए, यदि सच्चे ढंग से जीना ही हो, तो बहाने करने से नहीं पुसायेगा । नामस्मरण, जपयज्ञ इस काल में उत्तम सफल साधन हैं । वह भी यदि न लिया जाता हो, तो फिर वैसा **जीव** दूसरा क्या कर सकता है ? **जीव** को **इस** मार्ग में जाना है, उसे अपने दिल को पारदर्शक बनाना रहता है । दिल में एक और बाहर दूसरा, ऐसा वर्तन चल सके ऐसा नहीं है । धीरज, खामोशी की अत्यधिक जरूरत रहती है । दिल से दिल की भावना प्रकट होते जिसमें उसमें से आनंद निथरता अनुभव कर सकते हैं ।

इस मार्ग के संदर्भ का हृदयभाव प्रकटते प्रकटते, फना होते होते मरजियापन स्वयं प्रकट होता है । जो मरजिया बने हुए हैं वे ही तत्त्व को प्राप्त करते हैं और अनुभव करते हैं । मरकर फिर से जन्म लेने का **यह** मार्ग है । ***जीव* प्रकृति को चेतनपन में ज्ञानपूर्वक लय कर देना इसका नाम मरकर जन्म लेना है ।** ऐसे **जीव** के मरजियापन के हृदय के भाव में दंभ, अहम् या ऐसी **जीव**प्रकृति की वृत्तिओं को वहाँ स्थान नहीं रहता है । जो **जीव** अहम् तथा दंभ को जानेअनजाने पोषित करता है, उसके जीवन का चेतन में प्रकट होना कभी संभव नहीं है । जीवन यह कोई स्वांगबाजी नहीं या नाट्यरंग भी नहीं है । ये तो मर्दानगी के खेल हैं । ऐसी मर्दानगी जीवन के होते प्रसंगों में भी प्रभुकृपा से प्रत्यक्ष न हो सकी तो जानना कि जीवन का दिवाला हमने निकाला है । यहाँ तो जागकर जीना हो तो जीना है, जीवन को शोभित करने के लिए जो भी सब हो । इस भाव से जिसमें और उसमें चेतकर बरतना है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. २६-८-१९५३

प्रेमभक्ति बिना प्रभु मिलने कठिन

कल शाम के समय यहाँ आश्रम में एक भाटिया वृद्ध माँजी, पूज्य बड़ी बा को मिलने पधारी थी । वे बहुत सुन्दर भजन गाती थी । मुझे अब इतने से बिलकुल संतोष नहीं होता है, **जो कोई भजन गाते हों, उस समय उस भजन का**

अंतरस्थ भाव तो उनके मन में या किसी में जागा हुआ न हो । मन तो भरपूर संसार से भरा हो और भजन गाये या रामनाम ले तो इससे कुछ हासिल नहीं होगा । प्रभु के लिए रोमरोम में आग प्रकट हुए बिना, ऐसी प्रेमभक्ति का शौर्य हृदय में प्रकट हुए बिना प्रभु को पाना कठिन है । ऐसी प्रेमभक्ति प्रकट हुए बिना के बोल वह तो खाली खोखले हैं, 'प्रेमशौर्यअंकित' हृदय की भक्ति प्रकट होते आधार भी बदल जाता है । करणों द्वारा काम करती प्रकृति भी बदल जाती अनुभव होती है । भगवान के लिए ऐसा नैसर्गिक प्रेमभाव जब उत्कटता से प्रकट होता है, तब वह जो भी सब झाड़-बटोरकर स्वच्छ, शुद्ध कर देता है और श्रीभगवान की प्राणप्रतिष्ठा होने के लिए आंतरिक भूमिका को वैसी योग्यतावाली बना देता है ।

उत्कट जिज्ञासा का प्रत्युत्तर मिलेगा ही

हमारी उच्च जीवन के लिए की सचमुच उत्कट जिज्ञासा उसके सच्चे भाव और अर्थ में, मूल में जीवन में प्रकट हुई नहीं होती है । और वह सचमुच के भाव में प्रकट हुई हो, तो 'अंदरूनी' उसे योग्य प्रत्युत्तर दिये बिना कैसे रह सकता है ? **इस जीव** को जो प्रेरणा मिला करती थी, जो उत्साह, अदम्य हिंमत, साहस, धीरज आदि मिला करते थे, (यद्यपि उसे सभी बात में सभी तरह से सरलता थी, ऐसा तो बिलकुल कुछ न था) ऐसा होने पर भी दोष, भूल कुछ हुए

नहीं थे ऐसा नहीं है। यदि सचमुच की संपूर्ण, सही जिज्ञासा प्रकट हुई होती है, तो वैसी जिज्ञासा की भूमिका में हुए भूल, दोष आदि तो हमारी आँख खोलनेवाले सद्‌गुरु बन जाते हैं। इससे स्वयं चेतकर, अचानक जागकर ध्येय सम्बन्ध में अधिक एकाग्र और केन्द्रित हुआ करने के लिए वह उसमें से प्रेरणाबल प्राप्त करता है। प्रभु के प्रेम बिना दूसरे किसी भी हेतु का संपूर्ण अभाव, दंभ, अहम् आदि वृत्ति का संपूर्ण अभाव, व्यापारीवृत्तिभरी कोई गिनतीयुक्त माँग का (Calculating demands) भी अभाव, प्रभु की खातिर ही प्रभु, अंतःकरण की भावना से सज्ज हुई ऐसी पवित्रता – यह सब हमारे आधार में साधक को जीवित करना है।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २६-८-१९५३

जीवनविकास के बाधक तत्त्व

जीवनविकास के लिए यदि साधना करने का सचमुच दिल हो, तो वैसे **जीव** को सभी प्रकार की ममता, मोह, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, मद आदि प्रेमभक्तिभाव के द्वारा टालने रहते हैं। ये सभी जीवनविकास के मार्ग में अवश्य बाधक हैं। मन के संकल्पविकल्प, मन की यहाँ वहाँ लहराती वृत्तियाँ, मन का डाँवाडोलपन, मन का द्विधापन, उसी तरह बुद्धि की अनेक प्रकार की समझ, उसकी गुत्थियाँ, उसकी विविधरंगी तर्कयुक्त दलीलबाजी, अनेक प्रकार के आग्रह का

कुछ कुछ युक्तिप्रयुक्ति बुद्धि द्वारा प्रेरित कर एकनिष्ठा में बाधा प्रकट करने का और उसी तरह प्राण की अनेक प्रकार की अशुद्धि, कामना, लालसा, लोलुपता, चाहना, घृणा आदि सभी साधना के मार्ग में बाधारूप हैं और अवरोधरूप होते हैं । वे सभी ऐसे तो जालें रचते हैं कि साधक **जीव** बेचारा उसमें ही फँस जाता है । उसकी दृष्टिमर्यादा उन सभी को भेदकर पार जाने को भाग्य से ही शक्तिशाली होती है । साधक यदि सचमुच उत्कट से उत्कट हृदय की नेक दानतवाला होता है, तो उसे इन सबको प्रेमभाव से, जागृति से सामना करने का सचमुच उत्साह आता है । वह बेकार निठल्ला होकर नहीं बैठे रह सकता है ।

अभ्यास होते होते तो उसमें से अवश्य गति में वेग मिलता है । जो **जीव** कुछ भी नहीं कर सकता या करता नहीं है, उससे कुछ नहीं होगा । केवल बात किया करने से या ऊपर ऊपर की भावना से कुछ नहीं मिल सकता है । कितने ही **जीव** अपनी अशक्ति, प्रकृति, तामस अथवा खाली खाली पड़े रहकर बेकार समय व्यतीत करने की निष्क्रियता का ऊपर ऊपर से तो दोष निकालते रहते हैं, पर अंतर में अंतर से वैसी अपनी दशा को निर्मूल करने को बिलकुल वे सच्ची तरह से उत्कट तमन्ना से हृदय में आतुर नहीं होते हैं । ऐसे **जीव** अपने स्थूल कर्तव्य भी ठीक से नहीं कर सकते हैं, इतना ही नहीं, पर प्राप्त हुए कर्म में अपने स्वभाव को बुन करके अपनी प्रकृति को

वैसे वैसे कर्म में उतार देते होते हैं और ऐसे प्राप्त कर्म के हेतु को भी वे लोग अफल बना देते होते हैं । उनको उनकी तंद्रा में से और उनकी प्रकृति के शिकंजे से छुड़वाने को बहुत किया करने में आये, पर उन सभी कला को वे **जीव** उलटा या विपरीत समझकर दोषारोपण उस पर करते हैं, और स्वंय अपनी प्रकृति के शिकंजे में अधिक जकड़कर जीना पसंद करते है ।

जगानेवाले की उलटा निंदा करते हैं

अब, ऐसे *जीव* को कौन चेता सके ? चेताने का, जगाने का करना होने पर भी उनके निष्क्रियतायुक्त तामस के जड़ पर्दे को तोड़ने के लिए कुछ कुछ कर्म सौंपने पर उसमें से भाग जाने का वे करते रहते हैं अथवा जो सौंपा हुआ कर्म होता है उसमें भी उसके हेतु का ज्ञानभान दिल में जाग्रत रख सकने का भी वे *जीव* नहीं करते और वैसे कर्म से त्रासित हो, संताप पाकर, वे कर्म में प्रेरित करनेवाले पर उलटा टूट पड़ते हैं । इस प्रकार के **जीव** सचमुच ही जीवनविकास करना चाहते होंगे कि नहीं यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । यदि वे ऐसा करना सचमुच चाहते हों, तो उन्हें अपनी वैसी प्रकृति से मुक्त होने के लिए कर्म को प्रेमभाव से हृदय की उमंग से स्वीकार करना होने देना चाहिए । कर्म के हेतु का ज्ञान हृदय में प्राणवान होना चाहिए । वैसे वैसे कर्म करते करते वैसे कर्म का हेतु सिद्ध हो सके ऐसी भूमिका आधार

में रचित होनी चाहिए । यह सब प्रभुकृपा से हमें करना पड़ेगा । 'यह सब हो जायेगा' 'प्रभु कर देंगे,' 'अपने आप होगा,' 'उसकी कृपा कर देगी' यदि ऐसी ऐसी कल्पना की भ्रमणा में पड़े रहना हुआ तो तो उसमें से, कभी भी मुक्त नहीं हो पायेंगे, यह निश्चितरूप से जानना जी ।

प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म तो यज्ञनारायण है

जो कर्म जीवनविकास की भावना से हुए करते होते हों, वे कर्म करते समय पर हृदय में वैसे कर्म के हेतु का ज्ञान जीवित रहा करता हो, और वैसे कर्म वापस श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ हुए करते हों, और वापस श्रीप्रभु के चरणकमल में समर्पण भावना से सौंपे जाते हों, तो वैसे होते रहते कर्म वह मात्र खाली खाली कर्म नहीं होते, परन्तु वैसे कर्म तो साक्षात् स्वयं यज्ञनारायण बन सकते हैं । ऐसे कर्म से जो शक्ति प्रकट होती है, वह शक्ति कोई चुपचाप नहीं पड़ी रह सकती है । ऐसे कर्म के आचरण से हमारा आधार शुद्ध हुआ करता है, और कोई नयी चेतनवान शक्ति आधार के करणों में प्रकट होती हम अनुभव कर सकते हैं । हमारा आत्मविश्वास, श्रद्धा आदि अधिक से अधिक प्रमाण में जागृत होते जाते अनुभव कर सकते हैं । ऐसे होते रहते कर्म वही सही साधना है । कर्मविहीन साधना बहुत करके तो मात्र कल्पना में ही रह जाती होती है । साधना के भाव को हमारे आधार के करणों में प्रतिष्ठित करने-करवाने के लिए यज्ञभावनायुक्त भूमिका की अत्यधिक आवश्यकता रहती है ।

इससे कर्म ज्ञानभावनापूर्वक होने चाहिए

इससे जिस **जीव** को जीवनविकास करना है, वैसे **जीव** को जो कुछ अपने से हुआ करता हो, उसमें उसमें जीवननिर्माण की ही आदर्श की भावना जीवित दृढ़ करनी है । प्राप्त हुआ कर्म अपनी प्रकृति का उन्मिलन करवाने के लिए की आंतरिक भूमिका है ऐसा समझना है । प्रत्येक साधक को स्वयं अपने अंतर्यामी के साथ का आंतरिक भावात्मक संबंध किसी न किसी साधन से करके सतत पलपल एकसा जीवंत हो सके और उस भाव में हम उसके हृदय में हृदय से एकरस हो सकते रहें ऐसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के प्रयत्न में रहा करना है । ऐसे प्रकार की आंतरिक भावना का प्रप्रात उसके अंतर से सतत बहा करना चाहिए । साधक अपने संपूर्ण जीवन को परिवर्तन कराने बैठा हुआ है । यदि यह सत्य बात हो, तो उसमें कितनी और कैसी शक्ति उसे पैदा करनी होती है, उसका उसे (साधक को) सच्चा ज्ञान हो गया हुआ होना चाहिए । चाहे वैसा, अव्यवस्थित ढंग से, थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया करने से कुछ हासिल नहीं हो सकता है ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २८-८-१९५३

आशावाद की निश्चल मतिगति

परिस्थिति में घुल जाना, मिल जाना और वापस उसके ताबे होकर ऐसा जीना हमारा सबका जीवन का प्रत्यक्ष क्रम

है । जीवन संदर्भ का आशावाद तो शक्तिप्रेरक है । साधना करनेवाला साधक के जीवन का आशावाद यह कोई मात्र कल्पनाजनक नहीं होता । जीवन को गढ़ना ही हो तो वह गढ़ने के लिए साधन भी होने ही चाहिए और उसके लिए औजार हमारे पास न हो और उसे प्राप्त करने का भी दिल न हुआ या न किया, तो फिर जीवननिर्माण की बात को छोड़ देनी है । जीवनविकास संदर्भ का जो आशावाद है, वह तो जहाँ और वहाँ और जिसमें उसमें बेकार कोशिश नहीं करता है । उसका मार्ग तो निश्चल होता है और उसकी मतिगति भी निश्चल होती है । उसका निर्णय भी निश्चल होता है ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरि:ॐ　　　　ता. ३१-८-१९५३

धीरज के फल मीठे

रजा न मिल सके तो कृपा करके उतावली न करें । धीरज के फल मीठे । मातापिता आदि बुजुर्ग स्वजनों के हृदय से आशीर्वाद हमें प्राप्त करना है । बुजुर्गों सम्बन्ध के हमारे व्यवहार से उनको पूरा संतोष हो वैसा व्यवहार करना । वैसा प्रेमभक्तिपूर्वक का व्यवहार करना, यह हमारे जीवन की तपस्या है । यदि उनको वैसा संतोष न हुआ, तो फिर **इस जीव** को तो मरने जैसा लगेगा । यदि उनको संतोष हुआ, तो मुझे हुआ । उनको नहीं हुआ, तो तुम्हें प्राप्त होता आनंद किस तरह से प्रकट होगा ?

भाई को आश्रम में जाकर मिलकर आ गई होगी। भाई के बिना अब अकेले वहाँ किस तरह से आया जायेगा ? अब तो मैं बिलकुल आधाररहित हो गया हूँ। प्रवृत्ति मात्र शांत हो गयी लगती है।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. ५-९-१९५३

पूज्य बा ने तुम्हें जो कहा है, वह हकीकत सत्य हो तो उनका कहना यथार्थ है। हम तो जितने नम्र से नम्र होंगे उतने ही अधिक शोभित होंगे। इसलिए कृपा करके धूल में ही मिल जाना है।

जीवन का आनंद-स्वजन के लिए खप जाने में

जीवनविकास के लिए यदि सच्चे दिल से, सच्चे मन से, नेक दानत से, हृदय की सच्चाई से, प्रेमभाव से सद्‌गुरु किये हों, तो उनके लिये हृदय में ऐसा भाव प्रकट हुआ रहता है कि उनके लिए मरना भी अत्यधिक प्यारा लगे। उसका बोल पालन करने में और उस अनुसार आचरण कर बताने में जीवन में अनहद खुशी होती है। उसने बतलाया हुआ प्रेम से हृदय के उमंग से पूरा आचरण कर बतलाते हमारे लिए जो आनंद प्रकट होता है, वैसा उसमें हमारे लिए प्रकट हुआ आनंद वह हमारे जीवन का कल्याण प्रेरित करने के लिए योग्य निमित्त-साधन बन जाता होता है। इससे उसके वचनों का ज्ञानभक्तिपूर्वक के पालन में जीवन का यथार्थ विकास रहा हुआ है। जीवन का आनंद तो स्वजन के लिए उपयोग में आकर काम में आ जाने में रहा हुआ है।

अभेदानुभवी किसे क्षमा करे !

प्रभुकृपा से प्राप्त हुए स्वजनों को **इस जीव** से भिन्न नहीं मान सकता । **यह जीव** भी उनके लिए ही है । उनके लिए ही **जीता** है । फिर उसे क्षमा करनापन रहा हो ? वह तो जो है वैसे का वैसा है । उसका भाव, उसके हृदय की हमारे लिए छटपटी, यह तो भड़भड़ जला ही करती रहती है । उसे तो जीना है स्वजन के जीवन द्वारा । उसे निभना है स्वजन के जीवनविकास के सत्त्व के निष्ठामय जीवन द्वारा । उसे शोभित होना है और चमकना है स्वजन के जीवनविकास से प्रकट होतीं दिप्तिओं के द्वारा ।

इस हेतु को सफल करनेवाला

जिस स्वजन के रोमरोम में वह प्रकट हुआ हो, तब वह वैसा कर सकता है । **इस काल** में ऐसा किसी से नहीं हो सकता ऐसा तो कैसे हो सकता है ? यह काल बहुत कठिन काल है । उसमें उत्तराधिकारी **जीव** क्वचित् ही होते हैं । जो चाहते हैं वह हो सकता है । और चाहना भी कैसा ! मरजिया निर्धारणपूर्वक का हो या बस इस पार या उस पार । ऐसा जो **जीव** हृदय के सच्चे टेक से पलपल जागृति रखकर जीवन के आदर्श को जीवित रखा करता है, वैसा **जीव** सद्गुरु को प्रसन्न कर सकता है । जो प्रभुकृपा से करके बतलाया है, वही कहा हुआ है और इससे वह स्वानुभव का ही कथन है ।

• • •

लक्षण से ही सब कुछ परख के देखें

चेतन प्राप्त हुए आत्मा का कुछ प्रत्यक्ष लक्षण तो होना चाहिए न ? लक्षण बिना कहीं कुछ भी स्वीकार न करने का **इस जीव** को गुरुमहाराज ने हुक्म दिया था, इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है । उनका ऐसे ही कुछ भी नहीं मान लिया है । **इस जीव** से प्रभु के कृपाबल से, जो कुछ साधना हुआ करती थी, उस समय भी समता, शांति, तटस्थता से आचरण करके उसकी जागृति रख रखकर स्वयं स्वयं को ध्यान से देखना ही करना होता । ऐसे करते करते तो उसका जीवित अभ्यास होते होते उसमें से साक्षीभाव प्रत्येक करण के प्राकृतिक धर्म में प्रकट होता जाता अनुभव कर सकता था । वैसा होते लगे तभी समझना कि साधना का प्रकार योग्यरूप से है । जो कुछ हुआ करे, उसके पीछे का हेतु ज्ञानपूर्वक प्राणवान रहा करता हो, तो उस साधना के ऐसे भक्तियुक्त अभ्यास से हमारे जीवन संदर्भ की जागृति में विशेष से विशेष चेतनता प्रकट हुए बिना नहीं रह सकती है । ऐसा होते अनुभव हो तभी समझना, मानना, जानना कि हम उसकी कृपा से सच्चे मार्ग पर हैं । हमारी प्रसन्नता की मात्रा और कक्षा में भी फर्क पड़ता अनुभव कर सकते हैं । 'शांति,' 'शांति' हम बोला तो करते हैं, पर शांति के प्रकार भी अलग-अलग होते हैं । साधना में साधना से साधना का हृदय प्राप्त होते शांति, समता आदि गुणों का प्रकार

ही कुछ अनोखा अनोखा होता जाता और एक से बढ़कर एक कक्षा का बनता जाता अनुभव कर सकते हैं। ऐसा ऐसा अनेक ढंग से स्वयं **इस** मार्ग में स्वयं स्वयं को समता, शांति, तटस्थता आदि से समझा करना रहता है।

गुणातीत के गुण

ऐसा होते होते तो उसकी उत्तरोत्तर कक्षाओं में 'गुण' भी विलय हुआ करता है। सत्त्वगुण जैसा हमारे में **जीव** कोटि में होता है, वैसा का वैसा कुछ वह चेतनता की कक्षा में नहीं होता। उसकी भूमिका वह होने पर भी उसके प्रकार और कक्षा तो बिलकुल अलग ही ढंग के होते हैं। साधना की परिपक्व भावना से प्रकट हुआ सत्त्वगुण ज्ञान के अनुभवपन में प्रकट होता रहा करता है, रजस वैसी कक्षा में जीवन में शक्ति के स्वरूप में प्रकट होता रहा करता है। और तमस—वह गुण—कोई परम शांति में, कोई अवर्णनीय शांति में, कोई परम विमल ऐसी स्थिरता में परिणाम पाता जाता अनुभव होता है।

सच्चा लगाव

साधना यदि सही तरीके से हुआ करती होती है, तो जीवन में जीवन के संदर्भ की जागृति टिका ही करती है। ऐसी जागृति टिका करती अनुभव हो तभी समझना कि ठीक मार्ग पर हैं। ऐसी जागृति प्रकट हुए बिना और टिके बिना साधना होनी असंभव है। साधना में नपुंसकता रखने से नहीं चलेगा। मेरे एक मित्र लिखते हैं, 'मुझे आप पर प्रेम नहीं है

ऐसा नहीं कह सकता, वैसे ही प्रेम है ऐसा भी नहीं कह सकता ।' मैंने उनको लिखा, 'भाई ! या तो वह हो वह उत्तम या तो वह न हो वह ठीक, पर यह जो आप ऊपर लिखते हो, यह तो नपुंसकता की बात लगती है और नपुंसकता तो अवश्य चुभती है । हम ने यदि जीवनआदर्श के मार्ग पर जाने का निर्धारण किया हो, तो जिसमें और उसमें हमारा भाव निश्चयात्मक स्वरूप का प्रकट हुआ होना चाहिए । ऐसा हो तब भी चलेगा और वैसा हो तब भी चलेगा, इस प्रकार का भरोसे बिना का, **जीव**दशा का भाववाला, हमारा वैसा वर्तन जीवन को गढ़ सकेगा नहीं । उलटा वह तो जीवन की स्थिति को डाँवाडोल ही रखा करेगा ।'

यदि किसी **जीवात्मा** संदर्भ में हमारे जीवनविकास के हेतु के लिए सद्भाव और प्रेमभाव यदि ऐसे के ऐसे पड़े रहते लगें तो अवश्य जानना कि उसके संदर्भ की हमारी भावना सही ढंग प्रकट हुई नहीं है । खाली खाली लगे रहना, इससे तो कुछ भी नहीं मिल सकता है । बकरी के गले पर थन होते हैं, पर उसमें से कोई दूध नहीं निकल सकता । यदि लगना हुआ हो, तो ऐसा लगे कि जीवन में जिस हेतु के लिए वैसा होना बना हो, वह हेतुपूर्वक फलित होता जाता अनुभव हो । वैसा होता है कि नहीं, वह भी हमें देखते रहना ही चाहिए । यदि वैसा न होता हो, तो हमें स्वयं अपना तटस्थतापूर्वक का गहरे से गहरा पृथक्करण करके सोचना और जाँचना रहा । दोष कहाँ है

वह तो खोज निकालना ही रहा । लगे रहना ही हो तो उसके हेत्वर्थ के ज्ञानभाव हृदय में हृदय से रखकर लगे रहें । लगना है, वह जीवन को सार्थक करने । यदि वह होता हो तो ही वह काम का । बाकी खाली खाली कल्पना के महल रचने से तो कुछ नहीं होनेवाला है ।

श्रीभगवान की कृपा से जैसे **इस जीव** ने अपने को उसके साधनाकाल में उसके उस उस काल के लक्षणों से, तटस्थता से जाँचने का किया करता था, वे लक्षण परखे बिना कुछ भी स्वीकार करना नहीं हो सकता था । उसी तरह प्रभुकृपा से प्राप्त हुए स्वजनों के लक्षण भी परखे बिना थोड़े ही रह सकते होते हैं ? हर किसी को खपती है नगद रकम । कोई भी खोटा सिक्का नहीं लेता है । उस तरह **यह जीव** भी उपयोग में आ सकता हो तो ही उसका उस भाव से स्वीकार करना रहता है ।

हृदय हो तो ही काम का

मेरे गुरुमहाराज को कोई पैर में पड़े, फूलों की माला पहनाने जाये, उसकी प्रार्थना करता हो या कुछ कहता हो, तो उसी समय उसे वे कहते, 'तेरे दिल में यह तुम जो बोल रहे हो, उसकी वाचा अनुसार का भाव जैसा योग्यरूप का और जितना उत्कट और उत्तमरूप का होना चाहिए, उतना तो बिलकुल तुझ में दिखाई नहीं देता है । तुम्हारे में निरा संसार भरा है, तुम्हारा वेश, वह तुम्हारे बोलने के अनुसार जरासा भी

नहीं है । फिर तुम्हारा बोलना मेरे गले में किस तरह से उतरे ? जिसके पास से जो काम करवाना चाहते हो, उसकी पर्याप्त गरज भी तुम्हें जागी नहीं है ! तुम जिसके पास से काम लेना चाहते हो, उसके बारे में भी तुम्हें श्रद्धाविश्वास अपने काम को फलित कर सके ऐसे योग्य प्रमाण में और उस प्रमाण का कहाँ तुम्हें जाग सका है ? जिससे जीवन को गढ़ने की बात करता हो, जो तुम्हारे पूरे हित में है, उसके और तुम्हारे बीच में तो बड़ा पहाड़ खड़ा रख करके, उसे तुम 'गुरु' 'गुरु' कहकर उसे खाली खाली व्यर्थ में ही पुकारते हो । ऐसा तुम्हारा पुकारना बेकार और मिथ्या है । तुम्हारा फूल चढ़ाना, माला पहनानी और ऐसा ऐसा करना बिलकुल वाहियात है । इससे कुछ भी हासिल नहीं होगा । तुम्हारा उसके सम्बन्ध में हृदय ही कहाँ जागा हुआ है ? तुम में उसके सम्बन्ध का भाव ही कहाँ है ? जिसके द्वारा तुम काम करवा लेना चाहते हो, उसे तो तुम जरा जरा में ठोकर मारते हो । उसका कुछ भी स्वीकार करने का तुम्हें दिल में जागता नहीं है ।

जो काम करना है, उसकी जागृति, सावधानी, होशियारी, सँभाल आदि अभी तुम्हें कहाँ प्रकट हुए हैं ? तुम्हें अपने काम का जीवित रटन तुम्हारे दैनिक व्यवहारवर्तन में कहाँ रहता है ? केवल 'गुरु' 'गुरु' किया करने से कुछ नहीं मिलनेवाला । गुरु की समर्थता का अनुभव **जीव** को भले हो, संपूर्ण विश्व उसे समर्थरूप में भले लेखता हो, पर जहाँ तक **जीव** जागकर उसे

अपने जीवनविकास के कर्म में ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग में नहीं ले सकता, वहाँ तक केवल गुरु करने से कुछ भी मिलनेवाला नहीं है । उनके साथ हमारे हृदय के तार का ज्ञानभक्तिपूर्वक का हृदय में हृदय से अनुसंधान पलपल संपूर्ण चेतनयुक्त जागृति में रहा करना चाहिए । ऐसा अनुसंधान जब जीवित दशा में हृदय में प्रकट होता है, तभी साधना सहज स्वेच्छा से हुआ करे ऐसी कक्षा में वह प्रवेश करता है ।

गुरु के विषय का अभी भाव ही जहाँ जीवन के लिए उपयोग में लेने के लिए की सूझ प्रकट हुई नहीं है, वहाँ दूसरी तो क्या बात करनी ? गुरु को काम में न लेना का सूझता हो तो वह भले, परन्तु इतने से अमुक **जीव** तो रुकते नहीं हैं । उसे अपनी वृत्ति, विचार द्वारा उसे धक्के मारकर उसे छेड़ने में अपनी प्रकृति से प्रेरित होते हैं । ऐसे **जीव** गुरु करे वह उनके लिए लाभकारक नहीं है । बल्कि उनका अकल्याण उससे होता रहता है । ऐसा कहकर उनके जीवन के अन्यथारूप की कितनी हकीकत उसके मुँह पर मेरे गुरुमहाराज कहते । उस समय वह बेचारा चुप हो जाता, मूढ़ हो जाता और उसे ऐसा होता, इसे ठग सके ऐसा नहीं है ।'

जागृति की अनिवार्यता

प्रत्येक प्रकार के काम होने या न होने का आधार उस काम की उस उस प्रकार की प्रकट होती जाती जागृति पर रहता होता है । जागृति इससे अनिवार्य है । यदि वही न रह

सकती हो, तो हमें अधिक से अधिक मथना, चौंकना है । जीवन के आदर्श की गरज-लगनी लगाने की हृदय से, मन में बुद्धि द्वारा चिंतन करना है । दैनिक व्यवहारवर्तन की धमाल में स्वयं अपने अंतर का काम तो न भूलना और न चूकना चाहिए । वह भूले और चूके तो सब कुछ भूले और सब कुछ चूके । जागृति के बारे में तो जो जो कोई **इस जीव** के संबंध में हैं, उसे १९३९ की साल से कहा करा हुआ है । साधना के मार्ग में जागृति यह तो सबसे बड़ा साधन और लक्षण है । जैसी और जितनी जागृति उतना और वैसा काम होनेवाला है । आध्यात्मिक मार्ग का भी निश्चित वैज्ञानिक शास्त्र है । इसमें कुछ यद्वातद्वारूप नहीं है । इससे जीवन में जो भी बदलता जाता अनुभव हो तो जागृति भी अवश्य रह सकती होनी चाहिए । स्वयं ठोस आधार पर टिकना है, नहीं तो कभी ऐसे टूट पड़ेंगे कि दलदल में डूबते ही चले जायेंगे ।

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. ९-९-१९५३

स्वयं ही अपने शत्रु - मीरा का उदाहरण

श्रीभगवान की चेतनशक्ति सकल ब्रह्मांड में अपने ढंग से काम कर रही हुई है । उसका स्पष्ट हेतु भी होता है । मानवी उसकी कृपा मांगता है, पर उसकी शर्तों-रीतिओं अनुसार जीवन जीने की हृदय के उत्साह के साथ उसकी तैयारी तो होती नहीं है । जिस **जीव** को श्रीभगवान में मिल जाना है,

घुल जाना है, गल जाना है, वैसे **जीव** को संसार में या कुछ कहीं कोई आड़े नहीं आ सकता है । मीरा ऐसे उदाहरणरूप से प्राणवान प्रत्यक्ष भावनारूप है । उस मध्यकालीन युग में जब पर्दा की परम्परा प्रचंड से प्रचंड स्वरूप में प्रचलित थी, उस समय राज्यकुटुंब में उच्च पद पर होने पर, पर्दा को छोड़ कर, खुलकर साधुसंतों के साथ हिलना-मिलना-नाचना-कूदना-भजन गाने-ये सब कोई बालक के खेल नहीं थे । मीरा ने तो जीवन को दोधारी तलवार के रूप में खेला है । ऐसे जीवन में जब प्रचंड भावना का ओघ प्रकट होता है, तभी जीवन को बदलने का दैवी पराक्रम प्रकट होता है । मीरा ने किसी को या कहीं किसी की भी अवगणना नहीं की है । उसने जो किया है, वह सुधार के हेतु से नहीं किया है । उसके और उसके प्रभु के बीच जो जो आड़े आया, वह वह उसने श्रीप्रभु के चरणकमल में प्रेमभक्तिज्ञानभाव से समर्पण किया ही करा । उसके जीवन में कहीं स्वच्छंदता या उच्छृंखलता नहीं थी । उसकी सर्वस्व स्वार्पण करने की हृदय की तैयारी सर्व रीति से और सर्व भाव से जागी हुई थी । वह तो श्रीहरि का वरण कर चुकी थी । श्रीहरि के लिए हृदय में उसकी आतुरता इतनी प्रचंड भाव से जला करती थी कि उसके आगे संसार स्वयं ही शून्यवत् बन गया हुआ था । हम उसके आगे कुछ भी नहीं हैं ।

• • •

सद्भाव टिकाने के लिए प्रार्थना

प्रभु का मार्ग सद्भाव लाने का है। स्वयं का कुछ भी हो, किसी की ओर से हमें हैरान परेशान होने की बारी आये - मानो कि आती हो, तब भी हमारा धर्म तो उनके सम्बन्ध में हृदय में एकमात्र सद्भाव ही फैलाया करे और दूसरा कुछ भी अन्यथारूप से न जागे वही उत्तम ही गिन सके। मन में कहीं कुछ किसी के सम्बन्ध में वैसा होनापन प्रकट होते प्रभु का स्मरण प्रेमभाव से हृदय में हृदय से किया करना है। उसे प्रार्थना करें, उसके चरणकमलों में गोहार लगायें। स्वयं जागृत बनना। जहाँ तहाँ चेतकर ही बरतना, चलना, जीना। यह संसार तो हमें निगल जाये ऐसा है। **संसार में भाव में भाव से जीवित रहकर प्रभु के शरण में सच्चे भाव से और सच्ची तरह से जो जी सकता है, वही सच्चा *नर* है।** सद्भाव बिना का जीवन वह जीवन नहीं है, पर मानो नर्क से गंदा हुआ हो उसके जैसा जीवन है। अनेक **जीव** तो उसमें भी बहुत रमा करते हैं। कितने **जीवों** को लड़ते और झगड़ते देखा है। कैसी कैसी तुच्छता में कितनी हद तक नीचे उतरकर जीवन के दलदल में किलबिलाते रहते होते हैं !

हम से वैसा न हो, संसार का स्वीकार उसमें डूब मरने, प्रवाहित होने, खिंच जाने करने को नहीं होता। उसमें से ऊपर आने के लिए, तैरने के लिए उसका स्वीकार होना चाहिए।

संसार का स्वीकार हमारे आधार को संपूर्ण शुद्ध करने उसमें जो प्रसंग मिलते हैं, उसके लिए है । प्रेमभक्तिज्ञानयोग द्वारा जीवन की भावना विकसित कर करके उसके यंत्ररूप उसकी कृपा से बनकर, उसकी सेवाभक्ति में एकरस और एकरूप हो जाने के लिए संसार का स्वीकार है । जीवन के एक एक कर्म के द्वारा जीवनविकास का भावनापूर्वक का हेतु ज्ञानपूर्वक जीवित रख रख करके, ऐसी जागृति सचेतन रख करके, जीवन की तमन्ना उत्कटरूप से सचेतन प्रकट कर करके, बहुत एकाग्र बल, मरजिया निर्धारण, प्रेमभक्तियुक्त हृदय की संपूर्ण निष्ठा, जीवन में सुलगाने के लिए संसार का स्वीकार है, अशांति से शांति में जाने के लिए है ।

• • •

कुंभकोणम् हरि:ॐ ता. १४-९-१९५३

साधन तब ही काम

जीवन में शांति, प्रसन्नता यह अति महत्त्व की हकीकत है । हमें संसार में रहना है, पर वह रागद्वेष में उलझ जाने के लिए नहीं, रागद्वेष से उबरने के लिए हमें कोई संघर्ष नहीं करना है, पर प्रभुमय जीवन जीने के लिए संघर्ष तो करना है । वैसा जीवन जीने की कला यदि प्रभुकृपा से प्राप्त हो सकी, तो रागद्वेष का बवंदर जीवन में से अपने आप अदृश्य हो सकता है । रागद्वेष और द्वंद्वादि से मुक्ति पाने के लिए **जीव** जो जहमत उठाता है, ऐसी जहमत में जीवन का कल्याण नहीं है ऐसा

कहने का आशय नहीं है, परन्तु वेसे प्रयत्न में जो अदम्य प्रेरणा प्रकट होनी चाहिए, वह प्रकट नहीं होती है ऐसा **इस जीव** को लगा था ।

और जब प्रभुमय जीवनविकास की प्रचंड भावना और वैसी उत्कट जिज्ञासा जीवन में जब प्रकट हुई, तब वैसा जीवन जीने के लिए मनादिकरणों का, तटस्थता और शांतिपूर्वक, गहरे से गहरा पृथक्करण करते करते, वैसा जीवन फलित करने के लिए जो अवरोधरूप लगा, उसे होम कर देने पर उलटा उत्साह प्रकट हुआ था । जीवन में एक उच्च, रम्य, भव्य और दिव्य प्रकार की प्रचंड महत्त्वाकांक्षा प्रकट हो और वैसी महत्त्वाकांक्षा का हेतु जितना अधिक से अधिक उच्च से उच्च हो, उतना हमारे लिए उत्तम है । फिर, महत्त्वाकांक्षा के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर जो स्थिति अनुभव करनी है, उस स्थिति की कुछ समझ और स्पष्टता का ख्याल उस काल के जीवन में भी **इस जीव** में प्रकट हुआ था और उसके लिए जो कड़ा परिश्रम शुरू हुआ, वह 'मन को' द्वारा व्यक्त हुआ है । और जो आदर्श जीवन में प्रभुकृपा से स्वीकार किया था उस आदर्श की थोड़ी छाया 'तुझ चरण में' में है ।

जीवन में क्या क्या होता था और **जीव**प्रकार का कैसा कैसा खड़ा होता था और उसके लिए कैसी कैसी प्रार्थनाएँ हुआ करती इसका स्पष्ट दर्शन 'हृदयपुकार,' 'केशवचरणकमल में' आदि में है । रागद्वेषादि से मुक्ति पाने के लिए जो जहमत करता

है, वह उनके लिए पर्याप्त यथार्थ है, पर **इस जीव** को तो ऐसे आदर्श में संतोष नहीं था । जीवन के रचनात्मकरूप की किसी भी शुद्ध भावना से आचरित हुई प्रवृत्ति को हमारी सहानुभूति, सद्भाव और हृदय मिला करे वह हमारे लिए योग्य प्रकार का है । किसी का कुछ कम यानी कि उतरते प्रकार का या किसी का कुछ उच्च प्रकार का है, ऐसा मानने में हमारा अहम् रहा हुआ है यह स्पष्ट जानना । सब कोई अपनी अपनी कक्षा में योग्यरूप से हैं । जो भी कोई अपनी अपनी योग्यता के अनुसार उनकी योग्यता में प्रकट हो यही यथार्थ है ।

आदर्श अनुसार जीना जानो

नामस्मरण का हेतु ज्ञानपूर्वक हृदय में हृदय से जीवित रहा करे तो ही उसका हेतु सिद्ध हो सके । बाकी खाली नाम लिया करें और भजन-कीर्तन किया करने से कुछ नहीं होगा । मन में मन से तो हम संसार में रमा करते होते हैं और संसार के विचारों में रस प्रकट करते रहें, तो वह नहीं चल सकेगा । वैसे वैसे समय पर चेतकर उससे अलग होने का प्रभुकृपा से हमें प्राणवान प्रयत्न किया करना है । **या तो संसार को भजो, या तो प्रभु को भजो । दूध और दही दोनों में पैर नहीं रख सकते हैं ।** जो रखने जाएगा, वह पछाड़ खायेगा क्योंकि अभी हम **जीव**दशा में हैं । भगवान का पूर्ण भक्त दोनों में समभाव से एकरस रह सकता है । हम यदि जीवन में जीवनविकास की भावना को और समझ को उसकी

संपूर्ण यथार्थता में प्रकट करके, उसकी प्रेरणानुसार जीने का सचमुच चाहते हों, तो जीवन में जिसमें और उसमें जीवन के वैसे हेतु को और उस हेतु की समझ को प्रथम महत्त्व हमें दिया करना रहता है । हम प्रथम किसे महत्त्व देते हैं, उस पर से हमारी मनादि की वृत्ति समझ में आ जाती होती है ।

नदी पार करने के लिए नाव होती है । नाव ली सही, यदि वह वहीं की वहीं ही घूमा करे तो और एक कदम भी आगे न ले जाती हो, तो उसमें नाव का कोई दोष नहीं है । नदी के बहते पानी में यहाँ से वहाँ योग्य ठिकाने नाव को ले जाने के लिए नाव का योग्य उपयोग करने की कला हमें आनी चाहिए । इसलिए संसार में तैरते रह सकें, तो ही संसार में शांति मिल सकती है । तैरते रहने के लिए तो प्रभु के पास से जीवन की भावना से खेला करें, तो वैसा हो सके । बाकी संसार में तो **जीव** सब निरे किलबिलाया करते हैं । **बहुत *जीव* संतमहात्माओं के चरणों में पड़ते हैं, फूलहार चढ़ाते हैं, सिर पर फूल चढ़ाते हैं, उनकी प्रतिमा के आगे धूप, दीप, अगरबत्ती आदि करते हैं, पर उनके वर्तनव्यवहार में उसके प्रति वैसा आदरभाव दिखता नहीं है । इससे उनके ऊपर के भाव का कोई खास अर्थ नहीं है ।** जो भी कुछ किया करें उसका दैनिक व्यवहारवर्तन में ज्ञानभक्तिपूर्वक का हेतु प्राणवान हृदय में हृदय से रहा करना चाहिए, तभी कर्म में भाव, शक्ति, ज्ञान, प्रकट हुआ करते हैं । कर्म में यदि भाव न प्रकट होता

हो और जीवनविकास के हेतु के लिए है, ऐसा ज्ञान उस उस पल न रहता हो, तो वह सब **जीव**दशा की वैसे के वैसी दशा में ही व्याप्त रहेंगे । **इस *जीव* को अमुक *जीव* 'गुरु' मानते हैं, परन्तु उसकी सलाह अनुसार, उसकी सूचना अनुसार और उसकी भावना अनुसार, उसकी जीवन की समझ अनुसार, किसी को भी फर्राटे से वर्तन या चलना नहीं करना है । ऐसा सब देखकर हमारे दिल में किस तरह से फिर आनंद प्रकट हो सके ?**

• • •

कुंभकोणम् हरिः ॐ ता. १७-९-१९५७

भावना से जीवन पा सके

इस संसारव्यवहार में किसी को भी जीवन की पड़ी हुई नहीं है । सब कोई अपनाअपना रोने-धोने से ऊँचे ही आ सकते नहीं । जीवन की जिसे पड़ी है, उसके शहूर और खमीर बिलकुल अलग आये बिना, जुदा लगे बिना रहते नहीं हैं । 'जीवन,' 'जीवन' करने से जीवन नहीं मिल सकता है । उसे तो वैसी भावना से समझ समझकर जीना पड़ता है । ऐसा जीते जीते एक के बाद एक उच्चतर से उच्चतर जीवन के प्रकार की समझ प्रकट होती आती रहती है । **जीवन कुछ एक प्रकार का नहीं है, पर अनंत प्रकार का है । उसकी समग्रता को जो पाता है, वही ज्ञानी-भक्त है ।**

• • •

प्रार्थना-जीवन में तानेबाने की तरह

श्री काकासाहब कालेलकर रचित 'बापु की झाँकी' नाम की पुस्तक पृष्ठ-४२ 'सुबह चार बजे हम प्रार्थना करने को उठे। हाथ-मुँह धोकर के प्रार्थना शुरू करें, उससे पहले बापु ने (गांधीजी ने) मुझे पूछा, रात को सोने से पहले आपने प्रार्थना की थी ? मैंने कहा 'रात को आया तब इतना तो थक गया था कि पड़ा वैसे ही सो गया। प्रार्थना का याद ही न आया। अभी आपने पूछा, तब याद आया कि रात की प्रार्थना तो रह गयी।'

महादेवभाई ने कहा 'मैं भी प्रार्थना किये बिना ही सो गया था। पर आँख मिले उससे पहले याद आया। इसलिए उठकर बिस्तर पर बैठकर ही प्रार्थना कर ली। काका को नहीं जगाया।'

फिर बापू ने कहा, 'मैं घण्टे डेढ़ घण्टे कातने की प्रतिस्पर्धा में बैठा। वहाँ से आया तब इतना थक गया था कि मैं भी प्रार्थना करना भूल गया और ऐसे ही सो गया। दो ढाई बजे आँख खुल गयी तब याद आया कि संध्या की प्रार्थना नहीं की है। मुझे ऐसा तो आघात लगा कि पूरा शरीर काँपने लगा। जिसकी कृपा से जीता हूँ, मेरे जीवन की साधना करता हूँ, उस भगवान को ही भूल गया ! यह कैसी गफलत ! भगवान से क्षमा माँगी, पर तब से निद्रा नहीं आयी। ऐसे के ऐसे ही बस बैठा रहा हूँ।'

एक बार गांधीजी प्रार्थना भूल गये इससे उन्हें कितना गहरा दर्द हुआ था। वह उनकी ऊपर की वाणी से समझ आता है। यद्यपि वे निरन्तर दरिद्रनारायण की एकमात्र सेवा में ही लगातार पिरोये हुए रहा करते थे, जब कि हम तो गले तक संसार के लड़ाई-झगड़े में डूबे रहा करते हैं। और ऐसे हम **जीव** चेतन का अनुभव करने या जीवनविकास के उच्च आदर्श को सिद्ध करने के लिए निकले हैं ! और हमारे वेश तो देखो ! उसे भूल जाने पर इतनी भयंकर वेदना हमें होती है सही ? जिस **जीव** को चेतन का अनुभव करने की महत्त्वाकांक्षा है, ऐसे **जीव** को, गांधीजी की वाणी में प्रार्थना के लिए की वेदनायुक्त जो भावना ऊपर प्रकट हुई है, उतने प्रमाण की जागृति से भी चल सकनेवाला नहीं है। ऐसे **जीव** की प्रार्थना तो पलपल उसके जीवन के तानेबाने में निरन्तर एकसी जीया करती बुन जानी चाहिए, ऐसा हो गया हो, तभी वैसा **जीव** चेतन का अनुभव कर सकने की संभावना की मर्यादा में प्रकट हो सकता है। यह है उसका लक्षण और उसकी यथार्थतावाला माप।

ऐसों की प्रार्थना तो—प्रत्येक उसके दैनिक व्यवहार, वर्तन, संपर्क, संबंध, कर्म, बातचीत, विचार, भाव, वृत्ति - उन उन सभी में उसके हृदय का प्राणवान प्रेमभक्तियुक्त तार तो उसके साथ के अनुसंधान में सतत जुड़ा हुआ रहा करते करते —हुआ करता रहता है, ऐसी है उसकी प्रार्थना की दिलचस्पी।

ऐसी **जीवात्मा** की प्रार्थना में भाषा के व्यक्त शब्द नहीं होते हैं। वह मुँह से निकलती ही नहीं है। उसकी प्रार्थना तो उसका हृदय किया करता रहता है, ऐसी प्रार्थना चेतनाप्रेरक होती है। प्राणपूरक होती है। ऐसी प्रार्थना वह स्वयं ही शक्तिस्वरूप में हो जाती होती है।

पल-पल का स्मरणभाव

हम भले अभी इतने शिखर पर चढ़ न सकें हों पर कभीकभार जो भी कुछ किया करें, वह उसे स्मरण कर करके उसे प्रसन्न करने के लिए जीवंत भावना रख रखके उसकी प्रार्थना का भाव जो भी किया करने में निरन्तर हृदय में हृदय से पिरोया करके किया करना करे, तभी कुछ मिलना हो तो मिले। उसे स्मरण किये बिना एक पल भी हम से गुजरें हों वह हमें अत्यधिक दंशना और सालना चाहिए। यदि ऐसा होता अनुभव हो, तो निश्चित मानें कि किसी दिन अवश्य ही उसे प्राप्त कर सकेंगे। हमें आशा रखनी भी है उच्च से उच्च, और उस प्रकार का आचरण करने का लेशमात्र भी दिल न होता हो, तो जानना और मानना कि हम अभी Fool's Paradise में (कल्पना के स्वर्ग में) बस रहे हैं। हम आदर्श रखें, वह आदर्श और उसकी भावना दैनिक व्यवहारवर्तन में जागते न रहा करे तो निश्चित जानें कि अभी हमें जीवन के आदर्श की कोई पड़ी नहीं है।

आदर्श को अनुभव करने का सच्चा प्रकट स्वरूप अभी जीवन में प्रकट नहीं हुआ है । जिस **जीव** को अपने जीवन का आदर्श सिद्ध करना है, उसे अपने को स्पष्टरूप से निश्चयात्मक रूप से समझ लेने की अत्यधिक जरूरत है । अपनी प्रकृति की दशा किसी भी कक्षा की हो उसमें आपत्ति नहीं है, पर उस दशा में ही पड़ा रहा करके, हम भगवान को भजने की बातें करें, यह तो स्वयं अपने को छलने की हकीकत है । यह मुझे नम्रभाव से, प्रार्थनाभाव से, सब स्वजनों के अंतर के उनके भाव को चेताने, स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ । यदि उठना है, तो उस प्रकार के व्यवहारवर्तन प्रकट होने दो ! उस प्रकार की भावना प्रकटरूप से प्रकट होने दो । आमनेसामने के भाव जीवन में प्रकट हो, उस समय जागृतिपूर्वक का जबरदस्त सामना किया करो ।

उस समय हृदय से उसे प्रार्थना कर करके पुकारा करो, उसके चरणकमल में हृदय की गोहार लगाओ । कैसे भी करके संसार आदि के क्षेत्र के भाव के दलदल में डूबा न करो । वैसे दलदल में हम सब गरक हो जाते हैं, इसका प्रत्यक्ष ज्ञानभान तो, प्रभु कभीकभार हमें उसकी कृपा से करवाता रहता है । जीवन में ऐसा प्रत्यक्ष होने का वह हमें अनुभव कराता है, परन्तु वैसे अनुभव को उस तरह से और उसके हेत्वर्थ के भाव से हम उसका स्वीकार भी नहीं कर सकते हैं । स्वीकार न कर सकें उसकी भी आपत्ति नहीं, परन्तु उलटा उस

समय हम उस पर क्रोध करके उसे नकारते हैं, ऐसे **जीव** का तो क्या होगा ? ऐसा होने पर अनचीता जाग जाने का भी यदि हो सके, और नहींवत् हिलनाडुलना हो और उस अनुसार प्राणवान आचरण हो तो उत्तम । पर वापस वैसे हिलनाडुलने से थे वैसे के वैसे, जहाँ थे वहीं रहना हो, तो वैसे हिलनेडुलने का भी कोई अर्थ न हो ।

सच्ची भावनावाले के लक्षण

स्वयं कैसे हैं और कैसा होना है इसका जिसे तीव्र से तीव्र ज्ञानभान रहता है और वह भावना जिसके दैनिक व्यवहारवर्तन में अमल हुआ करती है, वैसा **जीव** सचमुच सच्ची भावनावाला है ऐसा जानना, समझना और मानना । जिस भावना में प्रमाणिकता है, दृढ़ अटलतायुक्त निश्चयता है, फिर, हृदय की जिसमें मार्दवता है, पका और सच्चा वफादारीपूर्वक लगे रहकर के जिसमें अपने टेक को पूरा करने का हृदय का इरादा है, जिसमें हृदय के आरपार बिलकुल दीखकर अलग तैर आये ऐसी सच्चाई है, ऐसी भावना कभी भी वहाँ की वहाँ नहीं रह सकती है । इस प्रकार के जीवन में प्रकट हुई भावना आधार के प्रत्येक करण के प्राकृतिक धर्म में व्याप्त होती है और उस तरह से फैल फैलकर विस्तार पाती रहती है । इसलिए ही खुल्ला, सरल, नेक हृदय के प्रेमभक्तिभाव से किये हुए आत्मनिवेदन में तो जीवन को पलट डालने की प्रचंड शक्ति रही हुई है यह जानना ।

आदर्श दशा के ख्याल अनुसार अभी बर्ताव करो

प्रत्येक प्रसंग और हकीकत का एक पहलू होता है ऐसा नहीं है, अनेक पहलू होते हैं । इससे उसकी समग्रता का जागृत ख्याल न प्रकट हो सके, वहाँ तक कहीं किसी के बारे में बुद्धि उसकी निर्णयात्मकता में न प्रवेश करे वही उत्तम है । **'अच्छा या खराब' यह तो मात्र मानवी के मन की सीमा का लक्षण है । उससे पर जाने पर उस तरह से किसी का मूल्यांकन टिक नहीं सकता है ।** इसलिए उस स्थिति पर पहुँचने की जिसकी मुराद है, उसे अपनी जो दशा व्याप्त हो उसमें भी ऐसी आदर्श स्थिति को पहुँचने का प्राणवान दृढ़ ख्याल रख करके, उस समय की प्रत्येक परिस्थिति में मन को आदर्श दशा के ख्याल अनुसार विकसित करने की जिज्ञासावृत्ति रखने का प्राणवान भाव रखना चाहिए ।

• • •

कुंभकोणम्　　　　हरिः ॐ　　　　ता. २१-९-१९५३

जगत में सद्भावपूर्वक आचरण करें

हमें जिस मार्ग में जाना ही नहीं है, उसके दृढ़ निश्चयवाला अंतर का भाव यदि पक्का हो गया होता है, उसका जिसके जिसके वैसे भाव के साथ संबंध होता है, वैसे **जीव** को हमारे दृढ़तावाले निर्धारण और उस प्रकार के उसके संदर्भ के हमारे बर्ताव से पीछे हटना होता है । सद्भाव से ही सद्भाव प्रकट होता है । यद्यपि सद्भाव रखें इससे सामनेवाला व्यक्ति भी

सद्भाव रखेगा ही ऐसा नहीं होता है । उदा - महात्मा गांधीजी और कायदे आझम झीनासाहब । गांधीजी सदा ही विवेकी, सद्भाववाले ही रहा करते, परन्तु सामने से वैसे बर्ताव का उत्तर नहीं मिला तो नहीं ही मिला । हमारे हृदय के सद्भाव की पक्की भूमिका का भरोसा हम स्वयं तो किस तरह से दे सकते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति के संदर्भ में हमें स्वयं को आत्मसंतोष आ जाना चाहिए न ? फिर, हम स्वयं अपने उस प्रयत्न में व्याप्त हों । उसका तो ख्याल आ जाना चाहिए न ?

किसी के संदर्भ में सद्भाव हो, इससे सामनेवाले **जीव** के **जीव** प्रकार के भाव को टेका देना ही चाहिए ऐसा कुछ नहीं होता । सद्भाव होने पर भी अयोग्य भाव का सामना हो सकता है । प्रह्लाद, ध्रुव के उदाहरण मौजूद हैं । मीराबाई भी मध्ययुग में हो गई । जगत तो जगत की तरह बर्ताव करे वहाँ तक वह हमारा जो भी सब शायद जाने भी दें । जगत के आचारविचार यही एकमात्र सत्य है, ऐसा कुछ नहीं होता । **जगत की राह पर न चलनेवालों को, चेतन के मार्ग पर चलनेवाले *जीवों* को जगत-समाज ने त्रास देने में, हैरानगति करने में ठीक भाग निभाया है ।** जिस **जीव** ने जैसे जीने का निश्चय किया हुआ है, उस भाव से वह जीने में दृढ़ रहा करेगा, तो अंत में उसे श्रीभगवान कृपामदद करते ही हैं । प्रभु की कृपायाचना की प्रार्थना अपने उस प्रकार के पुरुषार्थ में उसे हृदय से किया करनी रहती है । तो किसी दिन शरारत घुल

जायेगी । हमारा निर्धारण इतना और ऐसा तो निश्चयपूर्वक उसकी कृपा से दृढ़ हो, कि जिससे सामनेवाले **जीव** को उसकी वैसी प्रतीति हुए बिना रह ही नहीं सकती ।

• • •

कुंभकोणम् हरिःॐ ता. २६-९-१९५३

अभिरुचि, भावना, तब शक्ति बनेगी

तुम्हारी अभिरुचि को यदि भावना में प्रकट करके, उस भावना से कर्म ज्ञानभाव से हुआ करे, तो वैसी अभिरुचि जीवित होती है, वैसी अभिरुचि शक्तिरूप में हो जाती है । भावना होने पर भी वैसी भावना मात्र वहाँ की वहाँ रहा करे, तो वैसी भावना जीवन को ऊँचे नहीं ला सकती है । भावना हो तो उस भावना को कर्म में प्रवेश करवाना चाहिए । कर्म का परिणाम और उसकी कक्षा-भावना यदि कर्म में हो और वह हेतु के ज्ञानपूर्वक की हो तो बदलाते रहते हैं । इस प्रकार, **कर्म अति उत्तम कक्षा का होने पर भी, यदि भावना ज्ञानपूर्वक की उत्तम कक्षा की उसमें जीवित न रहा करती हो तो कैसा भी उत्तम कर्म हो, तब भी उसका परिणाम उत्तम प्रकार का प्रकट नहीं हो सकता,** इसलिए कृपा करके भावना का ज्ञानपूर्वक का, उसके हेतु की सभानता से ख्याल रहा करे तो जीवन अपनेआप फलित रहा करेगा । पेटलाद के साथ इस **जीव** के जीवन के कितने सारे और कैसे कैसे स्मरण हैं !

• • •

कुंभकोणम्　　　　　हरि:ॐ　　　　　ता. २८-९-१९५३

कर्म करने का तरीका

तुम पेटलाद से आ गयी होगी । और काम हाथ में लिया हो, उसमें कामयाबी मानो कि न मिले, तब भी उस काम के संदर्भ का उत्साह हृदय में जीवित रखा करना है । हमें तो जहाँ तहाँ से करके काम करना है । काम के परिणाम के साथ कोई निसबत नहीं है । काम करने से और काम करते रहने से परिणाम तो निश्चित है । संकल्प की शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है । आत्मविश्वास प्रकट हुए बिना संकल्पशक्ति जीवित नहीं हो सकती है । इसलिए जो काम हाथ में लें, वह संपूर्ण आत्मविश्वास दृढ़ करके हाथ में लें और पूरा करके ही संतोष मानें । काम करते करते उस काम से कहीं भी रागद्वेष न प्रकट हो, उसकी तो संपूर्ण जीवित चौकीदारी रखा करें । **साधक का प्रत्येक कर्म रागद्वेष कम करनेवाला होना चाहिए, ऐसी जागृति रख करके हमें संसार में बर्ताव करना है ।**

अवगुण या दोष का स्वीकार जैसे उससे पर होने के लिए है, उसी तरह से कर्म का स्वीकार उसमें से रागद्वेषादि की मुक्ति के लिए है । ऐसी भावना से और उस हेतु के ज्ञान से कर्म करते करते उसमें से गुणशक्ति अपनेआप प्रकट होती है । कर्म को सेना जीवनविकास का हेतु फलित करने के लिए है । ऐसे कर्म में हार नहीं और जीत भी नहीं, आशा भी नहीं और निराशा भी नहीं, परन्तु वह वह सब हम से सबंधित है,

क्योंकि उस काम की वैसी वैसी वृत्ति उस कर्म के संदर्भ की हमें रहा करती होती है । इसलिए वृत्ति के कारण हारजीत, आशानिराशा आदि आदि है । इससे काम करते करते उस उसमें प्रकट होती या रहती वृत्ति का मूलच्छेद हमें उड़ा देना रहता है, और उसी तरह हो, उसका नाम साधना है ।

• • •

मद्रास (चेन्नाई) हरिः ॐ ता. ९-१०-१९५३

तुम्हें किसी पत्र में **इस जीव** ने **भाव** का एक अक्षर लिखा नहीं है, वैसे तुम्हें उत्साह पैदा हो ऐसा भी नहीं लिखा है । प्रेमभाव से कुछ उद्दीपन हो ऐसा भी नहीं लिखा है । तब भी तुम्हें **इस** मार्ग संदर्भ का भाव पैदा हो ऐसी भावना प्रतिदिन तुम्हारे संदर्भ में हृदय से प्रभुकृपाबल द्वारा रखी हुई है । इस जीवन के चेतनरूप के अनुभव तो किसी किसी **जीव** को हैं, तब भी वे ऊँचे आये नहीं हैं, इससे जहाँ तक उन उन **जीवों** में प्रत्यक्ष, प्रचंड, धधकती तमन्ना हृदय में जन्म नहीं लेती होती, वहाँ तक दूसरा कुछ भी काम में आता नहीं है । इसलिए वैसी प्रचंड धधकती तमन्ना विकसित करना ।

• • •

मद्रास (चेन्नाई) हरिः ॐ ता. १०-१०-१९५३

.... बहन को जिसे ढंग से समझाना हुआ है, वह योग्य है, पर प्रभुकृपा से एक समय ऐसा आएगा कि जब वह भी अपने स्थान से अवश्य हटेगा । मन की वृत्ति, भावना अलग

तरफ-भिन्न तरफ हो, तो हृदय का भाव साधनमार्ग पर मुड़ने की संभावना नहीं होगी। तुम्हें भी उसमें से सीखना है। साधना का भाव बनाये रखने के लिए प्रभुकृपा से तनतोड़ प्रयत्न न हुए, तो ऐसी तो आंधी आ जायेगी कि उस समय किसी का आसरा हमें मिलनेवाला नहीं है, ऐसे तो टूट जायेंगे कि न पूछो बात। जीवन में निराशा बिना कुछ दूसरा नहीं दिखेगा। **इस जीव** का दोष निकालने का मन अवश्य करायेगा, इसलिए अभी से चेत जाने की चेतावनी देता हूँ। झुकाये बिना इस मार्ग में जीवित नहीं हो सकते हैं। जो भी सब करने का हो उसमें विचारपूर्वक का हेतु दृढ़ करते रहना है। विचार बिना लीक की तरह किया हुआ कर्म चाहा हुआ परिणाम पैदा नहीं कर सकता। इसलिए जिसमें और उसमें हेतु का ज्ञानभान रखा करना है। वह रहा तो सब फलेगा। निद्रा की दुनिया अलग है और जागृत दशा की दुनिया अलग है। निद्रा की दशा में जी करके जागृत दशा की दुनिया को प्राप्त करने की बात करनी वह बिलकुल वाहियात है।

हमें जीवन में तुम उपयोग में आ सको, ऐसी भावना को जीवन में उतारते उतारते सदा ही संसार में उन्नत मस्तक से जीना हुआ करे और उसके साथ साथ अपनी स्थिति का भान प्रकट करके उसकी वास्तविकता समझकर हमें जहाँ जाना है, उसका जीवित भावनापूर्वक का ज्ञान हमारी अभी की दशा में व्याप्त करें, तभी सीख सकेंगे। इसलिए चेतकर और जागते

हुए रहना । जिसके उसके साथ सद्भाव से, सुमेल से और नम्रता से बरतना । इन सभी पत्रों द्वारा हमें तुम्हें जो कहना था, वह कहा हुआ है, परन्तु अधिक महत्त्व का तो यह है कि उन पत्रों द्वारा अपने हृदय का भाव उसमें उड़ेला है, ऐसा इस हृदय में स्वजन विषय का भाव स्वजन के जीवन में प्रकट करने का काम वे वे स्वजन करे ऐसी प्रभु को प्रार्थना है ।

• • •

घाटकोपर (मुंबाई) हरिः ॐ ता. ६-१०-१९५३

लेखक की कोई चेतना की शक्ति

भाई हेमन्तकुमार को परम पूज्य श्रीनानचंद्रजी महाराज के पास 'जीवनसोपान' का हाथ से लिखा हुआ सारा लेख उनको पढ़कर सुनाकर उनकी (महाराजश्री की) प्रस्तावना लेने के लिए जाना हुआ था । वे पहुँचे और एक दिन तो अच्छी तरह पढ़ना हुआ, परन्तु दूसरे दिने गाँव के बाहर शौच जाने का होने पर उनके पढ़ने के चश्मे कहीं गिर गये । पाँच छ दिन तक रोज का लगभग छ घण्टे चश्मे बिना का पढ़ना हुआ । वैसा पढ़ना यानी कि दिन के इतने सारे घण्टे और वह भी पाँचछ दिन तक इस तरह से पढ़ना हुआ, यह एक आश्चर्यकारक घटना थी । चश्मा पहने बिना उन्होंने पढ़कर देखने का प्रयोग करके देखा था, पर ठीक से रास न आया था । केवल नामस्मरण के भाव से या प्रार्थना से सायला में उस तरह से वह सारा लेख पढ़ना हो सका, यह बात यदि सच्ची हो, तो

किसी दूसरे समय में भी वैसे ही साधन से वैसा होना चाहिए, परन्तु सच बात तो यह है कि जिसका लेख था, उसकी किसी चेतना की शक्ति ने उनको प्रेरित करके वह काम करवाया था। इस बात की वे स्वयं ही साक्षी देते हैं।

इसके अलावा, वे मुझ पर के एक पत्र में लिखते हैं, 'हिमालय में केदारबदरी जाने के लिए रोज के दस से ग्यारह मील चढ़ सकने का मुझ से हुआ, वह मेरे जैसे के शरीर की स्थिति से होना कभी संभव न था और अब भी नहीं है। फिर, वहाँ की कडकडाती और शरीर ठंडा हो जाय ऐसी ठंडी में शरीर अच्छी तरह से टिक सका यह बात, मेरे जैसे के लिए एक चमत्कारिक घटना है। हिमालय की यात्रा में चल सकना हुआ और पूरी यात्रा में प्रत्येक स्थान पर जो अचानक, चकित कर दे ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हुई वह किसी की चेतनात्मक शक्ति को आभारी था, उस बारे में मेरे मन में तनिक भी संदेह नहीं है! मेरे जीवन में ऐसे एक दो अकेले कुछ प्रसंग नहीं हैं। ऐसे कितने ही प्रसंगों का वर्णन लिख सकूँ ऐसा हूँ, परन्तु अति दिलगिरी और दुःख की बात तो यह है कि ऐसे प्रसंगों से जीवनविकास के मार्ग में जो उड्डयन की गति प्रकट होनी चाहिए, उसमें अभी पूरी तरह से चेतनात्मकरूप से प्राण प्रकट हुए अनुभव नहीं कर सकता हूँ। बाकी, उपरोक्त प्रसंगों के जैसी चमत्कारिक घटनाएँ मेरे जीवन में हुई, अपने आप अनुभव की हैं।'

ऐसे प्रसंग आँख खोलनेवाले और हृदय को स्पर्श करे ऐसे होने पर भी जीवन चेतनात्मक संपूर्ण होता नहीं है, यह भी एक आश्चर्य की बात है। उसका मूल और सही कारण तो यह है कि अभी हमें उस मार्ग के प्रति सच्ची, वास्तविक और संपूर्ण जिज्ञासा प्रकट नहीं हुई है।

॥ हरिःॐ ॥

॥ हरिःॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन–वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्‌भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हों (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करने, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विचार, प्राण की वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव से पिघले प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति की (२) लहरें उछले.... ॐ शरणचरण.

– मोटा

साधना-मर्म

१. मुख से या मन में जागृत रूप से जप, साथ ही हृदय-प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना के साथ चिंतन सह भावात्मक भाव का रटन ।

२. प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे दोनों का ।

३. साक्षीभाव, जागृति, विचारों की शृंखला न जोड़ें ।

४. हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें, अभ्यस्त हो, अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति को व्यवस्थित करें।

५. आग्रह प्रभु-चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें, नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।

६. बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ हो आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करें, भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें, उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें, मन में कुछ भी विचार न आने दें।

७. जो भी कार्य करें प्रभु के हैं समझकर करें -जरा भी संकोच किए बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें । प्रत्येक प्रसंग, घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने विकास के लिए है । प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ शुभ संकेत छिपा है ।

८. आत्मलक्षी-अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बूझकर अपने आपको न उलझने दें ।

९. अन्य की सेवा ही प्रभु सेवा समझें, सेवा लेनेवाले, सेवा देनेवाले पर, सेवा करने का अवसर देकर उपकार करते हैं । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ मेरा-मेरा कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?

१०. प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर करें । पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरण धारणाओं का अभ्यास करते रहें ।

११. वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें । उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें ।

१२. प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रम्यता, विशुद्धता आदि प्रभु के वरदानों में रहे भाव उसके अनुरूप भाव का हमारे में अवतरण हो ऐसी प्रार्थना करें ।

१३. उमंग, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही न जाने दें, साथ ही उसमें डूब भी न जाएँ । उसका साधना में उपयोग करें, तटस्थता बनाए रखें ।
१४. खाते और पानी पीते हुए जीवन में चेतन शक्ति का तन्मय भाव से प्रार्थना करें, शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय विकारों, कमजोरियों इत्यादि का विसर्जन के भाव से प्रार्थना करें ।
१५. स्थूलता को त्यागकर सूक्ष्म तत्त्व को ध्यान में रखें । वृत्ति की शुद्धि करें, भाव की वृद्धि करें ।
१६. प्रभु सचराचर है । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखें ।
१७. प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को ही देखें । किसी के भी काजी न बनें, किसी को भी जल्दी से अभिप्राय न दें, वाद विवाद न करें, अपना आग्रह न रखें, दूसरों के शुभ उद्देश्य में मदद करें, मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रगट करें, अत्यधिक प्रेमभाव बनाए रखें, प्रकृति का रूपान्तर करना है, प्रकृतिवश सहज न होनेवाले कर्मों को नजरअंदाज कर आगे बढ़ें, फल की आसक्ति त्यागें, स्वयं पर होते अन्यायों, आ पड़ती कठिनाइयों आदि का मूल हम में ही है, ऐसा दृढ़तापूर्वक मानें, गुरु में प्रेम भक्तिभाव को बनाते रहें, तटस्थता, समता और समर्पण के त्रिवेणी संगम को नित्य बनाए रखें, सदा प्रसन्नता बनाए रखें, कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारें, प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति बनाए रखें, मन को निःस्पंद करें, रागद्वेष निर्मूल करने की जागृति सदैव रखें, आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के जीवन में आचरण में लावें, कहीं भी किसी भी दायित्व से भागें नहीं, जो भी प्रभु-इच्छा से प्राप्त हो उसे प्रभु-प्रसाद समझ कर प्रसन्नता से लें । कहीं भी किसी से तुलना या ईर्ष्या न करें, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति यह मन का भ्रम है, जीवन-साधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है, प्रभुमय—उनके मूक यंत्र—होने की एक तमन्ना जीवन में बनाए रखें ।
१८. कर्म में, कर्म का महत्त्व नहीं है, परन्तु जीवन के भाव का सतत एक समान, सजग चिंतन रहा करे, यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है । ऐसा सजग अध्ययन कर्म करते हुए प्रत्येक क्षण में बनाए रखें ।

-श्रीमोटा

॥ हरिःॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म	:	ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी, वि. सं. १९५४
स्थान	:	सावली, जिला वडोदरा (गुजरात)
नाम	:	चूनीलाल ।
माता	:	सूरजबा ।
पिता	:	आशाराम ।
जाति	:	भावसार ।
उपनाम	:	भगत ।
१९०३	:	कालोल में निवास, गरीबी का आरंभ ।
१९०६	:	मजूरी के काम ।
१९१५	:	तौला की नौकरी ।
१९१६	:	पिता की मृत्यु ।
१९०५ से १९१८	:	टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी ।
१९१९	:	मैट्रिक उत्तीर्ण ।
१९१९-२०	:	वडोदरा कॉलेज में ।
दि. ६-४-१९२१	:	कॉलेज का त्याग ।
१९२१	:	गुजरात विद्यापीठ में ।
१९२१	:	विद्यापीठ का त्याग । हरिजन सेवा का आरंभ ।
१९२२	:	मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की चट्टान से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिःॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग । श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा । श्रीसद्‌गुरु केशवानंद धूनीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए। रात्रि को श्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा ।

१९२३	:	'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना ।
१९२४	:	डाकोर में श्रीनथ्थुराम (मगरमच्छ) से मिलन, हिमालय की प्रथम यात्रा ।
१९२६	:	विवाहहस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव । हरिद्वार कुंभमेले में श्रीबालयोगीजी की तलाश ।
१९२७ (मार्च)	:	हरिजन आश्रम, बोदाल में सर्पदंश* -परिणाम स्वरूप 'हरिः ॐ' जप अखंड हुआ ।
१९२८	:	'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
१९२८	:	दूसरी हिमालय-यात्रा ।
१९२८	:	साकुरी के पूज्य श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकुरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में भूख-तरस, सख्त पत्थर-मार सहन करते दस-ग्यारह दिन ध्यान, समाधि अवस्था में ।
१९३०	:	मन की नीरवता का साक्षात्कार ।
१९३० से ३२	:	इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में । हेतु देशसेवा का नहीं, साधना का । कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा—'जीवनगीता' ।
१९३३	:	तीसरी हिमालययात्रा । बर्फ में रहते महात्मा मिले ।
१९३४	:	सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार । मल-मूत्र के आधार पर पचीस दिन की साधना ।
१९३४ से १९३९	:	दौरान हिमालय में अघोरीबाबा की मुलाकात बाद

* 'जीवनआरंभ' पत्र ता. २६-३-१९५१

में नर्मदा धुंआँधार के प्रपात के पीछे की गुफा में साधना। चैत्र मास में ६३ धूनियाँ जलाकर नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना। कराची में नर्कचतुर्दशी की रात्रि को समुद्र में शिला पर ध्यान, चालीस दिन के रोजे, 'समुद्र में चले जाने का हुक्म और ईद के दिन पूरे शहर में नग्न अवस्था में घूमकर घर जाने सांईबाबा का हुक्म। शिरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन—आदेश—साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन।

१९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी विक्रम संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार। हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र। 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन।

१९४० : दि. ९-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराची जाने का गूढ़ आदेश।

१९४२ : माता का अवसान।

१९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबाई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार—देहातीत अवस्था के प्रमाण।

१९४३ : २४, फरवरी गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन। नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव।

१९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्भुत घटनाएँ।

१९४६ : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीराकुटिर में मौनएकांत का आरंभ।

१९४७ : आश्रम स्थापने का विचार।

१९५० : दक्षिण भारत के कुंभकोणम् (तामिलनाडु) में

		कावेरी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की स्थापना । (सन १९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया ।)
१९५४	:	सूरत तापी नदी के किनारे कुरुक्षेत्र, जहाँगीरपुरा के श्मशान में मौनएकांत का आरंभ ।
१९५५	:	दि. २८-५-५५ : जूना बिलोदरा, शेढी नदी के किनारे, नडियाद, गुजरात, हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५६	:	दि. २३-४-५६ सूरत (गुजरात) तापी नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र, जहाँगीरपुरा में हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५९	:	१६-८-१९५९ हरि:ॐ आश्रम, सूरत में मौनमंदिर का उद्‌घाटन ।
१९६२	:	समाजोत्थान की प्रवृत्ति, उत्सव मनाने की संमति ।
१९७० से १९७५	:	शरीर में पीडाकारी वेदना के साथ सतत प्रवास, वार्तालाप और साधना का इतिहास, श्रद्धा, निमित्त, रागद्वेष, कृपा आदि भाववाही विषयों पर लेखन - प्रकाशन ।
१९७६	:	१९-७-१९७६ देहत्याग का संकल्प, हरि:ॐ आश्रम, नडियाद । २२-७-१९७६ देहत्याग विधि का प्रारंभ : सायंकाल ४ बजे से फाजलपुर (जि. वडोदरा, गुजरात) मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस में ।
२३-७-१९७६	:	देहविसर्जन : श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस नजदिक मही नदी के किनारे फालजपुर (जि. वडोदरा, गुजरात)

● ● ●

हरि:ॐ आश्रम सूरत में उपलब्ध हिंदी पुस्तकों का लिस्ट

क्रम	पुस्तक	प्र. आ.
१.	पूज्य श्रीमोटा एक संत	१९९७
२.	कैंसर का प्रतिकार	२००८
३.	सुख का मार्ग	२००८
४.	दुर्लभ मानवदेह	२००९
५.	प्रसादी	२००९
६.	नामस्मरण	२०१०
७.	हरि:ॐ आश्रम (श्रीभगवान के अनुभव का स्थान)	२०१०
८.	श्रीमोटा के साथ वार्तालाप	२०१२
९.	विवाह हो मंगलम्	२०१२
१०.	बालकों के **मोटा**	२०१२
११.	विद्यार्थी **मोटा** का पुरुषार्थ	२०१२
१२.	मौनमंदिर का मर्म	२०१३
१३.	मौनमंदिर का हरिद्वार	२०१३
१४.	मौनएकांत की पगडंडी पर	२०१३
१५.	मौनमंदिर में प्रभु	२०१४

●

English books available at Hariom Ashram, Surat.
January - 2020

No.	Book	F. E.
1.	At Thy Lotus Feet	1948
2.	To The Mind	1950
3.	Life's Struggle	1955
4.	The Fragrance Of A Saint	1982
5.	Vision of Life - Eternal	1990
6.	Bhava	1991
7.	Nimitta	2005
8.	Self-Interest	2005
9.	Inquisitiveness	2006
10.	Shri Mota	2007
11.	Rites and Rituals	2007
12.	Naamsmaran	2008
13.	Mota for Children	2008
14.	Against Cancer	2008
15.	Faith	2010
16.	Shri Sadguru	2010
17.	Human To Divine	2010
18.	Prasadi	2011
19.	Grace	2012
20.	I Bow At Thy Feet	2013
21.	Attachment And Aversion	2015
22.	The Undending Odyssey (My Experience of Sadguru Sri Mota's Grace)	2019
23.	Pujya Shri Mota Glimpses of a divine life (Picture Book)	2020
24.	Genuine Happiness	2021

●

बाद में व्यर्थ पछताओगे

एक समय ऐसा भी आयेगा कि जिस समय ऐसे सब स्वजन पछतायेंगे कि, 'प्राप्त पुरुष की हमने अवगणना की । उसका योग्य साथ न रख सके । हमने जिस हेतु से उसे स्वीकार करने का किया, उसके लिए योग्य उपयोग करने का हमें सूझा ही नहीं ! हाय ! हाय कैसे हतभागी ! उसे हम पूर्ण रुप से समझ भी नहीं सके ! वह था तो पास के पास पर उसे सच्चा और पूरा देखा भी नहीं, तो अनुभव तो कहाँ से कर सकते हैं ? ऐसा कुछ कुछ स्वजनों को अवश्य होनेवाला है, यह निश्चित मानना । उस समय जो पछतावा होगा उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा । जो कोई **जीवित** को मानता नहीं है या मान नहीं सके हैं, वह उसके जाने के बाद उसे क्या मान सकने के हैं ? राम राम करो ।

– **श्रीमोटा**

'जीवनपुकार',
प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७४